संस्कृत व्याकरण

(Sanskrit Grammar)

MUNSHI RAM MANOHAR LAL
Oriental & Foreign Book-Sellers.
P. B. 1165 Nai Sarak, DELHI-6

संस्कृत व्याकरण

(Sanskrit Grammar)

प्रथम भाग

लेखक : डब्ल्यू० डी० ह्विटने

अनुवादक : डॉ० मुनीश्वर झा

53770

उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी

ल ख न ऊ

MUNSHI RAM MANOHAR LA.
Oriental & Foreign Book-Sellers
P. B. 1165, N i Sarak. DELHI-6

© प्रकाशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
लखनऊ

Acc. No. 53710
Date 18-5-74
Call No. Sa 4V
Whi/Jha

प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशन संस्थान मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली द्वारा प्रकाशित श्री डब्ल्यू० डी० ह्विटने की अंग्रेजी पुस्तक Sanskrit Grammar द्वितीय संस्करण सन् १९६९ का हिन्दी अनुवाद।

प्रथम संस्करण
१९७१

मूल्य 14 00

मुद्रक
जीवन-शिक्षा, मुद्रणालय
गोलघर, वाराणसी

प्रस्तावना

शिक्षा आयोग (१९६४-६६) की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने १९६८ में शिक्षा सम्बन्धी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और १८ जनवरी, १९६८ को संसद के दोनों सदनों द्वारा इस सम्बन्ध में एक संकल्प पारित किया गया। उस संकल्प के अनुपालन में शिक्षा एवं युवक-सेवा-मंत्रालय भारत सरकार ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विश्व-विद्यालय-स्तरीय पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चय किया। उस कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार की शत-प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रन्थ अकादमी की स्थापना की गयी। इस राज्य में भी विश्वविद्यालय स्तर की प्रामाणिक पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने के लिए हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना ७ जनवरी, १९७० को की गयी।

२—प्रामाणिक ग्रन्थ-निर्माण की योजना के अन्तर्गत यह अकादमी विश्व-विद्यालय स्तरीय विदेशी भाषाओं की पाठ्य-पुस्तकों को हिन्दी में अनूदित करा रही है और अनेक विषयों में मौलिक पुस्तकों की भी रचना करा रही है। प्रकाश्य ग्रन्थों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

३—उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत वे पांडुलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित करायी जा रही हैं जो भारत सरकार की मानक ग्रन्थ-योजना के अन्तर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अभिकरणों द्वारा तैयार की गयी थीं।

४—प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अन्तर्गत इस अकादमी द्वारा मुद्रित करायी गयी है। इसका अनुवाद **डा० मुनीश्वर झा** ने किया है और इसका विषय-संपादन **प्रो० पी० एन० पट्टाभिराम शास्त्री** द्वारा किया गया है। इस सहयोग के लिए उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी उनका आभार मानती है।

५—मुझे आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और इसका स्वागत अखिल भारतीय स्तर पर न केवल विद्यार्थियों वरन् शिक्षकों द्वारा भी होगा। उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए हिन्दी में मानक ग्रन्थों के अभाव की बात कही जाती रही है। इस योजना से इस अभाव की पूर्ति होगी और शिक्षा का माध्यम हिन्दी में परिवर्तित हो सकेगा।

अध्यक्ष

उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्च कोटि के प्रामाणिक ग्रंथ अधिक-से-अधिक संख्या में तैयार किये जायँ। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ में सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनायी है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रन्थों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य-सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से प्रारम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करा रहा है, प्रसिद्ध विद्वान और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शिक्षा-संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

'संस्कृत व्याकरण' नामक पुस्तक आयोग द्वारा प्रस्तुत की जा रही है, इसके मूल लेखक श्री डब्ल्यू० डी० ह्विटने और अनुवादक डा० मुनीश्वर झा हैं। आशा है, भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थों के प्रकाशन सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

जी० जे० सोमयाजी
अध्यक्ष
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

नई दिल्ली,

प्राक्कथन

प्रथम संस्करण

जून १८७५ में एक या दो दिनों के लिए लिप्जीग में रहने का अवसर जब मुझे मिला, तो ब्रीटकाप्फ और हार्टेल महोदयों द्वारा आयोजित भारत-यूरोपीय पुस्तक-माला में संस्कृत व्याकरण की रचना प्रस्तुत करने के लिए अप्रत्याशित ढंग से मुझे आमन्त्रण मिला। थोड़े चिन्तन के बाद और मित्रों से विचार-विमर्श करने के बाद मैंने भार स्वीकार किया, और तबसे नियमित कार्यों का सम्पादन कर अवशिष्ट समय को, पूर्व स्वीकृत दायित्वों को सँभालकर, मैंने इसमें लगाया है। यों तो विलम्ब दीर्घकालिक प्रतीत होता है, पर यह अपरिहार्य्य था, तथा मैंने जान-बूझकर प्रस्तुत ग्रन्थ के हित में इसे और भी अधिक अर्से का बनाया है। इस प्रकार की प्रत्येक स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि वर्तमान परमावश्यकता की समुचित पूर्ति तथा अधिक समय लेकर विषय के प्रति अपेक्षाकृत पूर्णतर न्याय, दोनों में समन्वय किया जाय, और यह जान पड़ा कि तात्कालिक व्यवहृत पुस्तकों में—जिनमें कुछ अनेक दृष्टियों से उत्तम कोटि की हैं—यत्किञ्चित् भिन्न स्तर पर संस्कृत व्याकरण की रचना प्रस्तावित ग्रन्थ का अविलम्ब प्रणयन लेकर अपेक्षित थी।

इस व्याकरण के प्रस्तुतीकरण में निम्नलिखित उद्देश्य विशेष रूप से ध्यान में रहे हैं :—

(१) मुख्य रूप से भाषा के तथ्यों को उपस्थित करना, जिस प्रकार साहित्य में ये स्वतः प्रयुक्त देखे जाते हैं, तथा गौण रूप से जैसा कि ये देशी वैयाकरणों द्वारा रखे गये हैं। प्राचीनतम यूरोपीय व्याकरण विषय के प्रयोजन के चलते अपने देशी पूर्ववर्तियों पर मुख्यतः आधृत हैं और इस प्रकार एक पारम्परिक प्रणाली बन गयी है जिसका पालन स्पष्टता और समानुपातिकता की-एवं वैज्ञानिक तथ्य को भुलाकर प्रायः-यत्किञ्चित् पूरी तत्परता से हुआ है। फलतः, भारतीय संम्प्रदायों के व्याकरण शास्त्र के गम्भीरतर अध्ययन के प्रति मेरा ध्यान नहीं गया है : इनके नियमों को मैंने पाश्चात्य शिक्षार्थियों के लिए उपलब्ध पाश्चात्य व्याकरणों के अनुरूप रखा है।

(२) उपस्थापन में प्राचीनतर भाषा के रूपों और रचनाओं को, जिस प्रकार वेद और ब्राह्मणों में प्राप्त हैं, सम्मिलित करना भी। ग्रासमैन वाला

ऋग्वेद की उत्तम शब्दानुक्रमणी और अथर्ववेद लेकर मेरी अपनी पाण्डुलिपि से (जिसे शीघ्र प्रकाशित करने की आशा मैं करता हूँ)[1] वैदिक सामग्री का विपुल अंश पूर्ण विस्तार के साथ मुझे उपलब्ध हुआ है, और जिसको मैंने छात्रों और मित्रों के अल्प सहयोग लेकर अन्य वैदिक ग्रन्थों और ब्राह्मण काल की विभिन्न पुस्तकों से, मुद्रित और हस्तलिखित दोनों ही, यथासम्भव पूर्ण करने का प्रयत्न किया है।

(३) भाषा को सर्वत्र स्वरयुक्त जैसा मानना। संस्कृत स्वराघात की प्रकृति, संयोग और रूप-विधान लेकर उसके परिवर्तन और शब्दविशेषों का सुर, उनके सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञात है, उसके किसी अंश को यहाँ नहीं छोड़ा गया है—इन सबमें प्राचीनतर स्वचिह्नित ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित तथ्य को विशेष रूप से आधार बनाया गया है।

(४) सभी उल्लेखों, वर्गीकरणों तथा अन्य विवरणों को भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों के संगत रूप में ढालना। इस प्रक्रिया में संस्कृत व्याकरण के चिरप्रयुक्त और सुपरिचित वर्गों और शब्दों के कुछ का परित्याग आवश्यक हो गया है—उदाहरणार्थ,—"विशिष्ट कालों" और "सामान्य कालों" के नामकरण और वर्गीकरण (जो इतना अप्रामाणिक है कि इसके इतने दिनों तक सुरक्षित रहने पर किसी को आश्चर्य मात्र हो सकता है), धातुरूप गणों के क्रम और पारिभाषिक शब्द विधान, पदमध्य और पदान्त सन्धि के तथ्यों के निरूपण में पृथक्करण, इत्यादि। किन्तु प्राचीन से नवीन में संक्रमण को सहज उपस्थित करने का प्रयास रखा गया है, और ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये परिवर्तन बिना शर्त स्वीकृत होंगे। साथ ही, भाषा की प्रकृति के परिबोध के लिए इसके तथ्यों को नियत रूप में रखकर प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से देशी व्याकरण विशेषतः त्रुटिपूर्ण और भ्रामक हैं।

भाषा के शिक्षार्थी की व्यावहारिक आवश्यकताओं की ओर नियमतः ध्यान रखा गया है, और अपेक्षित विन्यास द्वारा और छापे की विभिन्न आकृतियों के प्रयोग द्वारा ऐसा प्रयास किया गया है कि पुस्तक उसके लिए उपादेय हो, जिसका उद्देश्य मात्र श्रेण्य संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करना है, क्योंकि वे ऐसे हैं जिनमें प्राचीनतर रूप सम्मिलित नहीं हैं। यूरोपीय वर्णमाला में सभी संस्कृत शब्दों के लिप्यन्तरण की विधि, जो यूरोपीय संस्कृत व्याकरणों में सामान्य हो गयी है, वस्तुतः सर्वत्र रखी गयी है, साथ ही, यूरोपीय बड़े छापे से भिन्न अन्य किसी

१—१८८१ में यह अमेरिकी प्राच्य समिति के १२ खण्ड के रूप में प्रकाशित की गयी।

द्वारा संस्कृत के छोटे छापे को प्रस्तुत करने की कठिनाई के चलते यह लघुतर आकृतियों में ही प्रयुक्त है ।

जबकि भाषा के तत्त्वों का निरूपण इस प्रकार ऐतिहासिक बनाया गया है, भाषा की ही सीमाओं के अन्तर्गत मैंने अन्य संबद्ध भाषाओं के तुल्य रूपों और प्रक्रियाओं द्वारा इसे तुलनात्मक बनाने का साहस नहीं किया है । ऐसा करना, यहाँ प्रयासीकृत से विशेष, ग्रन्थ को वस्तु और निर्माणकाल दोनों ही दृष्टियों से इसकी निर्धारित सीमाओं से अधिक दूर विस्तारित कर देता । इसलिए इस अंश को छोड़ने का निश्चय कर मैंने सर्वत्र नियमित रूप से ऐसा ध्यान रखा है । इसी कारण तथा अन्य कारणों से रूपों की उत्पत्तिमूलक व्याख्याएँ भी छोड़ दी गयी हैं जिनका उल्लेख प्रायः ही अपेक्षित है ।

वस्तुतः व्याकरण अधिकांश रूप में अपने पूर्ववर्तियों पर आधृत होता है, और अन्य विद्वानों से प्राप्त सभी सहयोगों के विस्तृत उल्लेख की चेष्टा करना सारहीन होगा । किलहॉर्न की अत्यधिक विद्वत्पूर्ण और प्रामाणिक संक्षिप्त संचय, मोनीयर विलियम्स का पूर्ण और उत्तम ग्रन्थ, बॉप का लघुतर व्याकरण (शिक्षण और विधि का एक आश्चर्य रूप, जिस समय यह प्रस्तुत किया गया था) तथा बेनफे और मूलर के ग्रन्थ, इन सबों का उपयोग मैंने सर्वत्र किया है । जहाँ तक भाषा की सामग्री का प्रश्न है, वहाँ वस्तुतः बौटलिंक और रॉथ के बृहत् पीटर्सबर्ग कोष से अधिक सहयोग अन्यत्र संभव नहीं हुआ है, जो कोष संस्कृत भाषा लेकर सभी जिज्ञासाओं को नया स्वरूप देता है । जो कुछ मैंने उसमें अथवा मेरे द्वारा या मेरे लिए अन्य व्यक्तियों द्वारा बनाये विशिष्ट संग्रहों में नहीं पाया है, उसे मैंने प्रस्तुत पुस्तक में 'अनुद्धरणीय' कहा है—यह एक ऐसी सामयिक संज्ञा है जो भविष्य शोधों के परिणामस्वरूप सविस्तार सहज संशोधनीय होगी । जहाँ तक क्रिया का, उसके रूपों और उनके वर्गीकरण और प्रयोगों का संबन्ध है, मुझे, जैसा कि किसी को हो सकता था, डेलब्रुक से उसके अल्टीन्डिशेस् भेर्बुम् और उसके विभिन्न वाक्य-विन्यासविषयक निबन्धों को लेकर सर्वाधिक सहयोग प्राप्त हुआ है । प्रोफेसर अमेरी और एडग्रेन मेरे अपने ही पुरातन छात्रों ने भी इसमें तथा अन्य विषयों में मुझे सहायता दी है, इस रूप और परिमाण में कि उसकी सार्वजनिक आभारोक्ति अपेक्षित है । पूर्वतम भाषा के शब्दरूप लेकर महत्त्वपूर्ण वस्तुविवेचन में मैंने अपने प्राक्तन छात्र प्रोफेसर लैन्मैन्न के अमेरिकी प्राच्य समिति की पत्रिका में प्रकाशित विस्तृत निबन्ध का (इसी ग्रन्थ के समकाल प्रकाशित, तथा विषय के अन्त तक प्रायः, किन्तु नित्य रूप से नहीं, मेरे द्वारा प्रयुक्त) प्रचुर उपयोग किया है, इस विषय में मेरा

निरूपण उसी पर आधृत है। अपने अध्यापक, बर्लिन के वेबर, के प्रति मेरे अनेक आभारों का ज्ञापन भी अपेक्षित है—उनके अन्य अनुग्रहों के साथ मैं ब्राह्मणकाल के कुछ अप्रकाशित ग्रन्थों की उनके द्वारा बनायी गयी प्रतिलिपियों के, जो अन्यथा मेरे लिए अलभ्य होतीं, उपयोग के लिए उनका ऋणी हूँ, और उनकी बड़ी कृपा थी कि उन्होंने मेरे ग्रन्थ को इसकी अपरिपक्व स्थिति में मेरे साथ देखा और मूल्यवान सुझावों से मुझे अनुगृहीत किया। इस अन्तिम अनुग्रह के लिए मैं प्रो० डेलब्रूक को समानरूप से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने व्याकरण के प्रूफ पन्नों को जब कभी प्रेस से उपलब्ध होते थे, उसी उद्देश्य से देखने का कष्ट उठाया है। महत्त्वपूर्ण मैत्रायणी-संहिता[1] (दुर्भाग्यवश अत्यन्त अपूर्ण) की जो कुछ सहायता मैंने ली है, उसके लिए डा० एल० फोन श्रोदर का ऋणी हूँ।

अपने ग्रन्थ की त्रुटियों के विषय में, मैं समझता हूँ, किसी भी आलोचक, चाहे कठोर से कठोर भी, की अपेक्षा मैं कम सचेत नहीं हूँ। यदि कहीं अभीष्ट लक्ष्य लेकर अन्य संस्करण का सुयोग हुआ, तो मेरा प्रयास इसको परिमार्जित और परिपूर्ण करना होगा, और किसी प्रकार की शुद्धियों या सुझावों के लिए, जिनसे संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन में इसे अधिक उपयुक्त साधन बनाने का सुयोग मुझे मिलेगा, मैं कृतज्ञ बना रहूँगा।

गोठा, जुलाई १८७९।

डब्ल्यू० डी० डब्ल्यू०

१—अब उनके द्वारा पूर्ण रूप में प्रकाशित, १८८१-६

प्राक्कथन

द्वितीय संस्करण

इस व्याकरण के नवीन संस्करण को प्रस्तुत करने में मैंने मध्यवर्ती वर्षों में अपने द्वारा संगृहीत नवीन सामग्री[1] का, और साथ ही दूसरों द्वारा संगृहीत[2] जहाँ तक मुझे उपलब्ध हो सकी और मेरे प्रयोजन का अनुरूप बन पड़ी, उपयोग किया है, तथा विभिन्न दिशाओं से अनुकूल सुझावों का लाभ मुझे प्राप्त हुआ है, जिनके लिए मैं कृतज्ञतापूर्ण आभार ज्ञापन करना चाहता हूँ। इस प्रकार की सहायता से प्रथम संस्करण की कुछ त्रुटियों और अभावों को शोधित और स्थापित करने में ही मैं संबद्ध कतिपय विषयों को अधिक स्पष्टता के साथ उद्घाटित कर सका हूँ।

विभिन्न विद्वानों द्वारा ग्रन्थ लेकर दिये गये निर्देशों की प्रयोज्यता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए इसका प्रच्छेदन सर्वत्र अपरिवर्तित रखा गया है, अग्रिम निर्देश की अधिक सुविधा के लिए परिच्छेदों के उपविभाग वर्णों द्वारा (यदा-कदा पूर्व वर्णाङ्कण को परिवर्तित कर) अधिक पूर्ण रूप से निर्धारित किये गये हैं, तथा परिच्छेद संख्याएँ ऊपरी हाशिये के भीतरी किनारे के बजाय बाहरी किनारे में रखी गयी हैं।

प्रकाशन के स्थान से मेरी दूरता के चलते एक से अधिक प्रूफों को देखना मेरे लिए संभव नहीं हुआ है, किन्तु मेरा विश्वास है कि मेरे संशोधन में अपने संशोधन को (अन्य उपयोगी सुझावों के साथ) युक्त कर प्रो० लैन्मन्न की सदयता और मुद्रकों की सतर्कता के चलते मुद्रणालय की कुछ त्रुटियों द्वारा विरूप प्राप्त पाठ को संरक्षित करने में सहायता मिलेगी।

मेरे वश के बाहर की कुछ परिस्थितियों के चलते इस संशोधन की पूर्ति में एक या दो वर्षों का विलम्ब हो गया है, तथा कुछ अंशों में जितनी मेरी इच्छा थी, उससे कम यह अपूर्ण रह गया है।

न्यू-हैभेन, सेप्टे० १८८८ — डब्ल्यू० डी० डब्ल्यू०।

१—१८८५ में इस नवीन सामग्री का एक अंश मेरे द्वारा व्याकरण के परिशिष्ट के रूप में 'संस्कृत भाषा की धातुएँ, क्रियारूप और मूल शब्द' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है।

२—विशेष रूप से उल्लेखनीय है हाल्त्समैन्न का 'महाभारत से वस्तुसंग्रह', वह भी (१८८४ में) इस ग्रन्थ के पूरक के रूप में प्रकाशित हुआ है, साथ ही बौटलिंक का 'रामायण के वृहत्तर अर्थ' से समान संग्रह।

भूमिका

भारतीय साहित्य का संक्षिप्त विवरण

यहाँ भारतीय साहित्य के इतिहास की ऐसी रूपरेखा प्रस्तुत करना अपेक्षित प्रतीत होता है जो प्रस्तूयमान व्याकरण में वर्णित भाषा के विभिन्न काल खण्डों और रूपों का एक दूसरे के साथ संबन्ध, और सन्दर्भ में उद्धृत कृतियों की अवस्थिति ज्ञापित करे।

"संस्कृत" संज्ञा (**संस्कृत,** १०८७ ई०, अलंकृत, विस्तारित, परिपूर्णीकृत), जो सामान्यतः भारत की समग्र प्राचीन और धार्मिक भाषा के लिए प्रयुक्त है, अधिक उपयुक्तता के साथ उसी विभाषा की है, जो स्वदेशी वैयाकरणों के परिश्रम से संस्थापित और व्यवस्थित होकर, अधिकतम समान कालखण्ड के अन्तराल में यूरोप में लैटिन के समान ही, शिक्षित और पुरोहित जाति के लिखित और भाषित विनिमय-माध्यम के रूप में गत दो सहस्र वर्षों या अधिक से कृत्रिम जीवन जीती रही है; तथा जो वर्तमान काल में भी वही कार्य कर रही है। इस प्रकार एक ओर तो वह परवर्ती और व्युत्पन्न विभाषाओं से भिन्न है, उन विभाषाओं से, यथा प्राकृत, भाषा के वे रूप जिनकी तिथि निर्धार्य्य कृतियाँ ईसा पूर्व तीसरी सदी से प्राप्त हैं, और जो शिलालेखों तथा मुद्राओं से, संस्कृत रूपकों (द्रष्टव्य नीचे) में अशिक्षित पात्रों की वाणी से और सीमित साहित्य से निरूपित हैं; पालि, एक प्राकृत विभाषा जो बृहत्तर भारत में बुद्धवाद की धार्मिक भाषा बनी, और जो अब भी उसी प्रकार व्यवहृत है, और पुनः परवर्ती और परिवर्तित बोलियाँ जो आधुनिक भारत की भाषाओं का संक्रमण रूपायित करती हैं; तथा दूसरी ओर वह प्राचीनतर विभाषाओं से, अथवा आचार-साहित्य, वेद और ब्राह्मण, में प्रस्तुत भाषा के रूपों से अपेक्षाकृत न्यून विलक्षणता और विस्तृतता के साथ भिन्न होती है।

अभिव्यक्ति के प्रामाणिक रूप के प्राज्ञ विवरण द्वारा स्थिरीकरण का यह तथ्य, जो अब से शिक्षित वर्ग के वाग्व्यवहार में नियमानुरूप प्रयुक्त होना चाहिए, भारतीय भाषाशास्त्री इतिहास में मौलिक है, और स्वदेशी व्याकरणिक साहित्य ने जिस तरह भाषारूप निर्धारित किया है, उसी तरह उसने बहुत अंशों में यूरोपीय विद्वानों द्वारा व्याकरण-विधान को भी निश्चित किया है।

प्राज्ञ-गतिविधि के इतिहास का बहुलांश अस्पष्ट है, और प्राथमिक परिणाम से संबद्ध विधेयों को लेकर भी मत विभिन्न हैं। व्याकरण-विज्ञान के विकास की अन्तिम कृतियाँ ही हमें सुरक्षित रूप में प्राप्त हैं; और यद्यपि वे स्पष्टतः प्राज्ञश्रमों की दीर्घ शृंखला के परिपुष्ट परिणाम हैं, परवर्ती अभिलेख अप्राप्य रूप से नष्ट हो गये हैं। संस्कृत के निर्माण के देश और काल अज्ञात हैं; और जहाँ तक इसके अवसर का संबन्ध है, हमें मात्र अपनी अनुमितियों और संभावनाओं का आश्रय लेना पड़ता है। तो भी, यह सर्वथा सहज प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीयों की व्याकरणबुद्धि पारम्परिक धर्मग्रन्थों के उनके अध्ययन से और समसामयिक प्रयोग के साथ इसकी विभिन्न भाषा के साथ उनकी तुलना से प्रचुर मात्रा में जागृत हुई थी। यह निश्चित है कि उन ग्रन्थों (शाखाओं, शाब्दिक अर्थ में डालो) का ध्वनिशास्त्रीय तथा अन्य व्याकरण संबन्धी अध्ययन ब्राह्मण संप्रदायों में उत्साह और सतर्कता से किया गया; यह हमें अनेक ध्वनिशास्त्रीय व्याकरण-ग्रन्थों के, **प्रातिशाख्यों** (**प्रतिशाखम्** प्रत्येक विभिन्न ग्रन्थ से संबद्ध)—जिनमें प्रत्येक किसी न किसी मुख्य वैदिक ग्रन्थ को आधिकारिक रूप में रखता है और उसकी रूप-संबन्धी सभी विशेषताओं का निरूपण करता है—प्राप्त होने से प्रमाणित होता है; अपने ही अनुसंधानों की यथार्थता और गहनता तथा जिन प्रमाणों को वे उद्‌धृत करते हैं उनकी संख्या, दोनों ही रूपों से ये स्पष्टतः घोषित करते हैं कि एक जीवन्त वैज्ञानिक कार्यकलाप लम्बे अर्से तक चलता रहा। दूसरी ओर प्राज्ञ-वर्ग की शुद्ध भाषा और साधारण जनता की परिवर्तित विभाषाओं के बीच भेदों की स्थिति ने इस गतिविधि में कौन-सा अंश ग्रहण किया है, यह निश्चित करना सरल नहीं है; किन्तु यह व्यावहारिक नहीं है कि एक भाषा अपने संगत प्रयोगों को विधिवत् स्थिर कर ले जब तक कि इसके अन्तर्गम्यमान विकारों द्वारा आपत्ति का स्पष्ट अनुभव न हो जाय।

संस्कृत व्याकरण के सामान्य सम्प्रदाय के प्रयास वैयाकरण पाणिनि को पाकर शिरोबिन्दु पर पहुँच गये, जिनकी पाठ-पुस्तक, जहाँ भाषा के तथ्य लगभग चार हजार बीजगणितात्मक सूत्रों जैसे नियमों (जिनके निर्देश और नियोजन में निश्चितता और असंदिग्धता को नष्ट कर मात्र संक्षिप्तता ध्यान में रखी गया है) के अत्यधिक विलक्षण और दुर्गम्य रूप में निबद्ध हैं, आने वाले सब समय के लिए शुद्ध भाषा का प्रामाणिक, प्रायः पवित्र, आदर्श बन गयी। उनके समय के संबन्ध में वस्तुतः कुछ भी निश्चित और विश्वसनीय ज्ञात नहीं है; किन्तु बड़ी संभावना के साथ खिष्टीय शती से (दो से चार शतक) पूर्व किसी समय उनका होना माना जाता है। उनके अनेक टीकाकार हुए हैं और

इन व्याख्याताओं के हाथ उनके संशोधन और पूर्णीकरण थोड़ी मात्रा में हुए; किन्तु वे कभी पराजित अथवा अभिभूत नहीं हुए हैं। उनकी रचना की मुख्य और सर्वाधिक प्रामाणिक टीका **महाभाष्य,** बड़ी व्याख्या, के नाम से अभिहित है जो पतंजलिकृत है।

भाषा, चाहे वह जनभाषा क्यों न हो, जो लिखने और बोलने में व्यापक और निरन्तर प्रयोग लेकर आती है, मुख्यतया सीधी परम्परा, गुरु से शिष्य के प्रति संगमन और प्राप्त ग्रन्थों के अध्ययन तथा अनुकरण के चलते ही, न कि व्याकरणिक नियमों के अनुगमन से, जीवन्त रहती है; तथापि व्याकरण का नियामक के रूप में अस्तित्व, और विशेषतः एकमात्र का, जो अकाट्य और निर्देशपरक मूल्य वाला समझा जाता है, सबल नियामक प्रभाव को उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकता। इससे जो कुछ उसके निर्देशों के प्रतिकूल होता है, चाहे शिथिल प्रयोगवाला ही क्यों न हो, उसका परिहार क्रमिक वृद्धि से हो जाता है; और साथ ही, ग्रन्थों के निरन्तर उत्पादन में जो कुछ उनमें उससे अविहित था, उसका क्रमिक लोप हो जाता है। इस प्रकार भारत का सम्पूर्ण आधुनिक साहित्य पाणिनि-प्रभावित है, कहना चाहिए कि उनके और उनके सम्प्रदाय द्वारा बनाये गये ढाँचे में आविष्ट है। इस प्रक्रिया की कृत्रिमता की सीमाएँ क्या हैं, यह अभी तक ज्ञात नहीं है। भारतीय व्याकरण के विशिष्ट शिक्षार्थियों का ध्यान (और विषय इतना दुर्बोध और कठिन है कि इसके ऐसे विशिष्ट अधिकारियों की, जो इस प्रकार के सामान्य तथ्यों पर प्रामाणिक विचार दे सकें, संख्या अत्यधिक न्यून है) पाणिनि के अनुरूप संस्कृत के निर्धारण की ओर या व्याकरण से भाषा की व्याख्या करने की ओर ही अभी तक सबसे मुख्य रहा है। तथा, स्वतः यथेष्ट रूप से, भारत में अथवा अन्यत्र जहाँ कहीं प्रमुख प्रयोजन भाषा को शुद्ध-शुद्ध बोलने और लिखने का है, अर्थात् यथा वैयाकरणों ने मान्यता दी है, यही प्रवृत्ति का उचित पथ है। किन्तु यह भाषा को जानने का ठीक-ठीक तरीका नहीं है। ऐसा समय अविलम्ब आना चाहिए, अथवा ऐसा समय आ भी चुका है, जब प्रयास इसके विपरीत भाषा द्वारा व्याकरण की व्याख्या करना होगा—पाणिनि के नियमों की (जिनमें ऐसे कम नहीं हैं जो संदिग्ध या कभी-कभी विसंगत भी प्रतीत होते हैं) यथार्थता का परीक्षण यथासंभव विस्तार के साथ करना, यह निर्धारण करना कि उनके लिए कौन और कितनी प्रयोगसरणि सर्वत्र आधार भूत है, और प्रयोग-साहित्य में कौन अवशेष, जो स्वभावतः प्रामाणित स्वरूप वाले हैं, यद्यपि उनके द्वारा अप्रामाणित हैं, बचाये जा सकते हैं।

फलतः "श्रेण्य" अथवा "उत्तर" भाषा का, यथा प्रस्तुत व्याकरण में नीचे निरन्तर प्रयुक्त है, तात्पर्य उन साहित्यिक कृतियों की भाषा से है जो देशी व्याकरण के नियमों के अनुरूप लिखी गयी है—वस्तुतः समग्र ख्यात संस्कृत साहित्य। क्योंकि इसके कुछ अंश निस्संदेह पाणिनि के पूर्ववर्ती हैं, किन्तु यह कहना असम्भव है कि किन अंशों में या कितनी मात्रा में ये व्याकरण के समतलीकरण प्रभाव से मुक्त रहे हैं। समग्र को ही कृत्रिम साहित्य कहा जा सकता है क्योंकि यह एक ऐसे ध्वनि-रूप में (द्रष्टव्य व्याकरण, १०१ अ) लिखित है जो कथमपि यथार्थ जानपदिक और जीवन्त नहीं हो सकता है। इसका प्रायः सम्पूर्ण अंश छन्दोबद्ध है—केवल काव्य ग्रन्थ ही नहीं; अपितु, आख्यान, इतिहास (यदि इस नाम के उपयुक्त किसी का अस्तित्व माना जाय) और प्रत्येक प्रकार के वैज्ञानिक ग्रन्थ छन्द में निबद्ध हैं; गद्य और गद्य साहित्य कठिनता से उपलब्ध हैं (मुख्य अपवाद वृहदाकार टीकाओं के अतिरिक्त थोड़े-से आख्यान हैं, यथा दशकुमारचरित और वासवदत्ता)। भाषात्मक इतिहास लेकर इसमें जो कुछ है नगण्य है, किन्तु केवल शैली का इतिहास प्राप्त है और यहाँ भी अधिकांशतः कृत्रिम ह्रास, कृत्रिमता की वृद्धि और भाषा के अधिक अवांछनीय तत्त्वों का समुच्चय, यथा क्रियापदों के स्थान में कृदन्तक्रियारूपों और कर्मवाच्य रचनाओं का प्रयोग तथा वाक्यों के लिए सामासिकों का प्रतिस्थापन।

उत्तर साहित्य की ऐसी स्थिति होने से यह विशेष गुरुतर महत्त्व लेकर है कि हमें ऐसा पूर्वतर साहित्य प्राप्त है जिसके विषय में कृत्रिमता का सन्देह नहीं उठता है, अथवा उठता भी है तो अल्पमात्रा में ही; यह साहित्य जनभाषा का यथार्थ स्वरूप बनाये हुए है और इसमें गद्य तथा पद्य का बाहुल्य है।

भारतीय जनता की अतिप्राचीनतम साहित्यिक उर्वरता के प्रतिफलन सूक्त हैं, जिनके द्वारा उन्होंने, जबकि केवल देश के प्रवेश मार्ग का अतिक्रमण उन्होंने किया था और जब उनकी भौगोलिक परिधि सहायक नदियों से युक्त सिन्धु के नदी-क्षेत्र तक ही सीमित थी, अपने देवों, प्रकृति की देव-रूप शक्तियों की स्तुति की, और उनके अपेक्षाकृत सरल पूजन की विधियों को सम्बद्ध किया। किस काल में ये बनाये गये और गाये गये, यह किसी प्रकार की स्थिरता के साथ निर्धारित नहीं किया जा सकता है—यह ई० पूर्व २००० तक का प्राचीन हो सकता है। मौखिक परम्परा द्वारा चिर काल तक ये आते रहे, बड़ी सतर्कता से सुरक्षित रहे; तथा परवर्ती पीढ़ियों द्वारा योगों और अनुकरणों के चलते परिवर्द्धित हुए, निकाय निरन्तर बढ़ता रहा, और आचारों, आस्थाओं और धार्मिक विधानों के परिवर्तन के परिणामस्वरूप विभिन्न ढंग से प्रयुक्त होता रहा—चुने

संदर्भों में गाये जाने पर, पूजन विधियों में अन्य तथ्य के साथ मिश्रित किये जाने पर और उत्सव की प्रयोजन-पूर्ति के लिए अल्पाधिक मात्रा में विरूपण लेकर व्यवहृत होने पर जो अमित विस्तार और गहनता को प्राप्त करता गया। और, साथ ही साथ इस इतिहास के क्रम में सूक्त-सामग्री की, विशेषतः उसके प्राचीनतम और सर्वाधिक प्रामाणिक अंश की, एक बृहत् संहिता लगभग एक हजार सूक्तों और दश हजार मन्त्रों से अधिक वाली बनी, जो ऋषि-रचयिताओं और सूक्त के विषय, प्रसार और विषय के अनुसार क्रमबद्ध की गयी है। यह संग्रह **ऋग्वेद,** (ऋच्), मन्त्रों या सूक्तों का वेद है। अन्य संग्रह भी पारम्परिक वस्तु के इसी सामान्य निकाय से निर्मित हुए; निस्संदेह ये परवर्ती काल के थे, यद्यपि इस काल के पारस्परिक सम्बन्ध अब तक इतने अस्पष्ट बने हुए हैं कि इनके प्रसंग में पूर्ण विश्वास के साथ हमारा कोई भी कथन संभव नहीं है। इस प्रकार, **साम-वेद,** (सामन्) गीतों का वेद, प्रायः इसके षष्ठांश को लेकर है, इसके मन्त्र प्रायः सब-के-सब ऋग्वेद में भी प्राप्त हैं, किन्तु यहाँ कतिपय पाठान्तर हो गये हैं :—ये ऐसे मन्त्र हैं जो सोम-यज्ञों के अवसर पर गाने के लिए संगृहीत हुए थे। पुनः, वे संग्रह जो **यजुर्वेद,** (यजुस्) याज्ञिक मन्त्रों का वेद, की व्यापक संज्ञा से अभिहित हैं—इनमें केवल पद्य नहीं आये हैं, किन्तु अनेक गद्य-वाक्य भी, प्रथम के साथ ये उसी क्रम में संयुक्त हैं—जिसमें ये व्यावहारिक दृष्टि से यज्ञों में उच्चरित होते थे, ये वस्तुतः पूजन-सम्बन्धी संग्रह थे। इनकी विभिन्न शाखाएँ उपलब्ध हैं, जिनकी अपनी पारस्परिक विभिन्नताएँ होती हैं—**वाजसनेयि-संहिता** (यत्–किञ्चित् दो विषय पाठ, **माध्यन्दिन** और **काण्व**) जो यदा-कदा शुक्ल-यजुर्वेद के नाम से अभिहित हैं, तथा कृष्ण यजुर्वेद के अनेक और अत्यन्त भिन्न ग्रन्थ, यथा **तैत्तिरीय-संहिता, मैत्रायणी-संहिता, कपिष्ठल-संहिता,** और **काठक** (अन्तिम दो अब तक अप्रकाशित ही हैं)। अन्त में ऋग्वेद की तरह एक और अन्य ऐतिहासिक संहिता प्राप्त है, किन्तु यह मुख्यतः परवर्ती और अपेक्षाकृत न्यून प्रामाणिक सामग्री वाली है, और यह **अथर्ववेद,** अथर्वणों (आख्यानिक पुरोहित वंश) का वेद, के नाम से (अन्य अपेक्षाकृत न्यून प्रचलित नामों के अतिरिक्त) अभिहित है, यह प्रायः ऋग्वेद के आधे से अधिक मोटी है और इसमें उसी के अनुरूप विषय का कुछ भाग प्राप्त है तथा साथ ही कतिपय संक्षिप्त गद्य स्थल भी हैं। शास्त्रसंमत साहित्य में इस अन्तिम संहिता को अति सामान्य रूप से वेद की संज्ञा नहीं दी जाती है, किन्तु हमारे लिए ऋग्वेद के बाद यह सबों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें सूक्त-सामग्री (अथवा **मन्त्र,** जैसा कि

यह गद्य **ब्राह्मण** से पृथक् उल्लिखित है) सर्वाधिक मात्रा में आती है, और भाषा की दृष्टि से जो, यद्यपि अन्य की अपेक्षा कम प्राचीन है, यथार्थ वैदिक ही है। इसके दो पाठ विद्यमान हैं, जिनमें केवल एक की एकमात्र पाण्डुलिपि प्राप्त है।

उसी प्रकार की सामग्री, जो महत्त्वहीन नहीं है और जो विभिन्न काल की है (यद्यपि निस्संदेह यह मुख्यतः वैदिक उर्वरता के सर्वाधिक उत्तरकाल की होती है, तथा आंशिक रूप से संभवतया और भी अधिक नवीन काल की अनुकरण-मूलक कृति है) उन ग्रन्थों में छितरायी हुई है, जिनका विवरण आगे चलकर **ब्राह्मणों** और **सूत्रों**-जैसा होगा। एकत्रीकरण, परीक्षण और तुलनीकरण लेकर यह अभी वैदिक अध्ययन के परमावश्यक उपयोगों का विषय बनी हुई है।

उपर्युक्त वैदिक साहित्य के सभी मौलिक विभागों की अपनी साम्प्रदायिक शाखाएँ हैं, इनमें प्रत्येक का निजी ग्रन्थ है जहाँ अन्य शाखाओं के ग्रन्थों से भिन्नताएँ देखी जाती हैं—किन्तु ऊपर उल्लिखित का अस्तित्व ही अब तक ज्ञात है, और दूसरों की उपलब्धि का अवसर प्रत्येक वर्ष और कम होता जाता है।

अपने धार्मिक ग्रन्थों के संरक्षण को लेकर सम्प्रदायों का प्रयास अनुपम है, और इस प्रकार की सफलता उपलब्ध हुई है कि प्रत्येक सम्प्रदाय का ग्रन्थ, चाहे अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थों से इसकी विभिन्नताएँ कितनी क्यों न हों, वस्तुतः पाठान्तरों के बिना प्राप्त है, अपनी सभी वैभाषिक विशिष्टताओं तथा अविकृत और अभ्रान्त ध्वनिशास्त्रीय रूप के अपने सूक्ष्मतम और सर्वाधिक विशिष्ट लक्षणों के साथ सुरक्षित है। यहाँ इसका उल्लेख करना प्रासंगिक नहीं है कि साम्प्रदायिकों की धार्मिक सतर्कता के साथ, किस साधन द्वारा यह निश्चितता—पाठ के रूपों, विशिष्टताओं और इनसे सम्बद्ध विवेचनों की तालिकाओं, तथा अन्य तत्त्वों में—प्राप्त हुई। प्रत्येक ग्रन्थ को लेकर इस प्रकार की सतर्कता कब आरम्भ हुई, और कौन-सा मौलिक स्वरूप इसके पूर्व नष्ट हुआ अथवा इसके बावजूद लुप्त हो गया, यह निर्धारित नहीं किया जा सकता है। किन्तु यह निश्चित है कि वैदिक अभिलेख प्राचीन भारतीय भाषा के (साथ ही, प्राचीन भारतीय विश्वासों और संस्थानों के) स्वरूप का बहुत ही शुद्ध और विश्वसनीय चित्र सर्वोपरि उपस्थित करते हैं, उस भाषा के, जो स्वाभाविक और अविकृत थी और जो श्रेण्य संस्कृत के काल से बहुत पूर्व की होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ परवर्ती से इसकी विभिन्नताओं को विस्तार में स्पष्ट करने का प्रयास करता है ।

कृष्ण यजुर्वेद मन्त्रों और याज्ञिक सूत्रों और वाक्यों के साथ-साथ लम्बे गद्य-खण्ड आते हैं जिनमें धार्मिक क्रियाएँ वर्णित हैं, उनका अर्थ और विस्तारों का कारण और सम्बद्ध वाक्यों की सार्थकता विवेचित और व्याख्यात हैं, दृष्टान्तस्वरूप कथाएँ वर्णित या निर्मित हैं, और व्युत्पत्तिमूलक अथवा अन्य विभिन्न कल्पनाएँ प्रतिपादित हैं । इस प्रकार की विषयवस्तु **ब्राह्मण** (स्पष्टतः ब्रह्मन् या पूजन से सम्बन्धित) कहलाती है । शुक्ल यजुर्वेद में यह संहिता या मन्त्रों और वाक्यों के ग्रन्थ के साथ-साथ स्वतन्त्र ग्रन्थ में अलग की गयी है और इसे **शतपथ-ब्राह्मण**, सौ मार्गों का ब्राह्मण कहते हैं । इसी प्रकार के अन्य सग्रह वैदिक शास्त्र की अन्य विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध प्राप्त होते हैं, और इनके लिए शाखा अथवा अन्य किसी भेदक शीर्ष को पहले जोड़कर ब्राह्मण की सामान्य संज्ञा होती है । इस प्रकार ऋग्वेद की शाखाओं के **ऐतरेय** और **कौषीतकि-ब्राह्मण** होते हैं, सामवेद के **पंचविंश** और **षड्विंश** और अन्य छोटे ग्रन्थ हैं, अथर्ववेद का **गोपथ ब्राह्मण** है; सामवेद का **जैमिनीय** या **तवलकार-ब्राह्मण** हाल ही में (बर्नेल) भारतवर्ष में उपलब्ध हुआ है; **तैत्तिरीय ब्राह्मण** समाननाम वाली संहिता की तरह मन्त्र और ब्राह्मण के मिश्रित का संग्रह है, किन्तु परिशिष्ट-जैसा और उत्तरकाल वाला । ये ग्रन्थ समान रूप से शाखाओं द्वारा आचार ग्रन्थों के रूप में गृहीत हैं, और इनके अनुयायी इनको उसी बड़ी सतर्कता से सीखते हैं जो **संहिताओं** में दृष्ट हैं, और पाठ-संरक्षण लेकर इनकी स्थिति उसी प्रकार उत्कृष्ट है । कुछ अंशों में एक जैसी विषय-वस्तु इनमें प्राप्त होती है—एक ऐसा तथ्य है कि जिसके स्वरूप अभी तक पूर्णतः ज्ञात नहीं हुए हैं ।

अपनी विषयवस्तु के अधिकांश की निस्सारता के बावजूद ब्राह्मण भारतीय प्रतिष्ठानों के इतिहास में अपने प्रभावों के चलते अत्यधिक उपादेय हैं; और भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से ये कम महत्त्व के नहीं हैं, क्योंकि ये बहुत अंशों में श्रेण्य और वैदिक की मध्यवर्ती भाषा का प्रतिनिधित्व करते हैं, और एक बड़े पैमाने पर गद्य शैली का आदर्श उपस्थित करते हैं, और वह भी एक ऐसी शैली का, जो मुख्यतः स्वाभाविक और सहज विकसित है और जो प्राचीनतम और सर्वाधिक प्रारम्भिक भारत-यूरोपीय गद्य है ।

ब्राह्मणों के साथ समान स्वरूप वाले उत्तरकालिक परिशिष्ट ग्रन्थ कभी-

कभी प्राप्त होते हैं जो **आरण्यक** (आरण्यक-प्रकरण) कहे जाते हैं—यथा; **ऐतरेय-आरण्यक, तैत्तिरीय-आरण्यक, बृहद्-आरण्यक,** इत्यादि। और इनके कुछ में से, या ब्राह्मणों से भी प्राचीनतम उपनिषदें (गोष्ठियाँ, धार्मिक विषयों पर आख्यान) निकली हैं—किन्तु जो प्रवर्धित होती रहीं और अपेक्षाकृत आधुनिक काल तक परिवर्धित हुई हैं। उपनिषदें उन सरणियों की एक में आती हैं जिससे ब्राह्मण साहित्य उत्तरकालिक अध्यात्म-साहित्य में परिणत होता है।

संक्रमण की अन्य दिशा **सूत्रों** (पंक्तियों, नियमों) में सूचित है। इस प्रकार की संज्ञा वाले ब्राह्मणों के सजातीय इस दृष्टि में होते हैं कि ये वैदिक शास्त्र की शाखाओं में संबद्ध हैं और उनसे इनका नामकरण होता है, और ये धार्मिक विधियों का विवरण प्रस्तुत करते हैं—किन्तु इनका विवेचन प्रक्रिया के रूप में होता है, न कि सैद्धान्तिक व्याख्या के रूप में। इनमें भी विशिष्ट मन्त्र या मन्त्र-विषय आता है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। कहीं (**श्रौत** या **कल्प सूत्र**) ये विशिष्ट याज्ञिक विधियों को निरूपित करते हैं जो ब्राह्मणों के विषय हैं, कहीं (**गृह्य-सूत्र**) ये धार्मिक गृहस्थ के साधारण कर्त्तव्यों का निर्देश करते हैं, कहीं (**सामयाचारिक सूत्र**) ये उन सामान्य कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हैं जो मान्य आचरण के अनुरूप जीवन के लिए अपेक्षित हैं। और अन्तिम दो से, या विशेषतः अन्तिम से, **धर्मशास्त्रों** का सहज विकास होता है जो उत्तरकाल के साहित्य में विशिष्ट स्थान रखते हैं—इनमें प्राचीनतम और सर्वाधिक उल्लेख्य वह है जो मनु है (बहुतों के विचार में मानव वैदिक सम्प्रदाय का प्रतिफलन) के नाम से प्रसिद्ध है; जिसमें याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र और अनेक दूसरे जोड़े जाते हैं।

इस विकास के कालक्रम या रचनाओं के किसी विभाग की तिथि, विशेषरूप से किसी एक कृति की तिथि के विषय में जितना ही कम कहा जाय, उतना अच्छा है। भारतीय साहित्य के इतिहास में सभी तिथियाँ खूटियाँ हैं जो फिर से नीचे लुढ़काने के लिए खड़ी की गयी हैं। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण रचना में हमें प्राप्त होने वाले रूप तक आते-आते इतने अल्पाधिक परिमाणक परिवर्तन हुए हैं कि मूल-रचना का प्रश्न अन्तिम संस्करण के साथ उलझा हुआ है। यह स्थिति उपरिनिर्दिष्ट मनु के धर्मशास्त्र की है जिसे ख्यात संस्कृत साहित्य की प्राचीनतम रचनाओं में से एक, यदि प्राचीनतम नहीं, माने जाने के लिए सप्रतिष्ठित आधार प्राप्त है (इसको विभिन्न ढंग से ईसा के पूर्व छः सदियों के काल से आरम्भ

कर ईसा के बाद चार तक रखा गया है)। पुनः यही स्थिति और भी अधिक विलक्षण मात्रा में **महाभारत** के बृहत् पौराणिक महाकाव्य की है। इसकी मूल-रचना निस्संदेह अति प्राचीन काल की है; किन्तु यह एक ऐसा ग्रन्थ बन गया है जिसमें विभिन्न स्वरूप और विभिन्न काल की सामग्रियाँ आपस में गूँथ गयी हैं तब तक जब कि यह विषमरूप निकाय क्षत्रिय जाति के लिए बन गया है, जिसके संघटक खण्डों को अलग करना कठिन है। **नलोपाख्यान** और दार्शनिक काव्य **भगवद्गीता** इसकी कथाओं में सर्वोपरि उल्लेखनीय हैं। दूसरा सर्वाधिक महनीय काव्य, **रामायण** अन्य प्रकार की रचना है : यद्यपि हमारे काल तक आते-आते इसमें भी अल्पाधिक मात्रा में परिवर्तन हुए हैं, किन्तु यह मुख्यतः एक ही रचयिता (वाल्मीकि) की कृति है और यह सामान्यतया आंशिक रूप में रूपकात्मक मानी जाती है, जो दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति और प्रभुत्व का प्रतिनिधित्व करती है। इसके बाद विभिन्न काल और ग्रन्थ-कारिता के कतिपय गौण महाकाव्य आते हैं, यथा **रघुवंश** (नाटककार कालिदास की कृति के रूप में स्वीकृत), **माघकाव्य, भट्टिकाव्य** (अन्तिम अनेक रूपनिर्माणों को जो वैयाकरणों द्वारा मान्य होते हुए भी साहित्य में स्थान प्राप्त नहीं हैं, यथासंभव प्रयोग द्वारा उदाहृत करने की व्याकरणिक प्रवृत्ति लेकर मुख्यतः लिखित है)।

पुराण, अधिकांशतः विपुलकाय वाले ग्रन्थों का बृहत् वर्ग, समीचीन ढंग से वृहत् महाकाव्यों के साथ ही उल्लिखित होते हैं। ये स्वरूप में अर्थ-ऐतिहासिक और शैक्षणिक हैं, जो आधुनिक काल के हैं और गौण महत्त्व वाले हैं। वास्तविक इतिहास संस्कृत में अप्राप्त है, न तो इससे संबद्ध ग्रन्थों में से किसी में कोई सतर्क ऐतिहासिक तत्त्व ही है।

गीतिकाव्य कतिपय रचनाओं में निरूपित हैं, जिनमें कुछ, जैसे **मेघदूत** और **गीतगोविन्द,** नगण्य कोटिक महत्त्व के नहीं हैं।

नाट्य-साहित्य और भी अधिक उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण है। हिन्दुओं की नाटकीय प्रवृत्ति और क्षमता के प्रथम निदर्शन वेद के कुछ सूक्तों में प्राप्त हैं, जहाँ आधिदैविक अथवा पौराणिक स्थिति की कल्पना नाटकीय ढंग से की गयी है और संवाद-रूप में रखी गयी है। सुपरिचित उदाहरण सरमा और पणियों का, यम और उसकी बहन यमीका, वसिष्ठ और नदियों का, अग्नि और अन्य देवों का संवाद हैं; किन्तु परिनिष्ठित नाटक और इनके मध्यवर्ती रूप उपलब्ध नहीं हैं। परिनिष्ठित नाटक के आरम्भों का काल उस समय का है जब वास्तविक जीवन में उन्नततर और शिक्षित व्यक्ति संस्कृत का प्रयोग करने लगे और निम्नतर और

अशिक्षित लोग इससे व्युत्पन्न जनप्रिय विभाषा प्राकृतों का, और उनका संवाद इसी वस्तुस्थिति को निरूपित करता है। किन्तु तदनन्तर शिक्षण (इसे मिथ्या पाण्डित्य नहीं कहा जा सकता है) प्रतिष्ठित हुआ, और नया तत्त्व रूढ़ हो गया, संस्कृत व्याकरण के साथ प्राकृत व्याकरण का उदय हुआ, जिसके नियमों के अनुसार प्राकृत संस्कृत-प्रभावापन्न बन गयी, और उपलब्ध नाटकों में से कोई भी प्राकृत के जनभाषा-प्रयोग के काल में रखा नहीं जा सकता है, उनके अधिकांश या सबके-सब निस्संदेह उत्तरकाल के हैं। रूपक प्रणेताओं में कालिदास निर्बाध श्रेष्ठ हैं, और उनका **शकुन्तला** नाटक स्पष्टतः उनकी सर्वोत्तम कृति है। उनका काल अत्यन्त अन्वेषण और विवाद का विषय बना हुआ है; यह निस्संदेह हमारे संवत् की कुछ शताब्दियों के बाद का है। कालिदास की रचना के साथ एकमात्र उल्लेख अन्य ग्रन्थ शूद्रक का **मृच्छकटी** है, वह भी संदिग्ध काल की रचना है, किन्तु प्राप्त नाटकों में प्राचीनतम माना जाता है।

आंशिक नाटकीयस्वरूप कल्पित कथा-साहित्य में प्राप्त है, जहाँ पशु क्रियाशील और भाषणशील दिखाये जाते हैं। इस विभाग का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ **पंचतंत्र** और आंशिक रूप से उसी पर आधृत, अपेक्षाकृत नवीन और जनप्रिय **हितोपदेश** (शिक्षा-सुभाषित, शुभ का शिक्षण) हैं—**पंचतन्त्र,** जिसने फारसी और सामी रूपान्तरों द्वारा समग्र विश्व में अपना प्रसार पाया है और जो प्रत्येक यूरोपीय भाषा के कल्पित कथा साहित्य में महत्त्वपूर्ण अंश का योगदान करता है।

संस्कृत वैज्ञानिक साहित्य के प्रमुख विभागों के दो, धर्मशास्त्रिक और व्याकरणिक, पर्याप्त रूप में ऊपर उल्लिखित हो चुके हैं, अवशिष्टों में सर्वाधिक प्रसिद्ध अब तक दार्शनिक है। दार्शनिक चिन्तन के आरम्भ वेद के उत्तरकालिक सूक्तों के कुछ में ही देखे जाते हैं, अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में ब्राह्मणों और आरण्यकों में और पुनः विशेष रूप से उपनिषदों में। दर्शन-सरणियों के विकास और ऐतिहासिक संबन्ध और उनके आधार-ग्रन्थों का काल ऐसे विषय हैं जो अब भी अत्यन्त अस्पष्ट बने हुए हैं। मुख्य कोटि की छः सरणियाँ हैं और ये आस्तिक मानी गयी हैं, यद्यपि मान्य धार्मिक-सिद्धान्तों के अनुरूप ये वस्तुतः नहीं होती हैं। इनमें सभी समान लक्ष्य की खोज में हैं, विभिन्न क्रमिक शरीरों की प्राप्ति की अनिवार्यता से जीवात्मा की मुक्ति तथा विश्वात्मा के साथ उसका संयोग, किन्तु साधन को लेकर जिसके द्वारा इस उद्देश्य को ये प्राप्त करना चाहती हैं, ये भिन्न होती हैं।

हिन्दुओं की खगोल विद्या यूनानियों की विद्या की प्रतिच्छाया है, और इसका साहित्य अप्राचीन काल का है, किन्तु गणितज्ञों के रूप में, अंकगणित और रेखा-गणित को लेकर, उन्होंने विशेष स्वतंत्रता दिखलायी है। उनकी आयुर्विद्या, यद्यपि इनके आरम्भ सहवर्ती मन्त्रों के साथ औषधीय वनस्पतियों के प्रयोग को लेकर वेद काल के ही होते हैं, गौण महत्त्व वाली है, और उसका यथार्थ साहित्य कथमपि प्राचीन नहीं है।

संक्षिप्त-रूप[1]

अ० प्रा०	अथर्व-प्रातिशाख्य ।	गो० ब्रा०	गोपथ-ब्राह्मण ।
अ० वे०	अथर्व-वेद ।	छा० उ०	छान्दोग्य-उपनिषद् ।
अ० सं०	अभिजात संस्कृत ।	जै० उ० ब्रा०	जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण ।
आ० गृ० सू०	आश्वलायन-गृह्य-सूत्र ।	जै० ब्रा०	जैमिनीय-ब्राह्मण ।
आपस्त०	आपस्तम्ब-सूत्र ।	त्रिभा०	त्रिभाष्य-रत्न (तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की टीका) ।
आ० श्रौ० सू०	आश्वलायन-श्रौत-सूत्र ।	तै० आ०	तैत्तिरीय--आरण्यक ।
उपनि०	उपनिषद् ।	तै० प्रा०	तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य ।
ऋ० प्रा०	ऋग्वेद-प्रातिशाख्य	तै० ब्रा०	तैत्तिरीय-ब्राह्मण ।
ए०	एपीक (रामा०-महाभा०)	तै० सं०	तैत्तिरीय-संहिता ।
ऐ० आ०	ऐतरेय-आरण्यक ।	द० कु० च०	दशकुमार चरित ।
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय-ब्राह्मण ।	निरु०	निरुक्त ।
क० स० सा०	कथासरित्सागर	नैष०	नैषधीय ।
कठ० उ०	कठ-उपनिषद्	पं० ब्रा०	पंचविंश (या ताण्ड्य) ब्राह्मण ।
कपिष्०	कपिष्ठल-संहिता ।	पंच०	पंचतन्त्र ।
का०	काठक ।	पा० गृ० सू०	पारस्कर-गृह्य-सूत्र ।
का० श्रौ० सू०	कात्यायन-श्रौत-सूत्र ।	प्र० उ०	प्रश्न-उपनिषद् ।
के० उ०	केन-उपनिषद् ।	बौ० र०	बौटलिंक और रथ ।
कौ० ब्रा०	कौषीतकि (या शांखायन) ब्राह्मण ।	ब्रा०	ब्राह्मण ।
कौ० ब्रा० उ०	कौषीतकि-ब्राह्मण-उपनिषद् ।	बृ० आ० उ०	बृहद्-आरण्यक-उपनिषद् ।
कौ० सू०	कौशिक-सूत्र	भ० गी०	भगवद्-गीता ।
गो० गृ० सू०	गोभिलीय-गृह्य-सूत्र ।	भा० पु०	भागवत पुराण ।

---

१. सुविधार्थ मूल पुस्तक में दिये गये संक्षिप्त-रूपों को देवनागरी-वर्णमाला के क्रम में रखा गया है ।

महाभा०	महाभारत ।	मनु०	मनु ।
मुण्ड० उ०	मुण्डक-उपनिषद् ।	वा० सं० काण्व	वाजसनेयि-संहिता-काण्व पाठ ।
मेघ०	मेघदूत ।	विक्र०	विक्रमोर्वशी ।
मै० उ०	मैत्री-उपनिषद् ।	वे०	वेद (ऋ० वे०, अ० वे०, सा० वे०) ।
मै० सं०	मैत्रायणी-संहिता ।	वेता०	वेताल पंच-विंशती ।
या०	याज्ञवल्क्य	श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण ।
रघु०	रघुवंश	शत्रु०	शत्रुंजय माहात्म्य ।
रामा०	रामायण ।	शा० कु०	शाकुन्तल ।
रा० त०	राजतरंगिणी ।	शां० गृ० सू०	शाङ्खायन-गृह्य-सूत्र ।
रामा० महाभा०	रामायण-महाभारत	शां० श्रौ० सू०	शाङ्खायन-श्रौत-सूत्र ।
		श्वे० उ०	श्वेताश्वतर-उपनिषद् ।
ला० श्रौ० सू०	लाट्यायन-श्रौत-सूत्र ।	ष० ब्रा०	षड्विंश-ब्राह्मण ।
व० बृ० सं०	वराह-बृहत्-संहिता ।	सा० वे०	सामवेद ।
वशि०	वशिष्ठ	स्प्र०	इण्डिश स्प्रश० (बौटलिंक)
वा० प्रा०	वाजसनेयि-प्रातिशाख्य ।	हरि०	हरिवंश ।
वा० सं०	वाजसनेयि-संहिता ।	हितोप०	हितोपदेश ।

अ नु क्र म

———

संस्कृत व्याकरण

प्रथम भाग

[वर्णमाला, ध्वनि-समुदाय-उच्चारण, संधि के नियम, शब्द-रूप, संज्ञाएँ और विशेषण, संख्यावाची शब्द, सर्वनाम ।]
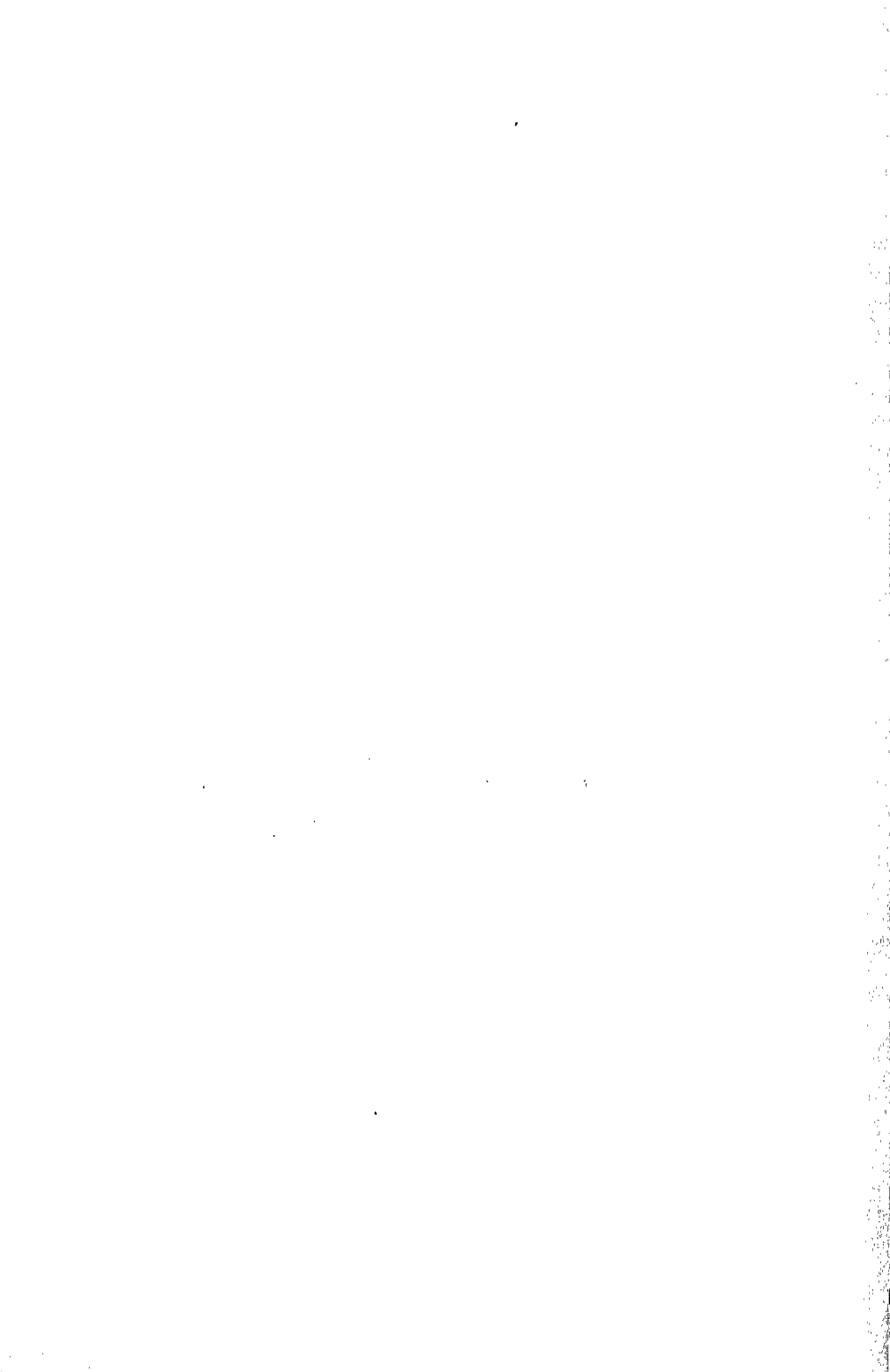
अध्याय—१

वर्णमाला

१—भारतवासी अपनी प्राचीन और पवित्र भाषा को विभिन्न वर्णमालाओं में लिखते हैं, साधारणतया देश के प्रत्येक प्रान्त में उसी वर्णमाला में, जिसका प्रयोग अपनी आधुनिक देशी भाषा के लिए वे करते हैं। तो भी, आर्य भारत के हृदय-देश अथवा हिन्दुस्तान नाम से ख्यात भू-भाग में जो लेखन-प्रणाली प्रचलित है, उसीका व्यवहार यूरोपीय विद्वान् करते हैं। इसे **देवनागरी** कहते हैं।

अ—इस नाम की व्युत्पत्ति और सारता संदिग्ध है। **नागरी** (संभवतः, नगर से सम्बन्धित) अधिक उपयुक्त नाम है, और देवनागरी देवों अथवा ब्राह्मणों की नागरी है।

२—भारतीय वर्णमालाओं के इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी बातें अब भी अस्पष्ट हैं। इस देश में निश्चित तिथि की प्राचीनतम लिखित सामग्रियाँ अशोक या पियदसि के शिलालेख हैं जो लगभग ई० पू० तीसरी सदी के मध्य के हैं। ये अक्षरों की दो विभिन्न शैलियों में हैं जिनमें एक सेमेटिक मूल स्रोत के निकलने का स्पष्ट संकेत देती है, जब कि दूसरी भी सम्भवतः, यद्यपि कम स्पष्ट रूप से, उसी मूल से उत्पन्न है। उत्तरी आर्य भाषाओं तथा दक्षिणी द्राविड़ भाषाओं, दोनों की ही परवर्ती भारतीय वर्णमालाएँ द्वितीय शैली की लठ (गिरिनार में प्रयुक्त) या दक्षिणी अशोक लिपि से आयी है। **नागरी, देवनागरी,** बङ्गला, गुजराती और दूसरी लिपियाँ इसकी उत्तरी शाखा के विभिन्न रूप हैं। भारतवर्ष के बाहर भी जैसे तिब्बत और बृहत्तर भारत में जिन लोगों ने हिन्दू संस्कृति और धर्म को ग्रहण किया, उनकी लिपियाँ भी इनसे सम्बद्ध हैं।

अ—यह तथ्य है कि भारत में लेखनकला पहले-पहल पत्र-व्यवहार, व्यापार जैसे अन्य व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए ही प्रयुक्त होती थी और तदनन्तर धीरे-धीरे साहित्यिक प्रयोग में आने लगी। साहित्य में अधिकांशतः, और इसकी अक्षुण्ण पवित्रता और प्रामाणिकता के लिए अपेक्षाकृत व्यापक अनुपात में, लिखित रूपों को तुच्छ समझा जाता है और मौखिक परम्परा में ही इसका रक्षण माना जाता है।

३—स्थान, काल और साथ ही व्यक्तिगत हस्तलेख की विभिन्नता के चलते **देवनागरी** के भी थोड़े से विभेद हो गये हैं। (उदाहरणों को देखिए बेबर द्वारा

बनायी गयी बर्लिन संस्कृत-हस्तलेखों की सूची, राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा दिये गये भारतीय पुस्तकालयों में प्राप्त, हस्तलेखों के सूचन-पत्र, प्रकाशित अभिलेखों की प्रतिकृतियाँ, प्रभृति), और कुछ हद तक ये विभिन्नताएँ भारत और यूरोप दोनों जगह छपाई के लिए बनाये गये टाइप में प्रतिबिम्बित हैं। किन्तु शिक्षार्थी को, जिसने मुद्रण-स्वरूपों की एक शैली की जानकारी पा ली है, अन्य शैलियों के समझने में बहुत कम ही कठिनाई होगी, और अभ्यास करने से थोड़े ही समय में हस्तलेखों के पढ़ने की क्षमता उसमें आ जायगी। इस ग्रन्थ में व्यवहृत मुद्रण-स्वरूपों से भिन्न मुद्रण-स्वरूपों के कुछ नमूने परिशिष्ट "अ" में दिये गये हैं।

अ—हमारे रोमन और तिरछे टाइप के छोटे रूपों के साथ इनके मिलाने में कठिनाई होने के कारण देवनागरी के वर्णरूप प्रथम अर्थात् दीर्घतम रूप में ही नीचे प्रयुक्त हैं। और आधुनिक व्याकरण-शास्त्रों के मान्य प्रचलन के अनुरूप वे, जब कभी प्रयुक्त हुए हैं, क्लारेण्डन वर्णों में लिप्यन्तरित कर दिये गये हैं, जब कि इनका प्रयोग अन्य आकृतियों में हुआ है।

४—शिक्षार्थी को सुझाव दिया जाता है कि प्रारम्भ में ही देवनागरी लेखन-पद्धति से वह अपने-आपको परिचित कर लेने का प्रयास करे। साथ ही, जब तक कि शिक्षार्थी प्रधान रूप-निर्देशों का ज्ञान प्राप्त कर पठन, विश्लेषण और पद-भंजन शुरू नहीं कर देता है, तब तक यह अनिवार्य नहीं है कि वह ऐसा करे। बहुतों को तो दूसरी विधि ही अधिक व्यावहारिक जँचेगी और अन्त में समान या अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

५—**देवनागरी** वर्णमाला के अक्षर और इनके लिप्यन्तरण में प्रयुक्त यूरोपीय अक्षर निम्नलिखित हैं :

		ह्रस्व			दीर्घ		
स्वर-सरल		१	अ	a	२	आ	ā
	तालव्य	३	इ	i	४	ई	ī
	ओष्ठ्य	५	उ	u	६	ऊ	ū
	मूर्धन्य	७	ऋ	ṛ	८	ॠ	ṝ
	दन्त्य	९	लृ	ḷ	१०	ॡ	ḹ
सन्धि	तालव्य	११	ए	e	१२	ऐ	āi
	ओष्ठ्य	१३	ओ	o	१४	ओ	āu
	विसर्ग	१५	:	ḥ			
	अनुस्वार	१६	ं ँ	ṅ, ṁ (द्रष्टव्य ७३ इ)।			

		अघोष	अघोष महाप्राण	सघोष	सघोष महाप्राण	नासिक्य
स्पर्श	कण्ठ्य	१७ क k	१८ ख kh	१९ ग g	२० घ gh	२१ ङ ṅ
	तालव्य	२२ च c	२३ छ ch	२४ ज j	२५ झ jh	२६ ञ ñ
	मूर्धन्य	२७ ट ṭ	२८ ठ ṭh	२९ ड ḍ	३० ढ ḍh	३१ ण ṇ
	दन्त्य	३२ त t	३३ थ th	३४ द d	३५ ध dh	३६ न n
	ओष्ठ्य	३७ प p	३८ फ ph	३९ ब b	४० भ bh	४१ म m

अर्धस्वर	तालव्य	४२	य	y
	मूर्धन्य	४३	र	r
	दन्त्य	४४	ल	l
	ओष्ठ्य	४५	व	v
ऊष्म	तालव्य	४६	श	ç
	मूर्धन्य	४७	ष	ṣ
	दन्त्य	४८	स	s
प्राणध्वनि		४९	ह	h

अ—इनके अन्तर्गत मूर्धन्य ळ सम्मिलित किया जा सकता है जो कुछ वैदिक पाठों में स्वरमध्यम ड का स्थान ग्रहण करता है।

६—नीचे कुछ अन्य ध्वनियों के सम्बन्ध में विचार किया जायगा जो भारतीय वैयाकरणों के सिद्धान्तों के दृष्टिगत थीं, पर जिनको सूचित करने के लिए स्वतंत्र अक्षर नहीं थे, अथवा जो यदा-कदा ही या अपवादस्वरूप ही लिखी जाती थीं (७१ आ, इ, २३०)। कण्ठ्य और ओष्ठ्य काकल ध्वनियाँ, नासिक्य अर्धस्वर आदि ऐसी ध्वनियाँ हैं।

७—ऊपर दिये गये क्रम के अनुसार देशी वैयाकरणों ने ध्वनियों का वर्णन और सूचीपत्र दिया है और इसको यूरोपीय विद्वानों ने आक्षरिक क्रम, सूचकांक, शब्दसंग्रह प्रभृति के लिए अपनाया है। भारतीयों में इन व्यावहारिक प्रयोगों के लिए वर्णक्रम की कल्पना का अभाव दीखता है।

अ—कुछ ग्रन्थों में (उदाहरण-स्वरूप पिटर्सबर्ग-कोश) **विसर्ग** को, जो ऊष्म सिन्-ध्वनि का समतुल्य या उससे परिवर्तनीय माना जाता है, सिन्ध्वनि का वर्णात्मक स्थान दिया गया है, यद्यपि विसर्ग के रूप में लिखित है।

८—भारत की अन्य लेखन पद्धतियों की तरह **देवनागरी** आक्षरिक और व्यंजनपरक है। तात्पर्य यह है कि इसमें लेखन की इकाई स्वतंत्र ध्वनि न होकर अक्षर ही है, और फिर **अक्षर** के सारवान अवयव के रूप व्यंजन या

व्यंजन समुदाय ही हैं जो स्वर के पूर्व व्यवहृत होते हैं, स्वर अन्तर्निहित ही रहता है, अथवा यदि लिखा जाता है तो वह सहयोगी चिह्न द्वारा व्यंजन से युक्त होकर ही स्थान बनाता है।

९—फलतः दो नियम इस प्रकार के हैं :—

अ—ऊपर की वर्णमाला में दिये गये स्वरवर्णों के रूप तभी व्यवहृत होते हैं जबकि स्वर एक आक्षरिक होता है, अथवा पूर्ववर्ती व्यंजन से संयुक्त नहीं रहता है, यानी स्वर या तो आदि में होता है या अन्य स्वर के बाद आता है। व्यंजन से जुड़ने पर निरूपण की दूसरी पद्धतियाँ लागू होती हैं।

आ—यदि एकाधिक व्यंजन स्वर के पूर्व आते हैं और उसके साथ एक ही अक्षर बनाते हैं, तो एक ही संयुक्त अक्षर में उनके वर्णों का मिलना आवश्यक हो जाता है।

अ—हस्तलेखों और शिलालेखों में देशी हिन्दू-व्यवहार ऐसा देखा जाता है कि वाक्य के सभी तत्त्व समान ही माने जाते हैं और एक शब्द के अक्षरों की तरह उसके सभी शब्द एक दूसरे से अविभक्त रहते हैं, अन्तिम व्यंजन शब्द के आदि स्वर अथवा व्यंजन या व्यंजनों के साथ एक ही लिखित अक्षर में सम्मिलित कर लिया जाता है। भारतीयों को शब्दों के बीच रिक्त स्थान छोड़ने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई, उन स्थलों में भी जहाँ उनकी लेखन-पद्धति में यह अपेक्षित था, न तो नयी पंक्ति से परिच्छेद प्रारम्भ करने की आवश्यकता थी और न पद्य की एक पंक्ति को दूसरी पंक्ति के ऊपर-नीचे रखने की ही। सम्पूर्ण पृष्ठ को उन्होंने सब समय ठोस रूप से भर कर लिखा है।

आ—इस प्रकार '**अहं रुद्रेभिर् वसुभिश्चराम्य् अहम् आदित्यैर् उत विश्वदेवैः** (ऋग्वेद, १०-१२५-१ : देखिए परिशिष्ट आ), मैं रुद्रवसुओं के साथ घूमता हूँ तथा मैं विश्वदेवों और आदित्यों के साथ—इस वाक्य और पद्य-पंक्ति का आक्षरिक रूप यों होगा : **अ हं रु द्रे भि र्व सु भि श्च रा म्य ह मा दि त्यै रु त वि श्व दे वैः।** प्रत्येक अक्षर स्वर में अन्त होता है (अथवा नासिक्य संकेत अनुस्वार से विकृत या अन्य प्रश्वासात्मक ध्वनि, विसर्ग, से परिवृद्ध—केवल ये ही तत्त्व हैं जो समान अक्षर में स्वर के बाद आ सकते हैं) और यह परवर्ती पंक्ति के साथ हस्तलेखों में इस प्रकार लिखा जाता है :—

अहंरुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यै
रुतविश्वदेवैः। अहंमित्रावरुणोभा
बिभर्म्यहमिन्द्राग्नीअहमश्विनोभा ॥

प्रत्येक अक्षर अलग-अलग लिखा जाता है, और बहुत से लिपिकों ने क्रमागत अक्षरों को एक दूसरे से यत्किञ्चित् विभक्त कर रखा है। जैसे—

अ हं रु द्रे भि र्व सु मि श्च रा म्य ह मा दि त्यै, इत्यादि।

इ—किन्तु पाश्चात्य व्यवहार में परिच्छेदों को विभाजित करना, पद्य की पंक्तियों को एक के बाद अन्य को रखना और लेखनपद्धति को अपरिवर्तित रखकर शब्दों को पृथक्-पृथक् लिखना एक सर्वमान्य प्रचलन-सा हो गया है। द्रष्टव्य परिशिष्ट आ, जहाँ ऊपर दिया गया पद्य इसी रूप में रखा गया है।

ई—इसके अतिरिक्त, भाषा के प्रारंभिक विद्यार्थियों के लिए तैयार की गयी पुस्तकों में अन्त्य व्यंजनों के नीचे विरामचिह्न के (॥) निर्बाध प्रयोग द्वारा शब्दों के अधिक पूर्ण पार्थक्य करने की विधि असाधारण नहीं है। इस प्रकार उदाहरणार्थ—

अहं रुद्रेभिर् वसुभिश् चराम्य् अहम् आदित्यैर् उत विश्वदेवैः ॥

अथवा आदि और अन्त्य स्वरों के संयोगों को भी सूचित करने से (१२६, १२७) :—उदाहरणस्वरूप,

अहं मित्रावरुणो भा बिभर्म्य् अहम् इन्द्राग्नी अहम् अश्विनो भा ॥

उ—लिप्यन्तरण में शब्दों के पृथक्करण की पाश्चात्य विधियाँ निश्चित रूप से अनुसरणीय हैं, भिन्न प्रयोग पाण्डित्य-प्रदर्शन मात्र होगा।

१०–प्रथम भाग के अन्तर्गत, यह उल्लेख्य है कि पूर्ववर्ती व्यंजन के साथ स्वर को संयुक्त करने की विधियाँ इस प्रकार हैं :—

अ—ह्रस्व **अ** का लिखित चिह्न नहीं है, यदि दूसरे स्वर-चिह्न (या विराम) बाद में नहीं लगते, तो व्यंजन-वर्ण ही आनेवाले अ को सूचित करता है। इस प्रकार वर्ण-सारिणी में दिये गये व्यंजन-वर्ण वस्तुतः क, ख, इत्यादि (ह तक) आक्षरिक विधानों के सूचक हैं।

आ—व्यंजन के बाद खड़ी लकीर लगाकर दीर्घ आ लिखा जाता है। जैसे—का, धा, हा।

इ—इसी प्रकार की खड़ी लकीर से ह्रस्व इ और दीर्घ ई लिखे जाते हैं, ह्रस्व इ के लिए वह व्यंजन के पहले और दीर्घ ई के लिए व्यंजन के बाद रखी जाती है, और दोनों ही स्थितियों में माथे की पाई के ऊपर अंकुशाकार चिह्न द्वारा उस व्यंजन में जोड़ दी जाती है। यथा—कि, की, मि, मी, नि, नी।

बायीं या दायीं ओर मुड़नेवाला अंकुशाकार चिह्न ऐतिहासिक दृष्टियों से आकृति का आवश्यक अंग है, शुरू-शुरू में वही सब कुछ था। बाद में अंकुशाकार चिह्न विस्तृत कर दिये गये, जिससे व्यंजन की अगल-बगल काफी दूर पहुँच

गये। हस्तलेखों में वे ऊपर पड़ी पाई तक खींचे नहीं रहते थे, यद्यपि छपाई की आकृति में ऐसी लकीर लगा दी गयी है। इस प्रकार मूलतः 'क क' हस्तलेखों में कि, की, छपाई में कि, की।

ई—ह्रस्व और दीर्घ उ ध्वनियाँ व्यंजनवर्ण के नीचे अंकुशाकार चिह्न लगाकर लिखी जाती हैं। जैसे—कु, कू, डु, डू। संयोजन की आवश्यकता के चलते डु और डू कभी-कभी प्रच्छन्न हो जाते हैं, यथा—ड़ु, ड़ू। र और ह से बने रूप और अधिक विषमित हैं। जैसे रु, रू, हु, हू।

उ—ह्रस्व और दीर्घ ऋ स्वर दायीं ओर खुले, इकहरे या दोहरे, संलग्न अंकुशाकार चिह्न से लिखे जाते हैं। यथा—कृ, कॄ, दृ, दॄ,। हृ–वर्ण में अंकुशाकार चिह्न साधारणतया मध्य में लगाये जाते हैं, जैसे—

पूर्ववर्ती र के साथ ऋ संयोग के लिए, देखिये नीचे १४ ई।

ऊ—लृ स्वर अपने पूर्ण मूलाकार के क्षीण रूप से लिखा जाता है, यथा—लृ। सजातीय दीर्घ का वास्तविक प्रयोग अनुपलब्ध है (२३ अ), किन्तु वह भी मिलते जुलते अल्पाकार चिह्न से लिखा जा सकता है।

ए—सिर की लकीर के ऊपर इकहरे या दोहरे प्रकेतों से संयुक्त कर सन्धि-स्वर लिखे जाते हैं, ओ और औ के लिए व्यंजन के बाद आ चिह्न भी लगाया जाता है। यथा—के, कै, को, कौ।

कुछ देवनागरी हस्तलेखों में (यथा बंगला वर्णमाला में) ऊपर का एकमात्र प्रकेत, या द्विक में से एक व्यंजन के पूर्व आ चिह्न में परिणत हो जाता है। जैसे—कि, ाक, ाके, ाका, ाको।

११–किन्तु, व्यंजन चिह्न अपने नीचे लकीर, जिसे विराम (विराम, समाप्ति) कहते हैं, लगाकर युक्त स्वर के बिना व्यंजन-ध्वनि मात्र को सूचित करने में समर्थ होता है। जैसे—क्, द्, ह्।

चूँकि भारतीय, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वाक्य के शब्दों को अविच्छिन्न रूप से एक शब्द की तरह लिखते हैं (ए अ, आ), विराम का प्रयोग साधारणतया वे वहीं करते हैं जहाँ अन्त्य व्यंजन वाक्य-विराम से पूर्व आता है। किन्तु व्यंजन वर्णों के अस्वाभाविक या क्लिष्ट संयोजन से बचने के लिए भी कभी-कभी छपाई और हस्तलेखों में व्यवहृत होता है—

यथा—**लिङ्भिः, लिट्सु, अङ्क्ष्व**

साथ ही, प्रारम्भिकों के लिए प्रस्तुत किये गये पाठों में यह शब्दो के पार्थक्य को निर्दिष्ट करने के लिए प्रयुक्त होता है (९ ई)।

१२—द्वितीय भाग के अन्तर्गत यह उल्लेख्य है कि मूल वर्णचिह्नों के परिचित को संयुक्त-व्यंजन के बनाने और समझने में साधारणतया कठिनाई नहीं होती है। जिस व्यंजन को दूसरे से युक्त करना है, उसका प्रकृति-अवयव (आड़ी पाई या खड़ी पाई जैसी आकृति बनाने वाली लकीर को छोड़कर) बना रहता है, और सुविधानुसार ये व्यंजन एक दूसरे के साथ रखे जाते हैं, कभी अगल-बगल तो कभी ऊपर-नीचे, कुछ सम्मिलित रूपों में दोनों में से कोई क्रम लागू होता है। जिस व्यंजन का उच्चारण प्रथम अपेक्षित है, उसे अन्य व्यंजन से पूर्व एक क्रम में रखा जाता है और उसके ऊपर दूसरे क्रम में।

अ—अगल-बगल रखने के उदाहरण हैं :—ग्ग, ज्ज, प्य, न्म, त्थ, भ्य, स्क, ष्ण, ल्क।

आ—ऊपर-नीचे के क्रम के उदाहरण होते हैं—**क्क, क्न, ञ्च, ञ्ज, ङ्ग, ष्ट, त्न, त्व।**

१३—किन्तु, कुछ स्थितियों में संयोग के चलते व्यंजन वर्ण के प्रधान का संक्षेपीकरण या प्रच्छन्नीभाव अल्पाधिक मात्रा में प्राप्त होता है। इस प्रकार—

अ—क्त, क्ल में क का, तथा क्ण प्रभृति में।

आ—त्त में त का,

इ—द्ग, द्न, प्रभृति में द का,

ई—म और य का, जब कि दूसरे व्यंजन के परवर्ती होते हैं यथा—क्य क्म, ङ्म, ङ्य, ञ्य, द्य, ह्म, ह्य, छ्य, ढ्य।

उ—व्यंजन के साथ लगने पर श साधारणतया श्‍ हो जाता है। यथा—श्च, श्म, श्व, श्य। यदि नीचे स्वर-चिह्न जोड़ा जाता है, तो इस प्रकार का परिवर्तन सामान्य है, जैसे श्रु, शृ।

ऊ—कुछ संयोग, जहाँ स्वरूप सुस्पष्ट नहीं रह जाता है, हैं—ण्ण, ल्ल, द्ध, द्य, ट्ट, ठ्ठ तथा ह के संयुक्त, जैसे ह्व, ह्न।

ए—एक या दो स्थलों में अवयव वर्णों का बोध नहीं होता है, यथा—क्ष, ज्ञ।

१४—दूसरे व्यंजनों से संयुक्त होने पर र का विकास आपाततः विचित्र ढंग से होता है, यह स्वर-संयोग की तरह है।

अ—किसी दूसरे व्यंजन अथवा संयुक्त व्यंजनों के पहले उच्चारित होने पर यह परवर्ती के ऊपर दायीं ओर खुले अंकुशाक्षर-चिह्न (व्यंजन के नीचे लगनेवाले ऋ स्वर के चिह्न से बहुत कुछ मिलते-जुलते, १० उ) को लगाकर लिखा जाता है। जैसे—र्क, र्ब, र्त्व, र्म्व र्त्स्न।

आ—यदि प्रथम अवयव के रूप में र से युक्त व्यंजन के बाद कोई ऐसा स्वर हो, जिसका अपना चिह्न हो, अथवा उसके चिह्न का कोई अंश हो या नासिक्य वाला उसका चिह्न हो (अनुस्वार; ७०, ७१), तो र-चिह्न और आगे दायीं ओर लिखा जाता है। यथा—र्के, र्कं, र्कि, र्की, र्को, र्कीं, र्कों।

इ—यदि किसी अन्य व्यंजन के बाद र का उच्चारण होता है, चाहे वह स्वर अथवा किसी और व्यंजन से पूर्व हो, तो बायीं ओर तिरछी सीधी लकीर नीचे लगाकर यह लिखा जाता है : जैसे—प्र, ध्र, ग्र, स्र, द्ध्र, न्त्र, ग्र्य, स्र्व, न्त्र; तथा पूर्ववर्ती व्यंजन-चिह्न के ऊपर निर्दिष्ट (१३) परिवर्तनों के साथ, त्र, द्र, श्र, ह्र।

ई—परवर्ती ऋ के साथ र के संयोग होने पर स्वर ही अपने मूल रूप में पूरा-पूरा लिखा जाता है और व्यंजन उसका संलग्न होता है। यथा—र्ऋ।

१५—तीन, चार या पाँच तक व्यंजन वर्णों के विशेष संयोग उन्हीं नियमों के अनुसार बनाये जाते हैं। उदाहरण होते हैं :—

तीन व्यंजनों के—त्त्व, द्ध्य, द्व्य, द्र्य, ध्र्य, प्स्व, श्च्य, ष्ट्य, ह्व्य।

चार व्यंजनों के—क्ष्म्य, ङ्क्ष्य, ष्ट्र्य, त्स्म्य।

पाँच व्यंजनों का—र्त्स्न्य।

अ—हस्तलेख और साथ ही टाइप के साँचे दूसरे विषयों की अपेक्षा व्यंजन-संयोगों की व्यवस्था में एक दूसरे से अधिक भिन्न होते हैं, बहुधा ऐसी विभिन्नताएँ सामने आती हैं जिनको समझने के लिए थोड़े अभ्यास की आवश्यकता होती है। यह सर्वथा अनावश्यक है कि किसी एक विशेष टाइप-फन्ट में अथवा सबों में भी उपलब्ध सभी संभावित संयोगों (इनमें कुछ अत्यधिक विरले हैं) की सम्पूर्ण श्रेणी को व्याकरणशास्त्र में दिया जाय। ऐसा कुछ भी नहीं रह जाता, जिसकी व्याख्या और विश्लेषण ऊपर निर्दिष्ट नियमों और साधारण चिह्नों के समुचित ज्ञानवाला छात्र न कर सके।

१६—अ—हस्तलेखों में कभी-कभी **अवग्रह** (विभाजक) संज्ञावाला चिह्न—यथा ऽ—प्रयुक्त होता है, कभी हाइफेन की तरह, कभी भंग के सूचक जैसा, कभी अन्त्य ए या ओ के बाद आदि अ के लोप के सूचनार्थ (१३५)। मुद्रित पाठ-ग्रन्थों में, विशेषतः यूरोपीय में, यह साधारणतया अन्तिम उल्लिखित प्रयोग में लगाया जाता है, और केवल उसी में, यथा—ते **अब्रुवन्, सो अब्रवीत्** के लिए **तेऽब्रुवन्, सोऽब्रवीत्**।

आ—यदि लुप्त आदि स्वर नासिक्य हो, और यदि उसके ऊपर अनुस्वार चिह्न हो, तो यह साधारणतया और अपेक्षाकृत अधिक संगतरूप से लोप स्वर के

स्थानान्तरित हो जाता है, किन्तु कभी-कभी इसके विपरीत अवग्रह-चिह्न के ऊपर लिखा जाता है। यथा—**सो अंशुमान्** से **सोऽंशुमान्** के लिए **सोंऽशुमान्** या **सोऽंशुमान्।**

इ—जो कुछ लुप्त रहता है, उसके लिए चिह्न ० प्रयुक्त होता है, और प्रसंग से उसका बोध होता है। यथा—**वीरसेनसुतस् ०तम् ०तेन।**

ई—विराम के चिह्न । और ॥ हैं।

पद्य, परिच्छेद प्रभृति की समाप्ति इनमें से दूसरा साधारणतया दो बार प्रयुक्त होता है, गणनाङ्क बीच में रखा जाता है। यथा—॥ २० ॥

१७—संख्यावाची अंक हैं :—

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ०।

बृहत्तर संख्याओं को द्योतित करने के लिए संयोगों में ये ठीक उसी प्रकार प्रयुक्त होते हैं जिस प्रकार यूरोपीय अंकों में। यथा—२५, ६३०, ७०००, १८५४।

१८—भारतीय वैयाकरण विभिन्न ध्वनियों और उनके प्रातिनिधिक वर्णों को **'कार'** (बनानेवाला) लगाकर सूचित करते हैं। स्वर की स्थिति में यह 'कार' वर्ण की ध्वनि में जोड़ा जाता है, व्यंजन की स्थिति अ से युक्त वर्ण में। इस प्रकार ध्वनि या वर्ण अ को अकार कहते हैं, क् ककार होता है, इत्यादि। किन्तु **कार** लुप्त भी होता है, और अ, क प्रभृति स्वतः प्रयुक्त होते हैं। पर र को **रकार** नहीं कहते हैं। इसे केवल र या **रेफ** (गुर्राहट) की संज्ञा दी जाती है। अपने प्रकार के वार्णिक तत्त्व के लिए विशिष्ट नामकरण का एकमात्र उदाहरण यही है। **अनुस्वार** और **विसर्ग** इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हैं।

अध्याय—२

ध्वनि-समुदाय-उच्चारण

१—स्वर

१९—अ, इ और उ-स्वर। संस्कृत में भारत-यूरोपीय भाषा के ये तीन प्राचीनतम एवं सर्वाधिक व्यापक स्वर ह्रस्व और दीर्घ दोनों रूपों में विद्यमान हैं। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ। इनका उच्चारण 'महादेशी' अथवा 'इटालियन' ढंग से होता है—**फर** या **फार्दर, पिन** और **पीक, पुल** और **रूल।**

२०—अ सर्वाधिक विवृत स्वर है। इसका उच्चारण वितत कण्ठ से होता है। व्यंजन-ध्वनियों के वर्गों में से किसी के साथ इसका ज्ञाति-संबंध नहीं है; और इसका कोई अनुरूप अर्धस्वर नहीं है। दूसरी ओर इ और उ संवृत स्वरों में से इ तालव्य है और यह अर्धस्वर य् से होकर तालव्य और कण्ठ्य व्यंजन वर्गों में निविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार उ अपने अर्धस्वर व् के द्वारा ओष्ठ्य वर्ग से सम्बन्धित है, और इसके उच्चारण में ओठ संकरे और गोल किये जाते हैं।

अ—पाणिनीय सम्प्रदाय (पाणिनि व्याकरण, १-१-९ की टीका) अ को कण्ठ्य मानता है। स्पष्टतः ऐसा विधान इसलिए है कि अन्यान्य वर्गों की तरह इस वर्ग में भी एक स्वर का स्थान दिया जाय। प्रातिशाख्यों में से एक ने भी अ को क आदि के साथ एक वर्ग में नहीं रखा है। ये सभी प्रमाण-ग्रन्थ इ और उ को क्रमशः तालव्य और ओष्ठ्य स्वर मानने में सहमत हैं।

२१—भारत में ह्रस्व अ, आ का ह्रस्व रूप होकर भी, आ की तरह विवृत उच्चरित नहीं होता है। किन्तु इसका उच्चारण साधारणतया उदासीन स्वर के समान (**बट्** but, **सन्** son, **ब्लड्** blood आदि के अंग्रेजी तथा-कथित ह्रस्व "अॅ" की तरह) होता है। यह वैशिष्ट्य अति प्राचीन काल का प्रतीत होता है, क्योंकि पाणिनि ने तथा प्रातिशाख्यों में से दो ने (अ० प्रा० १ ३६, वा० प्रा० १ ७२) माना है कि इसका उच्चारण संवृत, ढँका, मलिन, है। ऐसे पाश्चात्य विद्वानों को, जिन्होंने भारतवर्ष में अध्ययन किया है, छोड़कर अन्य विद्वानों की दृष्टि में इसका परिलक्षित न होना स्वाभाविक है।

२२—अ-स्वर भाषा के व्यापक प्रयोग में आनेवाली स्वर-ध्वनियों में है, (सन्धि स्वरों को सम्मिलित कर) सब स्वरों के प्रयोग के दुगुने से अधिक अ का प्रयोग है। इसी प्रकार अ-स्वर उ-स्वरों के दुगुने के लगभग हैं। और प्रत्येक युग्म में, ह्रस्व स्वर दीर्घ के दुगुने से अधिक (अढ़ाई से तिगुने तक) सामान्य हैं।

अ—इनके तथा दूसरे आक्षरिक अवयवों की प्रयोग-संख्या के अधिक निश्चित निर्धारण और उनके प्राप्त करने की विधि के लिए द्रष्टव्य नीचे ७५।

२३—ऊपर दिये गये तीन सरल स्वरों के अतिरिक्त दो और स्वर ऋ और ऌ संस्कृत में उपलब्ध हैं, जो अन्य स्वर से युक्त क्रमिक र या ल् वाले अक्षरों के संक्षेपण से स्पष्टतः उत्पन्न हैं। प्रायः सर्वत्र ऋ अर् या र से (देखिए २३७-२४१-३) प्राप्त हैं, और ऌ अल् से।

अ—कुछ भारतीय वैयाकरण दीर्घ ॡ को भी वर्णमाला में रखते हैं। किन्तु

ऐसा कृत्रिम सममिति के लिए ही किया जाता है, क्योंकि भाषा के एक भी यथार्थ शब्द में यह ध्वनि नहीं मिलती है।

२४—ऋ-स्वर मसृण अथवा अकम्पित ध्वनि र् ही है जो आक्षरिक निर्माण के लिए स्वर-रूप ग्रहण करती है—जिस प्रकार कुछ स्लावी भाषाओं में समान संक्षेपण से ऐसा हुआ है। स्वर लृ उसी ढंग से उच्चरित ल् ध्वनि है—**एब्ल्** able, **ऑंग्ल्** angle, **आड्ल्** addle जैसे शब्दों के अंग्रेजी ल्-स्वर की तरह।

अ—आजकल भारतीय इन स्वरों का उच्चारण रि, री, लि–(या ऌ भी)–जैसा करते हैं, जहाँ शुद्ध र् और ल् ध्वनियों में स्वर-प्रयोगिता लाने की अनुकूलता और प्रकृति एकदम लुप्त हो गयी है। अधिकांशतः यूरोपीय विद्वान् उनकी पद्धति का ही अनुसरण करते हैं, और फलस्वरूप (विकृत और सर्वथा आपत्तिजनक) लिप्यंतरण ṛi, ṛī, ḷi भी प्रचलित हो गये हैं। शुद्ध उच्चारण की प्राप्ति और प्रयोग करने में वास्तविक कठिनाई नहीं होती है।

आ—कुछ वैयाकरण (देखिए अ० प्रा० १-३७, टिप्पणी) इस ढंग से परिभाषा देने का प्रयास करते हैं, जैसा कि इन स्वरों में र् या ल् प्रधान अवयव किसी और के साथ युक्त किया गया हो।

२५—अपने सजातीय र् और ल् अर्धस्वरों की तरह ये स्वर क्रमशः सामान्य मूर्धन्य और ओष्ठ्य वर्गों में आते हैं; ऋ और ॠ के सन्ध्यात्मक प्रभाव (१८९) से यह स्पष्ट प्रतीत होता है। पाणिनीय व्याकरण में इनका वर्गीकरण इसी प्रकार से हुआ है; किन्तु विलक्षणता यह है कि प्रातिशाख्यों में ये साधारणतया जिह्वामूलीय ध्वनियों, हमारी 'कण्ठ्य', के रूप में वर्गीकृत हैं।

२६—प्रत्येक प्रकार के शब्द में और सभी स्थानों में ह्रस्व ऋ प्राप्त है। इसका प्रयोग कम नहीं है, प्रायः उतना ही जितना कि दीर्घ ऊ का। दीर्घ ॠ का प्रयोग बहुत कम है, और ऋकारान्त संज्ञा-शब्दों की कुछ बहुवचन विभक्तियों के रूप में (३७१ आ, ई, ३७५) यह मिलता है। सर्वथा अप्रसिद्ध (क्लृप्) क्रियामूल के कुछ रूपों में और उससे साधित शब्दों में ही लृ ध्वनि प्राप्त है।

२७—सन्धि-स्वर। चार सन्धि-स्वरों में से दो ए और ओ बहुत-कुछ मूल भारत-यूरोपीय ध्वनियाँ हैं, संस्कृत में ये ध्वनियाँ क्रमशः इ और उ की विस्तृति या परिपुष्टि के परिणाम स्वरूप प्रतीत होती हैं, और इन्हें उनके अनुरूपी गुण-स्वरों की संज्ञा (देखिए नीचे २३५ मु० वि०) दी जाती है। अन्य दो, ऐ और औ, संस्कृत की विशिष्ट उपज हैं; और ये भी इ और उ की अन्य एवं विशेष विस्तृति के परिणाम हैं जिनके अनुरूपी वृद्धि-स्वर (नीचे २३५ मु० वि०)

ये अभिहित हैं। किन्तु सबके-सब यदा-कदा एक ही तरह आक्षरिक संयोग (१२७) से उत्पन्न हैं, और ओ का प्रयोग विशेषतः अन्त्य **अस्** के परिवर्तन के फलस्वरूप बहुत अधिक है।

२८—भारत और यूरोप, दोनों ही जगह, ए और ओ का उच्चारण साधारणतया उसी प्रकार होता है जिस प्रकार ये लिप्यन्तरित होते हैं—अर्थात् दीर्घ ए (अंग्रेजी 'दीर्घ आ' या They में e की तरह) और ओ-ध्वनियों की तरह सन्धि-स्वरूप के बिना इनका उच्चारण होता है।

अ—अस्पष्टतः ऐसा ही उच्चारण प्रातिशाख्यकारों के समय में था, कारण, उन्होंने इनको **सन्ध्यक्षरों** में रखा, पर इनके उच्चारण के लिए ऐसे नियम बनाये जैसे कि ये वस्तुतः मूल-स्वर रहे हों। परन्तु इनके आक्षरिक विश्लेषण से स्पष्ट जान पड़ता है कि ये उस समय के हैं जब आक्षरिक नियम स्वतः प्रतिष्ठित हो गये थे, क्योंकि ये निस्संदेह प्रारम्भ में संध्यक्षर थे—ए (अ + इ) और ओ (अ + उ)। इसी आधार पर अपने अ-अवयव की मात्रा के चलते गुरुतर या वृद्धि सन्ध्यक्षर इनसे पृथक् किये जाते हैं, यथा—ऐ (आ + इ) और औ (आ + उ)।

आ—प्रातिशाख्यों ने (देखिए अ० प्रा० १–४०, टिप्पणी) वृद्धि सन्ध्यक्षरों के दो अंशों के स्पष्ट पार्थक्य का निर्देश किया है, किन्तु इनके अंशों का सम्बन्ध या तो समान निर्धारित किया जाता है अथवा इ और उ की अपेक्षा अ की मात्रा कम मानी जाती है।

२९—लघुतर या गुण सन्ध्यक्षरों का प्रयोग गुरुतर या वृद्धि सन्ध्यक्षरों के प्रयोग की अपेक्षा बहुत अधिक (छः या सात गुना) है। इसी प्रकार ए और ऐ ओ और औ के डेढ़ गुने हैं। इ और उ मूलस्वरों के प्रयोग के आधे से कुछ ही अधिक दोनों युग्मों का प्रयोग हुआ है।

३०—**व्वाएल्स** Vowels के लिए भारतीय वैयाकरणों द्वारा दिया गया सामान्य नाम स्वर है। सरल स्वरों को **समानाक्षर** कहते हैं, और संयुक्त स्वरों को **सन्ध्यक्षर** कहा जाता है। इनके उच्चारण में उच्चारणावयव की स्थिति विवृति अथवा संवृति की अवस्था-जैसी निर्धारित होती है।

अ—मात्रा और स्वराघात के लिए द्रष्टव्य ७६ मु० वि०, ८० मु० वि०।

२—व्यंजन

३१—कनसोनैन्ट Consonant के लिए भारतीय नाम **व्यंजन**, उद्भावक, है। वैयाकरण व्यंजन को **स्पर्श** या स्फोट, **अन्तःस्था** मध्यवर्ती या अर्धस्वर

और **ऊष्मन्** में विभक्त करते हैं। यहाँ इनका ग्रहण और विवेचन इसी क्रम में होगा।

३२—**स्पर्श** इसलिए कहे जाते हैं कि इनमें उच्चारणावयवों का पूर्ण अवरोध या **स्पर्श** होता है, मात्र सन्निकटन नहीं। स्पृष्ट उच्चारणावयवों अथवा अंग-विशेषों में आधार पर ये पाँच कोटियों या वर्गों में विभक्त किये जाते हैं; प्रत्येक वर्ग में पाँच ध्वनियाँ होती हैं जो स्पर्श के संगमन के चलते एक दूसरी से भिन्न हैं।

३३—ये पाँच स्पर्श वर्ग क्रमशः कण्ठ्य, तालव्य, जिह्विक (अथवा मूर्धन्य), दन्त्य और ओष्ठ्य कहे जाते हैं; ये उपर्युक्त क्रम में ही रखे जाते हैं, यथा—मुख के अन्दर पश्चतम भाग में स्पर्श से प्रारम्भ कर तदनन्तर एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त करता हुआ अग्रतम भाग में स्पर्श शेष होता है।

३४—प्रत्येक वर्ग में दो अघोष, दो सघोष और एक नासिक्य (वह भी सघोष होती है) ध्वनियाँ हैं। यथा—ओष्ठ्य वर्ग में प् और फ्, ब् और भ्, तथा म्।

अ—भारतीय वैयाकरण इन वर्णों को क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और अन्तिम या पंचम कहते हैं।

आ—सर्ड अर्थात् कठोर व्यंजन **अघोष,** घोषरहित, कहलाते हैं और सोनेन्ट अर्थात् कोमल व्यंजन **घोषवन्त,** नादयुक्त; तथा वैयाकरणों द्वारा दिया गया विवरण इन्हीं शब्द-प्रयोगों के अनुरूप है। नाद के चलते भिन्नता को मानने में सभी एकमत हैं, किन्तु दो बृहद् वर्गों में विभक्त होनेवाली सम्पर्क-जनित अथवा निष्कासन की प्रक्रिया-मूलक प्राणता की भिन्नता को लेकर नहीं। इसके अतिरिक्त (स्वरयन्त्र के) **विवार,** खुलने, या **संवार** बन्द होने, के आधार पर भेद होता है, इसे भी वैयाकरण मानते हैं।

३५—प्रत्येक वर्ग की प्रथम और तृतीय ध्वनियाँ यूरोपीय भाषाओं के तदनुरूपी सामान्य अघोष और सघोष स्पर्श व्यंजन हैं। उदाहरणार्थ, क् और ग्, त् और द्, और ब्।

३६—नासिक्य-व्यंजन का स्वरूप किसी प्रकार संदिग्ध नहीं है। जिस प्रकार का सम्बन्ध म् का प् और ब् के साथ, अथवा न् का त् और द् के साथ है, वही अन्य प्रत्येक नासिक्य का अपने वर्ग के साथ है—नासिका-द्वार अथवा नासिका के मध्य सघोष ध्वनि मुक्त होती है और साथ ही मुख के अन्दर वायु का पूर्ण अवरोध होता है।

अ—भारतीय वैयाकरणों ने स्पष्टतः यही परिभाषा दी है। नासिक्य (नासिका होकर निर्गत) ध्वनियाँ मुख और नासिका दोनों द्वारा उच्चरित मानी जाती हैं, अथवा इनमें **अनुनासिक्य** (अनुनासिकता) नासिका-विवर के खुलने से उत्पन्न होता है।

३७—प्रत्येक वर्ग की द्वितीय और चतुर्थ ध्वनियाँ महाप्राण हैं; फलतः क् अघोष व्यंजन के साथ तदनुरूपी अघोष महाप्राण ख् हमें प्राप्त है, और सघोष ग् का अनुरूपी सघोष महाप्राण घ् है। इनका निश्चित लक्षण अत्यधिक अस्पष्ट और दुर्बोध है।

अ—यह तथ्य निस्सन्दिग्ध है कि इनमें से सभी महाप्राण वास्तविक व्यंजन अथवा स्पर्श ध्वनियाँ हैं (यूरोपीय th, ph और ch प्रभृति की तरह), घृष्ट नहीं।

आ–इसमें भी सन्देह नहीं है कि किस प्रकार अघोष थ्, उदाहरणार्थ, अल्पप्राण ध्वनि त् से भिन्न है—इस प्रकार की सप्राण ध्वनियाँ बहुत-सी एशियाई भाषाओं तथा कुछ यूरोपीय भाषाओं में प्राप्त हैं; इनके उच्चारण में प्राणत्व अथवा स्फुटन का थोड़ा-सा घर्षण अवरोध के मोचन और परवर्ती ध्वनि के उच्चारण के मध्य निःसृत होता है। ठीक ही, ये ध्वनियाँ थ् आदि संकेतों द्वारा सूचित होती है, जिनको, समान प्राचीन ग्रीक-महाप्राणध्वनियों के लैटिन प्रतिपादन की अनुकृति में, हम इसी रूप में लिखने के अभ्यस्त हैं।

इ—सघोष महाप्राण-ध्वनियों को इसी प्रकार सघोष वायु के अवरोध के युक्त होने पर प्रत्यक्ष ह्-ध्वनि के साथ उत्पन्न माना गया है और तथाविध इनका वर्णन हुआ है। किन्तु इस विवेचन के मानने में बड़ी सैद्धान्तिक आपत्तियाँ सामने आती हैं; और कुछ श्रेष्ठ ध्वनिशास्त्री इससे सहमत नहीं हैं कि वर्तमान भारतीय उच्चारण में कोई वैसा लक्षण विद्यमान है। ये विद्वान् स्पर्श के परवर्ती अवयव को **"कण्ठद्वारीय गुंजन"** या वस्तुतः परगामी ध्वनि के प्रारम्भ का प्रबल उच्चारण मानते हैं। यह प्रश्न बड़ा ही जटिल है और यहाँ उच्चतम कोटि के विद्वानों के मत विभिन्न हैं। भारत में घोष महाप्राणध्वनियाँ अब भी जनभाषा तथा साहित्यिक भाषाओं के उच्चारण में प्रयुक्त हैं।

ई—प्रातिशाख्यों में दोनों प्रकार की महाप्राण ध्वनियों को **सोष्मन्** कहा गया है जिसका तात्पर्य या तो श्वास (ऊष्मन् का व्युत्पत्तिक अर्थ लेने पर) की झपट लेकर है, या ऊष्म ध्वनि लेकर (द्रष्टव्य–५९)। तथापि कुछ भारतीय विद्वान् मानते हैं कि अघोष महाप्राण-ध्वनियाँ प्रत्येक अघोष अल्पप्राण की निजी अनुरूप अघोष ऊष्म ध्वनि के साथ सम्मिलित होने से उच्चरित हैं; और सघोष महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण प्रत्येक सघोष अल्पप्राण और सघोष

ऊष्म, ह्-ध्वनि के सम्मिलन से होता है (नीचे, ६५)। किन्तु इस प्रकार इससे महाप्राण ध्वनियों के विभिन्न स्वरूपवाले दो वर्ग हो जायँगे, और साथ ही, थ् त्स् के, ठ् ट्ष् के और छ् च्श् के समरूप बन जायँगे—जो किसी प्रकार केवल अन्तिम को लेकर सम्भव है। महाप्राण ध्वनियों के लिए पाणिनि ने कोई नाम नहीं दिया है; (उनके सूत्र १-१-९ की) वृत्ति के आधार पर इनमें **महाप्राण,** प्रबल उच्छ्वास, का आरोपण किया जाता है, अल्पप्राण ध्वनियों में **अल्पप्राण**, दुर्बल उच्छ्वास, का।

उ—सामान्य रूप से यूरोपीय विद्वान् दोनों प्रकार की महाप्राण ध्वनियों को तदनुरूपी अल्पप्राण ध्वनियों के बाद ह् जोड़कर उच्चारण करते हैं; उदाहरणार्थ, थ् प्रायः अंग्रेजी बोट्हूक boathook में प्रयुक्त–जैसा, फ् हैफ्जार्ड haphazard में, घ् मैद्हाउस madhouse में एभोर abhor में जैसे, इत्यादि। यह (जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं) केवल अघोष महाप्राण ध्वनियों में ठीक-ठीक लागू होता है।

३८—(बहुतों के मत में) सघोष महाप्राण मूल भारत-यूरोपीय ध्वनियाँ हैं अथवा कम-से-कम उनका प्रतिनिधित्व करते हैं, जब कि अघोष महाप्राण भारतीय विकास की विशेषता है। सघोष महाप्राण अघोष महाप्राणों के दुगुने से भी अधिक प्रचलित हैं। अल्पप्राण (निरनुनासिक) स्पर्श महाप्राण व्यंजनों की अपेक्षा अत्यधिक बहुल (५ गुने) हैं (भ् और मूल घ् की विशेष बारं-बारता के लिए, द्रष्टव्य ५० और ६६); तथा इनमें अघोष सघोषों से अधिक संख्या (२½ गुने) में प्राप्त हैं। अनुनासिक (मुख्यतः न् और म्) अघोष अल्पप्राणों के लगभग आये हैं।

अब हम विभिन्न व्यंजनवर्गों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

३९—कण्ठ्य वर्ग—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्। ये यूरोपीय सामान्य क् और ग् ध्वनियाँ, साथ ही तदनुरूपी महाप्राण ध्वनियाँ और नासिक्य ध्वनि (अन्तिम रूप अंग्रेजी singing सिंगिङ् की ng ध्वनि) हैं।

अ—प्रातिशाख्यों में माना गया है कि कण्ठ्यव्यंजन हनु या कल्ले के मूलांश के जिह्वामूल द्वारा स्पर्श होने पर उच्चरित होते हैं और जिह्वामूल के आधार पर इन्हें जिह्वामूलीय कहा गया है। पाणिनि व्याकरण इन्हें केवल कण्ठ्य रूप में वर्णित करता है। परवर्ती स् के ऊपर क् के श्रुतिमूलक प्रभाव (द्रष्टव्य, १८०) को ध्यान में रखकर हम सम्भवतः अनुमान कर सकते हैं कि इनका उच्चारण जिह्वा को मुख के पश्च भाग में ले जाकर होता था।

४०—कण्ठ्य वर्ग में क् ही सर्वाधिक सामान्य है, अन्य चार ध्वनियों के सम्मिलित प्रयोगों से भी अधिक इसके प्रयोग आये हैं। अपने वर्ग के किसी व्यंजन के पूर्ववर्ती प्रयोग को छोड़कर अनुनासिक ध्वनि खूब सीमित शब्दों के अन्त (परगामी क् के होने पर, ३८६, ४०७) में ही प्राप्त होती है अथवा अन्त क् और परवर्ती अनुनासिक के समीकरण के रूप में यह पायी जाती है (१६१)।

४१—संस्कृत कण्ठ्य ध्वनियाँ भारत-यूरोपीय ध्वनियों के एक छोटे अंश का ही प्रतिनिधित्व करती हैं; भारत-यूरोपीय कण्ठ्य ध्वनियाँ अन्य सभी व्यंजन वर्गों की ध्वनियों की अपेक्षा अधिक विकृत हुई हैं। परिवर्तन की प्रक्रिया में, जो कि भारत-यूरोपीय काल में आरम्भ हो गयी थी, तालव्य-व्यंजन, तालव्य सोष्म ध्वनि श् तथा महाप्राण ह् सभी कण्ठ्य ध्वनियों से विकसित हैं। इन विभिन्न ध्वनियों को नीचे देखिए—

४२—तालव्य वर्ग—च्, छ्, ज्, झ्, ञ्।

सम्पूर्ण तालव्य वर्ग विकसित है, जो कि मूल कण्ठ्य ध्वनियों के विकार से उत्पन्न है। च् मूल क् से निष्पन्न है तथा इसी प्रकार तालव्य सोष्म श् भी (द्रष्टव्य नीचे, ६४)। इसी तरह ज् ग् से विकसित हुआ है; किन्तु संस्कृत ज् में परिवर्तन की दो स्थितियाँ हम पाते हैं, एक क् से च् में परिणति के अनुरूप, और दूसरी क् से श में परिवर्तन के अनुरूप (द्रष्टव्य नीचे, २१९)। ज् की अपेक्षा च् किञ्चित् अधिक (लगभग तीन और चार के अनुपात में) प्रयुक्त हुआ है। महाप्राण छ् बहुत कम (च् का दशम) प्रयुक्त हुआ है, तथा मूल संयुक्त स्क् से निष्पन्न है। सघोष महाप्राण ध्वनि झ् अत्यधिक विरल है (ऋग्वेद में एक बार ही आयी है, अथर्ववेद में एक बार भी नहीं, तथा सम्पूर्ण प्राचीनतर भाषा में आधे दर्जन के लगभग); जहाँ कहीं पायी गयी है, वहाँ यह या तो अनुरणन-मूलक है, या असंगति प्राप्त, अथवा यह भारत-यूरोपीय मूलेतर। अनुनासिक ञ् ध्वनि अपने वर्ग की ध्वनियों से किसी एक के अव्यवहृत पूर्व—या कुछ शब्दों में बाद में भी (२०१) लगने के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं आती है।

४३—अतएव श्रुतिमूलक प्रक्रियाओं में तालव्य ध्वनियों का विकास बहुत अंशों में विलक्षण है। कुछ अवस्थाओं में मूल अपरिवर्तित कण्ठ्य-ध्वनि का विपर्यय ही देखा जाता है—अथवा जैसा कि संस्कृत की वस्तु-स्थिति से स्पष्ट है, तालव्य अपने मूल कण्ठ्य रूप में प्रत्यावर्तित हो जाता है। पदान्त में कोई तालव्य ध्वनि नहीं आती है। ज् का ग्रहण विभिन्न रूपों में होता है, जैसा कि यह परिवर्तन की एक या दूसरी श्रेणी का प्रतिनिधित्व करता है। साथ ही, च् और ज् अनुरूपी

कठोर और नाद-जैसे (वैयाकरणों के बीजगणितात्मक सूत्रों में कृत्रिम ढंग से प्रयुक्त को छोड़कर अन्यत्र) कहीं विनिमयित नहीं होते ।

४४—इन तालव्य व्यंजनों का उच्चारण यूरोपीय विद्वान्, साथ ही आधुनिक भारतीय (Church और Judge में प्रयुक्त) अंग्रेजी च् और ज् की यौगिक ध्वनियों की तरह करते हैं ।

अ—प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने जो वर्णन इनका किया है उससे इनमें अन्य स्पर्शों की अपेक्षा पूर्ण शुद्ध प्रकृति की न्यूनता नहीं दिखाई पड़ती है । ये ध्वनियाँ तालव्य कहलाती हैं, तथा इनका उच्चारण जिह्वा के मध्य भाग द्वारा तालु के स्पर्श से माना गया है । फलतः इनकी स्थिति कण्ठ्य स्थान से आगे की ओर प्रतीत होती है, और मूर्धा स्थान (दे० ४५) के निकट कठोरतालु से लगकर इनकी सृष्टि होती है, किन्तु जिह्वा के नुकीले भाग की जगह उसकी ऊपरी चपटी सतह से ही संयोग होता है । सभी भाषाओं में ऐसी ध्वनियाँ (अंग्रेजी) च् और ज् ध्वनियों में सहज चली आती हैं । पूर्ववर्ती स्वर को 'स्थानजन्य दीर्घ' बनानेवाली छ् की प्रयोगिता (२२७), और त् + श द्वारा इसकी सामान्य उत्पत्ति से (२०३) ऐसी संभावना बन जाती है कि इसका यह लक्षण प्रारम्भ से ही विद्यमान हो । तुलनीय ३७ ई, ऊपर ।

४५—मूर्धन्य वर्ग—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् । सभी देशी विद्वान् मानते हैं कि मूर्धन्य व्यंजनों के उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग उलटकर तालु के शिरस्थान को छूता है (बहुत कुछ जैसा कि अंग्रेजी का सामान्य मसृण र् उच्चरित होता है) । इनको वैयाकरणों ने मूर्धन्य कहा है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है शीर्ष ध्वनियाँ, प्रमुख अथवा मस्तक सम्बन्धी ध्वनियाँ, जो पद यूरोपीय अनेक व्याकरणों में खेरेब्रल द्वारा रूपान्तरित होता है । व्यवहार में यूरोपीय संस्कृतज्ञों द्वारा इन्हें दन्त्य ध्वनियों से भेद रखने का प्रयास नहीं किया जाता है : ट् त् की तरह उच्चरित होता है, ड् द् की तरह और इसी प्रकार दूसरे भी ।

४६—मूर्धन्य ध्वनियों की अन्य अमौलिक श्रेणी है, ये ध्वनियाँ मुख्यतया परवर्ती वर्ग दन्त्य के ध्वनि-परिवर्तन के स्वरूप आयी हैं, किन्तु साथ ही, आंशिक रूप में ऐसे शब्दों में प्राप्त हैं जिनका भारत-यूरोपीय संबन्ध अप्राप्य है और जो संभवतः भारत की (आदिम) आर्येतर भाषाओं से निष्पन्न हैं । भाषा के इतिहास में मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति विधिमूलक है :—संलग्न अथवा निकटवर्ती मूर्धन्य ध्वनियों के प्रभाव से दन्त्य-ध्वनियाँ सहज ही मूर्धन्य बन जाती हैं, किन्तु यह बात विपरीत दिशा में नहीं पायी जाती है; और साथ ही इस वर्ग की सभी

ध्वनियाँ उत्तरकालिक भाषा में स्पष्टतः अधिक मिलती हैं। सामान्य रूप से ये ध्वनियाँ जिन अवस्थाओं में प्राप्त हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

(१) नीचे (१८०, २१८ मु० वि०) निर्दिष्ट सन्धिमूलक परिस्थितियों में स् से और अपेक्षाकृत विरल भाव से श्, ज्, क्ष् से स् द्वारा ष् ध्वनि प्राप्त होती है; (२) दन्त्य व्यंजन परवर्ती ष् के सम होकर मूर्धन्य (ट्, ठ्, ण्, १९७) बन जाते हैं; (३) समान-पद में मूर्धन्य स्वर या अन्तःस्थ या सोष्म ध्वनि के बाद (१८९ मु० वि०) न्-ध्वनि बहुधा ण् में परिवर्तित हो जाती है; (४) ढ्, जो अति विरल प्रयोग वाला है, ष् के (१९८ अ) या ह् (२२२) के बाद दन्त्य व्यंजन के समीकरण से विकसित है; (५) ट् और ड् यदा-कदा किसी अन्य ध्वनि के, जिसकी पदान्त स्थिति अविहित है (१४२, १४५–७), स्थानापन्न होने से प्राप्त हैं। यदि विकास ऊपर की किसी कोटि का है, तो मानना होगा कि मूर्धन्य वर्ण सहज हैं; पर इनकी प्राप्ति की अन्य अवस्थाएँ होने से ये या तो अस्वाभाविक विकृति के परिणाम-स्वरूप हैं, या उन शब्दों के अ-भारत-यूरोपीय लक्षण के प्रतीक हैं जिनमें ये प्राप्त हैं।

अ—कुछ अवतरणों में, जिनका संख्यात्मक परीक्षण (नीचे ७५) हुआ है, ऐसा देखा गया है कि मूर्धन्य स्पर्शों के अपसामान्य प्रयोग सम्पूर्ण संख्या के आधे से कम (१५७ में ७४) थे, और इनमें से अधिकांश (४३) ण् के ही; उत्तरकालिक अवतरणों में सब अधिक मात्रा में प्राप्त थे। ऋग्वेद में अपसामान्य ट् मात्र १५ शब्दों में मिलता है; उस प्रकार का ठ् केवल छः में, वैसा ढ केवल एक में; लगभग २० (९ धातुओं को सम्मिलित कर, इनमें से प्रायः सब-के-सब व्युत्पन्न शब्द हैं) में अपसामान्य ड् देखा जाता है, इसके अतिरिक्त ९ जिनमें ण्ड् है; तथा ३० जगह (१ धातु को लेकर) हम ण् पाते हैं।

आ—सबों को एक साथ लेकर मूर्धन्य व्यंजनों का सर्वाधिक विरल वर्ग (वर्णमाला के १½ प्रतिशत के लगभग) ही होते हैं, यहाँ तक कि तालव्य व्यंजनों के भी प्रयोगों के आधे प्रायः ही इनके प्राप्त हैं।

४७—दन्त्य वर्ग—त्, थ्, द्, ध्, न्। भारतीयों ने भी इन्हें दन्त्य कहा है, और माना है कि इनका उच्चारण दाँतों (अथवा दन्त-मूलों) को जीभ के नुकीले भाग से छू कर होता है। ये वस्तुतः हमारी यूरोपीय त्, द्, न् की अनुरूप ध्वनियाँ हैं।

अ—किन्तु ऐसा माना जाता है कि आधुनिक भारतीयों द्वारा दन्त्य ध्वनियों का उच्चारण जिह्वा के नुकीले भाग के अधिक आगे झटका कर ऊपर के दाँतों को छूने से होता है, जिससे उनकी ध्वनियाँ अंग्रेजी और आधुनिक ग्रीक भाषा

की थ्-ध्वनियों के वैलक्षण्य से किञ्चित् रंजित दिखाई देती हैं। यूरोपीय (विशेषतः अंग्रेजी) दन्त्य ध्वनियों में इस गुण के अभाव चलते ही निस्संदेह ये ध्वनियाँ भारतीय के कान को मूर्धन्य-जैसी अधिक लगती हैं, और इसीलिए वह यूरोपीय शब्दों को मूर्धन्यों द्वारा ही लेखबद्ध करने में प्रवृत्त होता है।

४८—दन्त्य ध्वनियाँ भारत-यूरोपीय मूल स्पर्श वर्गों में से एक है। संस्कृत में इनके प्रयोग अन्य चार वर्गों के सम्मिलित प्रयोगों के लगभग ही हुए हैं।

४९—ओष्ठ्य वर्ग—प्, फ्, ब्, भ्, म्। भारतीय वैयाकरण भी इन्हें ओष्ठ्य कहते हैं। वस्तुतः ये हमारे प्, ब्, भ् के समरूप हैं।

५०—ओष्ठ्य ध्वनियों के संख्यात्मक संबन्ध बहुत कुछ विलक्षण हैं। भारत-यूरोपीय में ब् के अभाव (अथवा प्रायः सम्पूर्ण अभाव) के कारण संस्कृत में भी ब् के प्रयोग भ् की अपेक्षा बहुत कम हैं; भ् सभी सघोष महाप्राण ध्वनियों में सर्वाधिक सामान्य है, जब कि फ अघोष ध्वनियों में सर्वाधिक असामान्य। अनुनासिक म् ध्वनि (पदान्त में इसके अनेक सन्धिजन्य परिवर्तनों के होते भी, २१२ मु० वि०) लगभग उतनी ही बार आती है जितनी बार अन्य चार वर्गों की अनुनासिक ध्वनियाँ एक साथ मिलाकर।

अ—भाषा के इतिहास में प्रारम्भिक काल से ही, किन्तु उत्तर काल में अधिकतर, ब् और व् का परस्पर परिवर्तन देखा जाता है, अथवा हस्तलेखों में इन दोनों का भेद समाप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप, दोनों प्रकार के द्विक धातुरूप वृह्, बाध् और वध् प्रभृति मिलते हैं। बँगला पाण्डुलिपियों में अधिक मौलिक ब् की जगह व् व्यापकतया लिखा जाता है।

५१—अर्ध-स्वर : य्, र्, ल् ब्।

अ—भारतीय वैयाकरणों ने इन ध्वनियों के इस वर्ग का नाम **अन्तःस्थ,** मध्य में स्थित, दिया है, इसलिए कि ध्वनि-लक्षण की दृष्टि से ये स्वर और व्यंजन के मध्य आती हैं, अथवा (अधिक संभावना इसीकी है) इसलिए कि व्यंजन वर्णों के क्रमस्थापन में स्पर्श और ऊष्म ध्वनियों के बीच इन्हें रखा जाता है।

आ—उच्चारणस्थान की दृष्टि से अर्धस्वर स्पष्टतः विभिन्न स्पर्श-वर्गों के सजातीय हैं, और भारतीय वैयाकरणों द्वारा—कुछ मतभेद के रहते भी-इनका वर्गीकरण उन स्पर्श वर्गों के साथ हुआ है। ये ध्वनियाँ उच्चारणावयवों की ईषत् स्पृष्ट अथवा दुःस्पृष्ट अवस्था में उच्चरित मानी जाती हैं।

५२—र् भाषा की श्रुतिमूलक प्रक्रिया में अपने प्रभाव के चलते स्पष्टतः एक मूर्धन्य ध्वनि के रूप में आती है, या यह ऐसी ध्वनि है जिसके उच्चारण में

जिह्वा का नुकीला भाग उलट-पुलटकर तालु के शीर्ष स्थान को छूता है। इस प्रकार यह अंग्रेजी की मसृण र् ध्वनि के समान होती है, और उसी प्रकार यह अकम्पित-जैसी लगती है।

अ—पाणिनि-व्याकरण र् को मूर्धन्य मानता है; किन्तु प्रातिशाख्यों में से किसी ने ऐसा नहीं माना है, साथ ही इसके वर्णन में ये पूर्णतः एक दूसरे से सहमत नहीं हैं। अधिकांशतः इन्होंने इसका स्थान "दन्तमूल" वर्त्स माना है। इस तरह इसका स्थान घोषीकृत 'र्' की तरह होगा, किन्तु इस कोटि में इस ध्वनि को रखने का संकेत किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है।

आ—बारंबारता की दृष्टि से सूची में र् बहुत ऊपर आता है, यह ब्, न् म् और य् के प्रायः समान है, केवल त् से पीछे पड़ता है।

५३—ल् दन्त्य ध्वनि है, और तथाविध वर्णन और वर्गीकरण सभी देशी विद्वानों ने किया है।

अ—नोक से स्पर्श बनाती हुई जिह्वा के पार्श्व से वायु-प्रक्षेपण की जो विशिष्ट प्रकृति ल् ध्वनि में प्राप्त है उसका संकेत किसी भारतीय ध्वनिशास्त्री ने नहीं किया है।

आ—संस्कृत में र् और ल् अर्धस्वर धातुओं और प्रत्ययों में, यहाँ तक कि उपसर्गों में भी, अधिक व्यापक रूप से विनिमय योग्य हैं। बहुत कम ही ल् वाली ऐसी धातुएँ हैं जिनमें र् वाले रूप नहीं पाये जाते। कुछ ग्रन्थों में किसी एक वर्ण से युक्त शब्द मिलते हैं, एक ही ग्रन्थ के अन्य भागों में दूसरे वर्ण से युक्त शब्द उपलब्ध होते हैं। भाषा के उत्तर कालों में ये दोनों अधिक भिन्न हो जाते हैं, और ल् निश्चित रूप से अधिक आने लगता है, यद्यपि र् की अपेक्षा यह सर्वदा अधिक विरल रूप में ही प्राप्त है (मात्र १ और ७ या ८ या १० के अनुपात में)।

५४—कुछ वैदिक ग्रन्थों में अन्य प्रकार की ल् ध्वनि किंचित् भिन्न रूप में चिह्नित (वर्णमाला के अन्त में यह किया है, ५) मिलती है, जो स्वर-मध्यस्थ मूर्धन्य ड् (साथ ही ढ् स्थानी ह्-पूर्ववर्ती उसी ध्वनि) की जगह रखी जाती है। फलतः यह निस्संदेह मूर्धन्य ळ् है जिसके उच्चारण में दाँतों को स्पर्श कर पूर्ण अवरोध नहीं होता, बल्कि जो जिह्वा के (जिह्वा के पार्श्व होकर) अतिक्रम के फलस्वरूप उच्चारित होती है।

अ—उदाहरण हैं :—**इडे** के लिए **इळे**, किन्तु **ईड्य, मीढुषे** के लिए **मीळ्हुषे**, किन्तु **मीढ्वान्**। ऋग्वेद में और उसके सहायक साहित्य में ही यह परिवर्तन विशेष रूप से सामान्य है।

५५—य् संस्कृत में, सामान्यतया अन्य भाषाओं की तरह, इ स्वर (ह्रस्व या दीर्घ) के निकटतम सम्बन्ध लेकर प्राप्त है; अनेक स्थलों में दोनों ध्वनियाँ परस्पर परिवर्तित होती हैं।

अ—पुनः वेद में (जैसा कि छन्द से स्पष्ट है) जहाँ य् उत्तर संस्कृत के श्रुतिमूलक नियमों के अनुरूप लिखा रहता है, बहुधा इ पठनीय है। इस प्रकार शब्द का अन्त्य इ-स्वर आदि स्वर से पूर्व इ बना रहता है, प्रातिपदिक वाला प्रत्यय के पूर्व अपरिवर्तित रहता है; और व्युत्पत्ति के प्रत्यय, यथा य, त्य में य् की जगह इ पाया जाता है। इस प्रकार की स्थितियाँ विस्तार में आगे चलकर विवेचित होंगी। कुछ शब्दों और शब्द-श्रेणियों में इस प्रवृत्ति की नियतता से स्पष्ट है कि यह मात्र वैकल्पिक परिवर्तन नहीं था। अधिक संभवतः य् में इ-प्रकृति यूरोपीय अनुरूप ध्वनि की अपेक्षा सर्वत्र अधिक थी।

५६—य् अपने स्थान-लक्षण को लेकर तालव्य ध्वनि है; और भारतीय ध्वनि-वैज्ञानिकों ने इसे तालव्य-अर्धस्वर-जैसा वर्गित किया है। यह संस्कृत ध्वनियों की सर्वाधिक सामान्यों में से एक है

५७—आधुनिक भारतीय व् का उच्चारण अंग्रेजी या फ्रेंच v (जर्मन w) की तरह करते हैं, किन्तु एक ही पदांश में किसी व्यंजन के पूर्ववर्ती होने से व् ध्वनि अंग्रेजी w की तरह ही होती है; यूरोपीय विद्वान् (उसी अपवाद के साथ अथवा निरपवाद रूप में) उसी पद्धति का अनुसरण करते हैं।

अ—तो भी, भाषा की श्रुति में व् ध्वनि अपनी सम्पूर्ण प्रक्रिया लेकर उ-स्वर के साथ ही उसी प्रकार जुड़ी है जिस प्रकार य् ई-स्वर के साथ। इससे यह केवल v वर्ण की मूल रोमन प्रयोगिता के अनुरूप होती है—अर्थात् अंग्रेजी प्रयोग में व्-ध्वनि है, यद्यपि (जैसा कि ऊपर य् के संबन्ध में कहा जा चुका है) अंग्रेजी w की अपेक्षा यह उ से कम स्पष्टतः पृथक् हो सकती है, बहुत कुछ oui प्रभृति में फ्रेंच ou की तरह। किन्तु जिस प्रकार बहुत-सी यूरोपीय भाषाओं में मूल w (अंग्रेजी) v में परिवर्तित हो गयी है, उसी प्रकार भारतवर्ष में भी—और वह भी बहुत प्रारम्भिक काल से—पाणिनि व्याकरण ने तथा प्रातिशाख्यों में से दो (बा० प्रा० और तै० प्रा०) ने स्पष्टतः इसे दन्त्योष्ठ्य, उपरिदन्त्य और अधरोष्ठ्य के मध्य उच्चारित माना है जिससे यह वस्तुतः आधुनिक सामान्य v-ध्वनि के अनुरूप है। व्यवहार की दृष्टि से इसकी सामान्य उच्चारण-विधि को लेकर विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए, तथापि शिक्षार्थी को यह भूलना नहीं चाहिए कि संस्कृत श्रुति के नियम और 'अर्धस्वर' नामकरण अंग्रेजी अर्थ में w को छोड़कर अन्यत्र उपयुक्त नहीं होते हैं; v-ध्वनि (जर्मन w) अर्धस्वर नहीं

होती है, यह एक सौष्म ध्वनि है जो अंग्रेजी th-ध्वनियों और f के साथ तुल्य उच्चारण-सरणि में आती है।

५८—भारतीय ध्वनि-ग्रन्थों में व् ओष्ठ्य अर्धस्वर-जैसा वर्गीकृत है। इसकी बारंबारता य् की अपेक्षा यत्किंचित् अधिक है।

अ—वेद में य् की-जैसी समान अवस्थाओं में व् का पाठ स्वर–उ की तरह अपेक्षित है।

आ—व् और ब् के विनिमय के लिए देखिए ऊपर ५० अ।

५९—सोष्म ध्वनियाँ—**ऊष्मन्** (जिसके शाब्दिक अर्थ ताप, वाष्प, उदर-वायु हैं) जिसका सामान्य और सम्यक् निरूपण स्पिरैंट द्वारा होता है, नाम के अन्तर्गत भारतीय वैयाकरणों में से कुछ वर्णमाला की सभी अवशिष्ट ध्वनियों को सम्मिलित करते हैं; कुछ केवल तीन सिन्-ध्वनियों और ह्-ध्वनि के लिए इस पद का प्रयोग करते हैं, जिनमें यह यहाँ भी सीमित किया गया है।

अ—पाणिनि शास्त्र में यह नाम नहीं पाया जाता है; विभिन्न ग्रन्थों में कण्ठ्य और ओष्ठ्य श्वास ध्वनियाँ, ये दोनों और **विसर्ग**, या ये सभी और **अनुस्वार** ध्वनि भी (सिन्-ध्वनि और ह् के अतिरिक्त) ऊष्मन् मानी गयी हैं (दे० अ० प्रा०–१-३१)।

(टिप्पणी)—इनके उच्चारण करते समय जिह्वा स्पर्श-वर्गों के स्थान को छूती है जिनमें प्रत्येक ऊष्म ध्वनि क्रमशः आती है, किन्तु मार्ग खुला रहता है, अथवा (जिह्वा के) मध्य में खुला रहता है।

६०—स्–तीन सिन् ध्वनियों अथवा अघोष सोष्म ध्वनियों में यह सर्वाधिक स्पष्ट और असंदिग्ध लक्षण की ध्वनि है। यह यूरोपीय सामान्य स् है—एक फूत्कार ऊपर के अग्रदन्तों के ठीक पीछे मुखविवर और जिह्वा के बीच साँस द्वारा बाहर फेंका जाता है।

अ—इस प्रकार यह दन्त्य ध्वनि है, जैसा कि इसका वर्गीकरण भारतीय वैयाकरणों ने किया है। यद्यपि संस्कृत-श्रुति के चलते अन्य सिन् ध्वनियों र्, **विसर्ग**, आदि में रूपान्तरण से इसमें काफी क्षय आये हैं, फिर भी बारंबारता की दृष्टि से यह व्यंजनों में बहुत ऊँचा है, और अन्य दोनों सिन् ध्वनियों को एक साथ लेने पर भी इसके प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत अधिक प्रचलित हैं।

६१—ष्–इस सिन् ध्वनि की प्रकृति को लेकर यथार्थ सन्देह का कोई आधार नहीं है—यह मूर्धन्य स्थान से उच्चरित ध्वनि है, अथवा इसके उच्चारण करते समय जीभ का नुकीला भाग तालु के शीर्ष स्थान में पलटाया जाता है। फलतः यह sh कोटि की ध्वनि है; और यूरोपीय संस्कृत-विद् इसका उच्चारण

sh (फ्रेंच ch, जर्मन sch) की तरह करते हैं; इसमें मूर्धन्य ध्वनि के वास्तविक गुण (अन्य मूर्धन्य ध्वनियों की अपेक्षा कुछ भी अधिक, ४५) लाने की चेष्टा नहीं की जाती है।

अ—इसके समग्र श्रुत्यात्मक प्रभाव से इसकी मूर्धन्य प्रकृति परिलक्षित होती है, और भारतीय वैयाकरणों द्वारा इसका वर्णन और वर्गीकरण मूर्धन्य के रूप में हुआ है (अ० प्रा० १-२३ एक और लक्षण प्रस्तुत करता है कि इसके उच्चारण में जिह्वा द्रोणिकाकार होती है)। अपनी श्रवणीयता लेकर यह स् की अपेक्षा श् ध्वनि की तरह होती है, और सिन् प्रकृतिक उच्चारण की अनेक विविधता के चलते, एक समुदाय में भी, इसका उच्चारण इसमें से कुछ की sh ध्वनि के समान हो जाता है। तथापि सामान्य और प्राकृतिक sh तालव्य ध्वनि (द्रष्टव्य नीचे, ६३) है, और Ṣ संकेत, जो कि अन्य मूर्धन्य ध्वनियों के जैसा चिह्नित है, भारतीय अक्षर का एकमात्र निर्भ्रान्त लिप्यन्तरण है।

आ—भारतवर्ष में प्रचलित आधुनिक उच्चारण में ष् बहुधा ख् में घुलमिल गया है; और अक्षरों को परिवर्तित कर देने की तत्परता हस्तलेखों में देखी जाती है। उत्तरकाल के कुछ व्याकरणिक ग्रन्थों में इस संबन्ध का उल्लेख भी पाया जाता है।

६२—यह सिन् ध्वनि (जैसा कि ऊपर ४८ हम देख चुके हैं, तथा नीचे १८० मु० वि० में विशेष रूप से इसका विवेचन प्रस्तुत होगा) मूल ध्वनि नहीं है; श्रुति की विशेष अवस्थाओं में यह स् के मूर्धन्यीकरण का परिणाम है। अपवाद-रूप बहुत कम हैं (१४५ उदाहरणों में से ९, दे० ७५) हैं; और जो भी हैं, वे एकदम विकीर्ण प्रकृतिक हैं। ऋग्वेद में (**√सह्** को छोड़कर, १८२ आ) मात्र १२ पद मिलते हैं, जहाँ अन्य कारणों से ष् आया है।

अ—कुछ स्थलों में धातु के अन्त ष् ने अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र प्रयोगिता प्राप्त की है, और श्रुतिमूलक स्थितियों के हट जाने पर यह स् में प्रतिवर्तित नहीं होता है, अपितु असंगत रूप देखे जाते हैं (२२५–६)।

६३—श्—सभी देशी विद्वानों ने इस सिन्-ध्वनि का वर्गीकरण और विवेचन तालव्य-ध्वनि के रूप में किया है; साथ ही, इसके इतिहास या इसकी श्रुतिप्रक्रिया में ऐसा कुछ नहीं देखा जाता है जिससे इस ध्वनि के तथाविध लक्षण को लेकर कोई सन्देह किया जाय। फलतः इसके उच्चारण में जीभ का चपटा भाग तालु की मेहराव के अगले हिस्से को छूता है—यों कहना चाहिए कि यह सहज और सामान्य sh ध्वनि है। यूरोपीय विद्वानों द्वारा इसका उच्चारण विविध रूप से होता है—अधिक समय संभवतः श् की अपेक्षा स् की तरह।

अ—ष् और श्, दोनों sh ध्वनियाँ, मुख विवर के एक ही भाग से (संभवतः ष् अपेक्षाकृत और अधिक पश्च से) उच्चारित होती हैं, किन्तु जिह्वा के विभिन्न अंश द्वारा और निस्संदेह ये उदाहरणस्वरूप दो ध्वनियों, ṭ और t रूप में लिखित, से अधिक भिन्न नहीं हैं; और इस प्रकार यह अधिक असंगत नहीं होगा कि ये दोनों ध्वनियाँ एक sh की तरह उच्चरित हों, बजाय कि मूर्धन्य और दन्त्य ध्वनियाँ एक ही ढंग से उच्चरित हो जायँ। स् और श् के पार्थक्य को न मानना अधिक अमान्य होगा। ष् और श् का अतिनिकट संबन्ध इनकी श्रुति-प्रक्रिया, जो अधिकांशतः समान है, से प्रमाणित है, और साथ ही, इस तथ्य से कि पाण्डुलिपियों के लेखकों ने इनके लिखने में बहुधा गड़बड़ी की है।

६४—जैसा कि ऊपर (४१) कहा जा चुका है, श् च् की तरह स्पर्शता के क्षय और उच्चारणस्थान के अग्रान्तरण के चलते मूल क्-ध्वनि की विकृति से प्राप्त है। इस व्युत्पत्ति के फलस्वरूप यह कभी-कभी (यद्यपि च् की अपेक्षा बहुत कम) क् में प्रत्यावर्तित होता है, अर्थात् इसके स्थान में मूल क् (४३) आ जाता है; दूसरी ओर तो यह sh-ध्वनि जैसा कुछ अंशों में ष् के रूप में परिवर्तित हो जाता है। बारंबारता की दृष्टि से यह ष् की अपेक्षा कुछ आगे है।

६५—अवशिष्ट सोष्म ध्वनि, ह्, सामान्यतः यूरोपीय अघोष महाप्राण ह् की तरह उच्चरित होती है।

अ—किन्तु यह इसका यथार्थ स्वरूप नहीं है। सभी देशी विद्वानों ने इसको अघोष तत्त्व नहीं माना है, अपितु एक सघोष (अथवा इन दोनों के बीच की ध्वनि), भाषा की श्रुति-प्रक्रिया में इसका समग्र प्रभाव सघोष वर्ण का है: किन्तु इसकी निश्चित प्रयोगिता क्या है, कहना बड़ा कठिन है। पाणिनि व्याकरण ने अ की तरह इसे कण्ठ्य ध्वनियों की कोटि में रखा है, पर इसका कोई अर्थ नहीं निकलता है। प्रातिशाख्यों में इसका कण्ठ्य वर्गीय संबन्ध उद्घाटित नहीं हैं; उनमें से एक कुछ प्रमाणों को उद्धृत करता है कि "परवर्ती स्वर के आरम्भ के साथ समान स्थान इसका है" (तै० प्रा० २-४७), जो कि प्रस्तुत ह् के तुल्य इसे सिद्ध करता है। इसके श्रुति-प्रभाव में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है जिससे इसमें कण्ठ्य से उच्चरित प्रकृति का थोड़ा भी आभास रखा जाय। देशी ध्वनिशास्त्रियों में से कुछ ने इसे सघोष महाप्राण ध्वनियों की महाप्राणता के तुल्य माना है—जिस तत्त्व के चलते, उदाहरणार्थ, घ् ग् से भिन्न होता है। महाप्राण-ध्वनियों से ह् की (परवर्ती परिच्छेद) ढ् से, ळ-ह् (५४) की

उत्पत्ति और अन्त्य स्पर्श के बाद आदि ह् की प्रक्रिया (१६३) से इस मत की पुष्टि होती है ।

६६—ह्, जैसा कि ऊपर हम देख चुके हैं, मूल ध्वनि नहीं है; अपितु, यह ध्वनि प्रायः सर्वत्र प्राचीनतर घ् (ध् और भ् से इसके विकास के कुछ स्थानों के लिए, दे० नीचे, २२३ ए) से विकसित हुई है । अपरिवर्तित घ् की अपेक्षा यह ध्वनि बहुत अधिक (लगभग ७ और १ के अनुपात में) आयी है, क् को छोड़कर अन्य किसी भी कण्ठ्य स्पर्श से निर्विवाद यह अधिक प्रयुक्त हुई है । ज् की तरह (२१९) इसमें भी घ् के विकार की दो अवस्थाएँ समाविष्ट दिखाई पड़ती हैं—एक क् से च् के अनुरूप, दूसरी क् से श् के, दो वर्गों से क्रमशः संबन्धित धातुओं के लिए देखिए नीचे २२३.। कण्ठ्य विकास की अन्य ध्वनियों की तरह अपने मूल रूप में 'प्रत्यावर्तन' (४३) इसमें भी परिलक्षित होता है ।

६७—अथवा **विसर्ग (विसर्जनीय,** जैसा कि प्रातिशाख्यों और पाणिनि व्याकरण में एकरूप से इसका नामकरण हुआ है, संभवतः पदांश के अन्त स्थित होने से) एक अघोष श्वसन मात्र है, एक अन्त्य ह्-ध्वनि (ह् के यूरोपीय अर्थ में) है जिसका उच्चारण पूर्ववर्ती स्वर के उच्चारण-स्थान से किया जाता है ।

अ—एक प्रातिशाख्य (तै० प्रा० २-४८) ने इसके इसी अन्तिम विवेचन को दिया है । विभिन्न ग्रन्थों में इसका वर्गीकरण ह् के साथ या ह् और अ के साथ किया गया है; इनमें से सब समान ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में उच्चारणावयवों की कोई निश्चित आकृति-विधायक क्रिया नहीं रहती है ।

६८—**विसर्ग** मूलध्वनि नहीं है, किन्तु अन्त्य स् अथवा र् का आदेशरूप है, जिन दोनों में से किसी की अपरिवर्तित स्थिति विहित नहीं है (१७० मु०वि०) । यह वर्णमाला-व्यवस्था का अपेक्षाकृत नवीन वर्ण है; अन्त्य स् और र् के अन्य श्रुत्यात्मक परिवर्तन अन्तर्वर्ती अवस्था के रूप में विसर्ग होकर नहीं आये हैं । पुनः भारतीय विद्वानों में परस्पर बहुत मतभेद है कि कहाँ तक परवर्ती आदि अघोष ध्वनि से पूर्व : विसर्ग सिन्-ध्वनि का अनुमोदित वैकल्पिक रूप है और कहाँ तक नित्य आदेश है ।

६९—क्रमशः अघोष कण्ठ्य या ओष्ठ्य के पूर्व तथाकथित **जिह्वामूलीय** और **उपध्मानीय** ऊष्म ध्वनियों में अन्त्य स् या र् के परिवर्तन को देशी वैयाकरणों में से कुछ वैकल्पिक मानते हैं, तो कुछ नित्य । संभवतः ऐसा सहज संदेह किया जा सकता है कि ये दोनों ध्वनियाँ व्याकरण की विशुद्ध विविक्तताएँ हैं जो (दीर्घ ॡ स्वर की तरह, २३ अ) वर्णमाला में समुचित सममिति लाने के लिए रखी गयी है । जो भी हो, हस्तलेखों और मुद्रितग्रन्थों में सामान्यतः

इनका कोई स्थान नहीं है । इनकी निजी विशेषता जो कुछ हो, ऐसा प्रतीत होता है कि ये जर्मन ch और *f* ध्वनियों की दिशा में आती हैं । जब कभी ये लिखित होती हैं, तो इन्हें ⁄/. और φ चिह्नों द्वारा लिप्यन्तरित करने की रीति है ।

७०—**अनुस्वार** एक नासिक्य ध्वनि है, अनुनासिकव्यंजन या स्पृष्टध्वनि (३६) के उच्चारण में उच्चारणावयवों द्वारा जो पूर्ण संवृति होती है (३६), वह यहाँ अनुपलब्ध है; इसके उच्चारण में नासिका-विवर होकर गूँज के साथ साँस निकलती है, मुख विवर यत्किञ्चित् खुला रहता है ।

७१—इस तत्त्व की निश्चित प्रकृति को लेकर भारतीय ध्वनिशास्त्रियों तथा उनके आधुनिक यूरोपीय अनुयायियों में मतभेद है; अतः इसके प्रयोग और इस विषय में उनके मन्तव्यों का संक्षिप्त विवरण यहाँ अपेक्षित है ।

अ—संस्कृत की कुछ नासिक्य ध्वनियाँ अन्याश्रित प्रकृति की हैं, सब समय परवर्ती व्यंजन, चाहे जिस प्रकृति की हो, के सम की बनायी जा सकती हैं । वाक्य-संयोजन में अन्त्य म् (२१३), धातु का उपधा-नासिक्य, और वृद्धि का नासिक्य (२५५) सामान्यतः इस कोटि के हैं । यदि इन नासिक्यों में से एक स्पर्श-वर्ण या पूर्ण अवरोधप्राप्त व्यंजन के पूर्व होता है, तो वह उस वर्ण का नासिक्य-स्पर्श बन जाता है—अर्थात् परवर्ती स्पर्शवर्ण के अनुरूप ही नासिक्य-उच्चारण का स्थान होता है । दूसरी ओर यदि परवर्ती व्यंजन में स्पृष्टता नहीं (अन्तःस्थ या सोष्म होने पर) होती है, तो नासिक्य तत्त्व में भी स्पृष्टता नहीं आती है, यह असंवृत उच्चारणावयव को लेकर नासिक्य उच्चारण बना रहता है । अब प्रश्न उठता है, क्या यह नासिक्य ध्वनि पूर्ववर्ती स्वर का नासिक्य-संक्रम मात्र बन जाती है, फलतः उसे नासिक्य स्वर में बदल देती है (यथा फ्रेंच में on, en, un आदि नासिक्य स्पृष्टता के समान अभाव से); अथवा क्या इसमें किसी विशिष्ट गुण का कोई अंश आ जाता है जिससे यह स्वर और व्यंजन के मध्य पड़ जाती है; अथवा पुनः यह कभी एक प्रकार की ध्वनि होती है, तो कभी दूसरे प्रकार की । प्रातिशाख्यों और पाणिनि के मत इस प्रकार हैं :—

आ—अथर्व-प्रातिशाख्यों के अनुसार नित्य रूप से नासिक्य स्वर की प्राप्ति है, केवल वहीं नहीं जहाँ न् या म् परवर्ती ल् के सम हो जाता है, और वैसी अवस्था में न् या म् नासिक्यीकृत ल् बन जाता है, अर्थात् नासिक्य उच्चारण ल्-स्थान से होता है और उसमें प्रत्यक्ष ल्-स्वरूप प्राप्त है ।

इ—अन्य प्रातिशाख्य य्, ल् और व् (र् नहीं) के पूर्व अर्धस्वर या नासिक्य अर्धस्वर के प्रतिरूप नासिक्य के समान परिणमन का विधान करते हैं । अधिकांश

अन्य स्थलों में जहाँ अथर्व-प्रातिशाख्य—यथा र् और ऊष्म ध्वनियों से पूर्व-नासिक्य स्वर की प्राप्ति मानता है, वहाँ ये प्रातिशाख्य नासिक्य तत्त्व वाले स्वर के बाद व्यवधान मानते हैं जिसे **अनुस्वार,** आफटर टोन (पश्चात् प्राप्त स्वर-लहरी) कहते हैं ।

ई—स्वर के बाद इस अनुनासिक परिक्षेप की प्रकृति के विषय में कोई सुस्पष्ट विवरण नहीं दिया गया है । ऐसा कहा गया है कि यह स्वर और व्यंजन दोनों में से कोई हो सकता है (ऋ० प्रा०) । यह केवल नासिका द्वारा उच्चरित माना जाता है (ऋ० प्रा०, वा० प्रा०), अथवा इसको नासिक्य स्पर्शों की तरह नासिक्य कहते हैं (तै० प्रा०); कुछ इसे नासिक्य स्पर्शों का सघोष स्वर मानते हैं (ऋ० प्रा०); इसके उच्चारण में स्वर तथा सोष्म ध्वनियों की तरह कोई स्पर्श नहीं होता है (ऋ० प्र०) । इसकी मात्रा के लिए और आगे देखिए ।

उ—तथापि कुछ ऐसी अवस्थाएँ और अवस्थाओं की श्रेणियाँ हैं जहाँ अन्य प्रमाण भी इसे नासिक्य-स्वर मानते हैं। विशेष रूप से जहाँ कहीं अन्त्य न् (२०८-२०९) का ग्रहण न्स् (इसका प्राचीनतर ऐतिहासिक रूप) जैसा मानकर होता है, और इसी प्रकार कुछ निर्दिष्ट शब्दों में । **अनुस्वार** की जगह, जैसा कि कुछ ने माना है, नासिक्य स्वर के सिद्धान्त का उल्लेख भी ये करते हैं (और तै० प्रा० एक और अन्य के बीच इसके ग्रहण में अस्थिर और असंगत बना हुआ है) ।

ऊ—अन्त में, पाणिनि के मतानुसार मान्य नियम सर्वत्र अनुस्वार वाला है; और बहुत स्थलों में जहाँ प्रातिशाख्यों ने केवल नासिक्य स्पर्श माना है इसकी ही व्याप्ति है । किन्तु अन्तःस्थ के पूर्व इसकी जगह नासिक्य अन्तःस्थ का विधान भी है, और जिन स्थानों में (उपरिनिर्दिष्ट) प्रातिशाख्यों द्वारा सापवाद विधान है, वहाँ नासिक्य स्वर की मान्यता दी जाती है ।

ए—स्पष्टतः यह एक बड़ी समस्या है कि भारतीय ध्वनि-विद्वानों का यह मतभेद और संशय अवस्थाओं के विभिन्न प्रकारों और विभिन्न स्थानों में उच्चारण की वास्तविक विभिन्नता लेकर है, या सर्वत्र समान रूप से प्रचलित एक ही उच्चारण के विभिन्न शास्त्रीय विश्लेषण लेकर । यदि अनुस्वार का परगामी नासिक्य तत्त्व है, तो यह सानुनासिक समान-स्वरध्वनि के विस्तार के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता है, अथवा उदासीन स्वर-ध्वनि का एक नासिक्यीकृत अंश (यद्यपि द्वितीय स्थिति में परवर्ती स् के ऊपर इ या उ स्वर का परिवर्तक प्रभाव बाधित होना चाहिए, जैसा कि नहीं होता है, देखिए,—१८३) ।

७२—समीकृत नासिक्य तत्त्व, चाहे उसे नासिक्यीकृत स्वर, नासिक्य अर्ध-स्वर या स्वतंत्र अनुनासिक माना जाय, अक्षर को गुरु बनाने अथवा स्थानिक दीर्घता (७९) उत्पन्न करने में एक विशेष प्रयोगिता रखता है।

अ—प्रातिशाख्य (वा० प्रा०, ऋ० प्रा०) क्रमशः ह्रस्व और दीर्घ स्वर के संयुक्त होकर दीर्घाक्षर बनाने के गुण-निर्धारण अनुस्वार में प्रतिपादित करते हैं।

७३—यहाँ विवेचित नासिक्य ध्वनि को सूचित करने के लिए हस्तलेखों में ं ँ दो भिन्न चिह्न प्राप्त होते हैं। सामान्यतया ये अक्षर के ऊपर लिखे जाते हैं, और इस प्रकार इनसे आक्षरिक स्वर के नासिक्य प्रभाव की, अनुनासिक स्वर की प्रतीति सर्वाधिक सहज होती है। अतः कुछ ग्रन्थों में (साम और यजुर्वेद में) जहाँ यथार्थ अनुस्वार का प्रश्न है, इन चिह्नों में से एक साधारण व्यंजन स्थान में रखा जाता है, किन्तु ऐसा व्यवहार व्यापक नहीं है। दोनों चिह्नों में से ँ का प्रयोग हस्तलेख करते हैं, या करने की प्रवृत्ति उनमें होती है, जहाँ नासिक्योकृत (**अनुनासिक**) स्वर को व्यक्त करना होता है और अन्यत्र ं का; तथा यह भेद यूरोपीय अनेक मुद्रित पुस्तकों में नियमित रूप से रखा जाता है, और प्रथम को **अनुनासिक** चिह्न कहते हैं—किन्तु दोनों निस्संदेह मूलतः और वस्तुतः समान होते हैं।

आ—हस्तलेखों में पदांश-स्वर की परवर्ती किसी नासिक्य ध्वनि को, जो अन्य व्यंजन के पहले आती है या जो अन्त्य (स्वर के पहले नहीं) होती है, अनुस्वार चिह्न द्वारा लिपिबद्ध करने की अतिसाधारण रीति है, चाहे उसका उच्चारण नासिक्य-स्पर्श, नासिक्यअर्धस्वर या अनुस्वार के रूप में हो या नहीं हो। कुछ मुद्रित ग्रन्थ इस अनिष्ट और अव्यवस्थित प्रणाली का अनुसरण करते हैं; किन्तु अधिकांश नासिक्य व्यंजन को लिखते हैं जहाँ कहीं यह उच्चार्य्य होता है—केवल वहीं नहीं जहाँ यह समीकृत म् है (२१३)।

इ—विशेष स्वतंत्र उत्पत्ति के अनुस्वार से समीकृत म् को विशेष चिह्न ं से पृथक् रखना लिप्यन्तरण में भी सुविधाजनक है; और प्रस्तुत ग्रन्थ में इस पद्धति का पालन होगा।

७४—यह ध्वनियों का समग्र समुदाय है जो लिखित वर्णमाला में मान्य है; कुछ अन्य अन्तर्वर्ती ध्वनियों के लिए, जो अत्यधिक मात्रा में व्यापक रूप से भारतीय ध्वनि-शास्त्र के सिद्धान्तों में स्वीकृत हैं; देखिए नीचे २३०।

७५—अब सम्पूर्ण प्रचलित वर्णमाला अग्रांकित ढंग से रखी जा सकती है, जिससे इसके विभिन्न वर्णों के प्रमुख वर्गीकरण और संबन्ध यथासम्भव एक ही तालिका में निर्दिष्ट हो जायँ—

सघोष

अ	आ	ओ	औ	ऐ	ए		स्वर
१९.७८	८.१९	१.८८	.१८	.५१	२.६४		
इ	ई	ऋ	ॠ	ॡ	उ	ऊ	
४.८३	१.१९	.७४	.०१	.०१	३.६१	.७२	

य्	र्	ल्	व्		अर्धस्वर
४.२५	५.०३	.६९	४.९९		
ङ्	ञ्	ण्	न्	म्	नासिक्य
.३२	.३५	१.०२	४.८१	४.३१	
ं					अनुस्वार
.६३					

अघोष

ह्			प्राणध्वनि
१.०७			
:			विसर्ग
१.३१			
श्	ष्	स्	सिन्ध्वनियाँ
१.३७	१.६५	३.३६	

स्पर्श

सघोष	घ्	झ्	ढ्	ध्	भ्	महाप्राण
	.१५	.०१	.०३	.३३	१.२७	
	ग्	ज्	ड्	द्	ब्	अल्पप्राण
	.८२	.९४	.२१	२.८५	.४६	
अघोष	ख्	छ्	ठ्	थ्	फ्	महाप्राण
	.१३	.१७	.०६	.५८	.०३	
	क्	च्	ट्	त्	प्	अल्पप्राण
	१.९०	१.२६	.२६	६.६५	२.४६	
	कण्ठ्य	तालव्य	मूर्धन्य	दन्त्य	ओष्ठ्य	

अ—वर्णों के नीचे दिये गये अंक प्रत्येक ध्वनि के पुनरावर्तन के सामान्य प्रतिशत के द्योतक हैं, जो अविरत पाठ की १०,००० ध्वनियों के समुच्चय में १,०००

ध्वनियों के दश विभिन्न अवतरणों को लेकर प्रत्येक ध्वनि की प्रयोग-संख्या पर आधृत हैं, ये अवतरण साहित्य के विभिन्न कालों से चुने गये हैं, यथा ऋग्वेद के दो अवतरण, अथर्ववेद का एक, विभिन्न ब्राह्मणों से दो, और मनु, भगवद्गीता, शाकुन्तल, हितोपदेश और वासवदत्ता में से एक-एक अवतरण (जे० ए० ओ० एस०, भाग १०, पृ० ग्) ।

३—अक्षरों और ध्वनियों की मात्रा

७६- भारतीय वैयाकरण व्यंजन (विभिन्न वर्गों के व्यंजनों में बिना किसी पार्थक्य के) का निर्धारण ह्रस्व स्वर की आधी मात्रा के रूप में करने का प्रयास करते हैं ।

७७—साथ ही, वे **दीर्घ** स्वर की या सन्धि-स्वर की मात्रा को **ह्रस्व** स्वर की दुगुनी निर्धारित करते हैं—इस दृष्टि से **गुण** और वृद्धि **सन्ध्यक्षरों** में किसी प्रकार का भेद नहीं रखते हैं ।

७८—भारतीय इन दो स्वर-मात्राओं के अतिरिक्त एक तीसरी मात्रा स्वीकार करते हैं जिसको **प्लुत** (शाब्दिक अर्थ सन्तरण) या विलम्बित कहते हैं, जो त्रिमात्रिक है अर्थात् जिसमें ह्रस्व स्वर की अपेक्षा तिगुनी मात्रा होती है । प्लुत स्वर परगामी अंक ३ से चिह्नित किया जाता है, यथा आ ३ ।

अ—प्लुत स्वर वस्तुतः बहुत कम आते हैं (ऋ० वे० में तीन प्रयोग, अ० वे० में पंद्रह; ब्राह्मण साहित्य में निश्चित रूप से अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त) । ये परिप्रश्न के प्रसंगों में विशेष रूप से दो विकल्पों के बीच संतुलन बनाने में, और साथ ही दूर से या शीघ्रतावश पुकारने में प्रयुक्त होते हैं । शब्द में या सम्पूर्ण वाक्य में अन्तिम अक्षर की प्लुति होती है; प्लुत अक्षर में पद के संभावित अन्य स्वरों के अतिरिक्त सामान्यतया उदात्तस्वर पाया जाता है; कभी-कभी यह **अनुस्वार** का रूपग्रहण भी करता है या नासिक्य बना दिया जाता है ।

आ—उदाहरण होते हैं :—**अधःस्विद् आसी३द् उपरिस्विद् आसी३त्** (ऋ० वे०) क्या यह सचमुच नीचे था ? क्या यह सचमुच ऊपर था ? **इदम् भूया ३ इदा३म् इति** (अथर्व०) यही अधिक है, या वह ? यह कहते हुए । **अग्ना३इ पत्नीवा ३ : सोमम् पिब** (तै० सं०) ओ अग्नि, सपत्नी तुम, सोम का पान करो ।

इ—सन्ध्यक्षर अपने प्रथम या अ-अंश के प्लुतत्व से प्लुत किया जाता है, यथा ए को आ३इ, ओ को आ३उ ।

ई—प्लुतत्व का चिह्न कभी-कभी स्वरात्मक संयोग के परिणामस्वरूप भी

लिखा जाता है, जब कि पारिभाषिक **कम्प** की प्राप्ति होती है। द्रष्टव्य नीचे, ९० इ, ई।

७९—मात्रा की दृष्टि से अक्षरों (स्वर नहीं) की भिन्नता **गुरु** या **लघु** द्वारा वैयाकरण करते हैं। अक्षर गुरु होता है यदि इसका स्वर दीर्घ हो अथवा एक से अधिक व्यंजनों के पूर्व आने वाला ह्रस्व (स्थानिक दीर्घ) हो। अक्षर के गुरुत्व के लिए **अनुस्वार** और **विसर्ग** की गणना पूर्ण व्यंजनों के रूप में होती है। **पाद** (छन्द का मुख्य विभाग) का अन्तिम अक्षर या तो गुरु या लघु माना जाता है।

ऋ—स्वर-ध्वनि में दीर्घ और ह्रस्व के तथा आक्षरिक निर्माण में गुरु और लघु के बीच पार्थक्य महत्त्वपूर्ण है और संरक्षणीय है।

४—स्वरपात

८०—स्वर-तत्त्व सभी कालों के भारतीय वैयाकरणों द्वारा समान रूप से सुर या तारत्व के भेद को लेकर वर्णित और विवेचित हुए हैं, अन्तर्प्राप्त बल के किसी भेद की कोई बात उनके लिए नहीं उठती।

८१—मुख्य स्वर या सुर-तनाव दो हैं—उच्चतर (**उदात्त** उठा हुआ) या तीक्ष्ण, और निम्नतर (**अनुदात्त,** बिना उठा हुआ) या गम्भीर। तृतीय (जिसको **स्वरित** कहते हैं, सन्दिग्धार्थक शब्द) सब समय गौण उत्पत्ति का होता है, यह (उदात्तरहित रूप के नहीं रहने पर, द्रष्टव्य नीचे, ८४) एक अक्षर में उदात्त स्वर और अनुदात्त-स्वर के वास्तविक संयोग के परिणामस्वरूप है। इसे मिश्रित तारत्व वाला, एक ही अक्षर के अन्तर्गत उदात्त और अनुदात्त स्वरों का, संयोग, भी साधारण रूप से कहा गया है। इस प्रकार इसका स्वरूप ग्रीक और लैटिन के (**शिरकम्फलेक्स**) परिवेष्टक से मिलता है, और इसी नाम से इसका अभिधान पूर्णतः संगत है।

८२—फलतः देशी वैयाकरणों द्वारा निरूपित और लिखित ग्रन्थों में चिह्नित संस्कृत स्वर प्रक्रिया में सुर का एक ही भेद प्राप्त होता है : उदात्त स्वर वाले अक्षर का सुर अनुदात्त स्वर वाले अक्षर की अपेक्षा उठा रहता है; तथा पुनः एक अक्षर में उदात्त और अनुदात्त तत्त्व के संमिश्रण की कुछ अवस्थाओं में उस अक्षर में दोनों तत्त्वों का मिश्रित सुर सुरक्षित रहता है।

८३—स्वरित या शिरकम्फलेक्स शुद्ध दीर्घ स्वर या सन्धि स्वर में बहुत कम ही उपलब्ध होता है, किन्तु प्रायः सर्वत्र उस अक्षर में मिलता है जहाँ ह्रस्व या दीर्घ स्वर से पूर्व मूल उदात्त इ या उ-स्वर का प्रतिनिधित्व करनेवाला य् या व् होता है।

अ—प्रस्तुत ग्रन्थ में लिप्यन्तरित करते समय **उदात्त** या तीक्ष्ण, **एक्यूट** के सामान्य संकेत से चिह्नित किया जायगा, और स्वरित या शिरकम्फ्लेक्स (प्रगत ध्वनि के निम्नमुख-स्खलन होने से) उससे जो साधारणतया **ग्रेव्**-स्वर कहा जाता है, यथा—अ उदात्त, य या व स्वरित ।

८४—प्रातिशाख्यों में संयोग की विभिन्न विधियों से उत्पन्न परिवेष्टित सुरों का भेद और नामकरण पृथक्-पृथक् किया गया है । इस प्रकार, स्वरित ।

अ—क्षैप्र (शीघ्र) कहलाता है जब अनुदात्त सुर वाले असदृश स्वर से पूर्व उदात्त इ या उ-स्वर (ह्रस्व या दीर्घ) य् या व् में परिवर्तित हो जाता है । यथा—**वि-आप्त** से **व्याप्त, अप्सु अन्तर** से **अप्स्वन्तर ।**

आ—**जात्य** (देशी) या **नित्य** (निज), जब वही संयोग शब्द या पद के निर्माण में और भी पहले से आता है और इसलिए नित्य है या प्रयोग की सभी अवस्थाओं में शब्द को लेकर होता है, यथा—**क्व (कुअ** से **) स्वर (सुअर), न्यक् (निअक्), बुध्न्य (बुध्नीअ), कन्या (कनिआ), नद्यस् (नदी-अस्), तन्वा (तनु-आ) ।**

इ—उपर्युक्त दोनों प्रकार के शब्दों का पाठ वेद में अधिकांशतः उदात्त स्वर को फिर से लाकर पृथक् अक्षर के रूप में अपेक्षित है; जैसे—**अप्सु, अन्तर, सुअर, नदीअस्,** आदि । कुछ ग्रन्थों में इनमें से कुछ तदनुरूप लिखित है, यथा, **सुवर, तनुवा, बुध्नीय ।**

ई—**प्रश्लिष्ट,** जब उदात्त और अनुदात्त स्वर इस कोटि के होते हैं कि ये दीर्घ स्वर या सन्धिस्वर (१२८ इ) में संगलित हो जाते हैं । यथा—**दिवि इव** से **दिवीव** (ऋ० वे०, अ० वे० प्रभृति), **सु-उद्गाता** से **सूदगाता** (तै० सं०), **न एव अश्नीयात्** से **नैवाश्नीयात्** (श० ब्रा०) ।

उ—**अभिनिहित—**जब आदि अनुदात्त अ अन्त्य उदात्त ऐ या ओ में निविष्ट हो जाता है (१३५ अ); यथा—**ते अब्रुवन्** से **तेऽब्रुवन्,** सो **अब्रवीत्** से **सोऽब्रवीत् ।**

८५—पुनः, भारतीय वैयाकरण एकमत हैं कि उदात्त के बाद आने वाला अक्षर (प्रकृत्या अनुदात्त) चाहे एक ही में या अन्य शब्द में हो, स्वरित हो जाता है, केवल वहीं नहीं जहाँ उसके बाद कोई उदात्त या स्वरित आता है, इस अवस्था में यह अपना अनुदात्त स्वर बनाये रखेगा । इसको यूरोपीय विद्वान् **इनक्लिटक** या आश्रित-स्वरित कहते हैं ।

अ—यथा, **तेन और ते च** में अक्षर न और शब्द च स्वरित माने जाते हैं

और उसी प्रकार चिह्नित किये जाते हैं; किन्तु **तेन ते** और **ते च** स्वर में ये अनुदात्त हैं।

आ—इससे यह अर्थ प्रतीत होता है कि उदात्त अक्षर के अन्त में जो स्वर प्रक्रिया अधिक ऊँचे सुर पर लायी जाती है, साधारणतया क्षणिक चेष्टा से अनुदात्त सुर उत्पन्न नहीं करती है, किन्तु न्यूनाधिक प्रत्यक्ष स्खलन के साथ परवर्ती अक्षर के क्रम में उतरती है। किसी भारतीय वैयाकरण ने आश्रित स्वरित के लिए मध्य या अन्तर्वर्ती सुर के सिद्धान्त का संकेत नहीं किया है, जो सिद्धान्त स्वतंत्र स्वरित से भिन्न हो। दोनों ही प्रायः प्रतिपादन और निर्देशन की दृष्टि से समान हैं। इसी प्रकार आश्रित स्वरित के अनेक उपभेद विभिन्न नामों से किये जाते हैं, किन्तु इनका महत्त्व उल्लेखनीय नहीं है।

८६—स्वरित के दो प्रकारों के मौलिक भेद इन बातों से एकदम स्पष्ट परिलक्षित होते हैं :—(१) मुख्य स्वरित पद के शुद्ध-स्वर-जैसा उदात्त का स्थान ग्रहण करता है, जबकि आश्रित स्वरित प्रतिबिम्ब मात्र है जो उदात्त का अनुसरण करता है, और उसका अनुसरण अन्य शब्द में ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार समान पद में; (२) मुख्य स्वरित सभी अवस्थाओं में अपना स्वरूप बनाये रखता है, जबकि आश्रित किसी परवर्ती स्वरित अथवा उदात्त के पहले अपना स्वरितत्व खो देता है, और अनुदात्त बन जाता है; पुनः (३) स्वरों को चिह्नित करने की अनेक पद्धतियों में (नीचे, ८८) ये दोनों विभिन्न रूप से संकेतित होते हैं।

८७—केवल प्राचीनतर साहित्य के हस्तलेखों में स्वर-निर्धारण का चिह्न मिलता है, यथा मूल वैदिक ग्रन्थों या संहिताओं में, ब्राह्मणों में से दो में (तैत्तिरीय और शतपथ), तैत्तिरीय आरण्यक में, ऐतरेय—आरण्यक के कुछ अंशों में, और सुपर्णाध्याय में। स्वर को चिह्नित करने की अनेक पद्धतियाँ हैं जो एक दूसरी से न्यूनाधिक अलग होती हैं; एक जो ऋग्वेद के हस्तलेखों में प्रयुक्त है, जो सर्वाधिक ख्यात है और जिसके केवल कुछ संशोधनों के परिणामरूप अन्य पद्धतियों में से अनेक हैं, इस प्रकार की है।

अ—उदात्त स्वरवाला अक्षर अचिह्नित छोड़ दिया जाता है; स्वरित के लिए, चाहे वह मुख्य हो या आश्रित, ऊपर एक खड़ी छोटी रेखा होती है; और उदात्त अथवा (मुख्य) स्वरित के अव्यवहित पूर्व आनेवाला अनुदात्त नीचे पड़ी लकीर से चिह्नित किया जाता है। यथा—

अ॒ग्निम् agním; **जु॒होति॑** juhóti; **त॒न्वा॑** Tanvā́; **क्व॑** Kvà

आ—किन्तु यदि उदात्त स्वरवाला अक्षर आदि में हो, तो परिचायक अनुदात्त के नीचे लकीर का प्रयोग नहीं होता है; फलतः शब्द के प्रारम्भ का अधिचिह्नित अक्षर उदात्त माना जाता है; और इसलिए यदि वाक्य के आरम्भ में बहुत से अनुदात्त अक्षर उदात्त के पूर्व आते हैं, तो उन सबों में समान रूप से अनुदात्त चिह्न लगता है। यथा—

इन्द्रः índrah; ते té; करिष्यसि Karişyási; तुविजाता tuvijātá.

इ—किन्तु चिह्नित स्वरित के परवर्ती सभी अनुदात्त अक्षर अचिह्नित छोड़ दिये जाते हैं, जब तक कि स्वर-प्राप्त अन्य अक्षर के आने से पूर्ववर्ती अनुदात्त के लिए आरम्भिक नीचे वाली लकीर लगायी जाती है। उदाहरणार्थ,

सुदृशीकसंदृक् Sudṛçíkasaṁdṛk; किन्तु सुदृशीकसंदृग्गवाम् sudṛçīkasaṁdṛggávām.

ई—यदि मुख्य स्वरित के बाद उदात्त (अथवा अन्य मुख्य स्वरित) होता है, तो प्रथम स्वरित वाले स्वरवर्ण के बाद, ह्रस्व स्वर होने पर, अंक–१ और दीर्घ होने पर अंक–३ रखे जाते हैं, और स्वर चिह्नों का प्रयोग नीचे दिये उदाहरणों में जैसा होता है :

अप्स्व१न्तः apsv à । ntaḥ (अप्सु अन्तः से)
रायो३वनि rāyô 3 Vániḥ (रायो अवनिः से)

स्वर-निर्देश की इस पद्धति की उपपत्ति अच्छी तरह समझ में नहीं आती है। प्रातिशाख्यों में इसका विवेचन प्राप्त नहीं है। तथा निर्दिष्ट अक्षर के शास्त्रीय उच्चारण में सुर-संधान में एक विशिष्ट थरथराहट या अनेक तानों का एक साथ जल्दी से निस्सरण हम पाते हैं, जिसे **कम्प** या **विकम्प** कहते हैं।

उ—पाण्डुलिपियों में स्वर-संकेत लाल स्याही से लिखे गये हैं; ये मूल पाठ्य के लिखे जाने के बाद रखे गये हैं, और संभवतः किसी और हाथ से लिखे गये हों।

८८—अ—अथर्ववेद, वाजसनेयीसंहिता, तैत्तिरीयसंहिता, ब्राह्मण और आरण्यक में प्रयुक्त स्वर-संकेत की प्रणालियाँ ऋग्वेदीय प्रणाली के लगभग समान हैं। इससे उनके भेद अल्प महत्त्व के हैं, और भेद मुख्यतः उदात्त के पूर्ववर्ती स्वरित स्वर को विभिन्न ढंगों से चिह्नित (८७ ई) करने में है। अथर्ववेद के कुछ हस्तलेखों में रेखाओं की जगह बिन्दु ही स्वर-संकेतों के लिए प्रयुक्त हैं, और

स्वरित को व्यक्त करने वाला संकेत अक्षर के ऊपर न आकर भीतर ही रखा जाता है।

आ—मैत्रायणी संहिता के अधिकांश हस्तलेखों में उदात्त अक्षर ही, इसके परिवेष्टनों को छोड़कर, चिह्नित है, यथा—अक्षर के ऊपर खड़ी लकीर से (ऋग्वेदीय प्रणाली में सामान्य स्वरित के चिह्न-जैसा)। मुख्य स्वरित के लिए अक्षर के नीचे अंकुशाकार चिह्न का प्रयोग है, और उदात्त से पूर्व (८७ ई) स्वरित को व्यक्त करने के लिए अंक ३ मात्र का प्रयोग किया जाता है जो स्वरित के बाद में न आकर पहले ही आता है।

इ—शतपथ ब्राह्मण में केवल स्वर-चिह्न का प्रयोग है जो अक्षर के नीचे पड़ी लकीर है (ऋग्वेद के अनुदात्त स्वर-चिह्न की तरह)। यह चिह्न उदात्त-स्वर वाले अक्षर के नीचे होता है, या यदि दो या अधिक उदात्त एक साथ अव्यवहित रूप में आते हैं, तो उनमें से अन्तिम के नीचे ही मुख्य स्वरित को व्यक्त करने के लिए संकेत पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे रखा जाता है। यह प्रणाली अपूर्ण है, क्योंकि इससे अनेक अनिश्चितताएँ आ जाती हैं।

ई—सामवेदीय प्रणाली सर्वाधिक जटिल है। यहाँ एक दर्जन के विभिन्न चिह्न अंकोंवाले या अंकों और वर्णों-दोनों से सम्मिलित वाले, पाये जाते हैं, जो सबके-सब अक्षरों के ऊपर रखे जाते हैं और अक्षर के स्वर-स्वरूप और उसके परिवेशों के चलते विभिन्न होते हैं। इसकी उत्पत्ति संदिग्ध है; यदि अन्य सरल प्रणालियों की अपेक्षा किसी वैशिष्टय को यह व्यक्त करती है, तो वह तथ्य अभी तक निर्दिष्ट नहीं किया गया है।

८९—इस ग्रन्थ में देवनागरी लिपि में जो कुछ लिखा गया है, उसका लिप्यन्तरण भी दिया गया है। इसलिए साधारण रूप से यह अनावश्यक है कि लिप्यन्तरित रूपों को छोड़कर अन्यत्र स्वर-चिह्न का प्रयोग किया जाय। तो भी, जहाँ ऐसी बात नहीं है, वहाँ केवल वास्तविक अर्थ में स्वर-युक्त अक्षरों—उदात्त और मुख्य स्वरित को चिह्नित करने की पद्धति अपनायी गयी है : स्वरित सामान्य स्वरित—चिह्न से और उदात्त अक्षर के ऊपर लघु३ (उदात्त के लिए) के चिह्न से—यथा, इ३न्द्र índra, अ३ग्ने ágne, स्वर svár, नद्यस् nadyás.

अ—इनके विवेचन हो जाने पर वे सब कुछ सहज गम्य हो जाते हैं जिनको भारतीय शास्त्र आश्रित और उनके संलग्न मानता है।

९०—संस्कृत-स्वर का सिद्धान्त जैसा कि यहाँ उपस्थित किया गया है (प्रक्रियाओं का नियत और सुबोध रूप), भारतीय सिद्धान्त-निर्माताओं, विशेषत:

प्रातिशाख्यों के लेखकों, द्वारा अस्पष्ट बना दिया गया है, जहाँ अनेक ऐसी प्रकृतियाँ जुड़ गयी हैं जिनका स्वरूप अत्यन्त संदिग्ध है। उदाहरणार्थ—

अ—स्वरित के बाद आने वाले अचिह्नित अनुदात्त अक्षरों में (वाक्य के अन्त में, या दूसरे उदात्त के संनिकटन तक) (अचिह्नित ही) उदात्त के समान उच्च सुर की स्थिति मानी गयी है। ये अनुदात्त **प्रचय** या **प्रचित** (एकत्रित, क्योंकि अनुक्रमिक अक्षरों की अनिश्चित श्रेणी में आने योग्य) कहलाते हैं।

आ—स्वरित, मुख्य अथवा आश्रित, उदात्त की अपेक्षा अधिक ऊँचे सुर से आरम्भ होने वाला और साधारण अवस्थाओं में उदात्त के सुर पर उतरने वाला माना गया है : अपने अन्तिम क्षण में वह अनुदात्त के सुर पर लाया गया है; यदि वह मुख्य स्वरित हो, तो उच्चतर सुर में स्वर-प्रकृति का अन्य आरोह उसके बाद होता है जो उदात्त या मुख्य स्वरित की स्थिति है (**कम्प** अक्षर, ८७ ई)।

इ—पाणिनि **प्रचित** अक्षरों को **एकश्रुति** (एकसुर) की संदिग्ध संज्ञा देते हैं; और वे स्वरित को अधिक ऊँचे तल तक उठाने का संकेत भी नहीं करते हैं। किन्तु वे उदात्त या स्वरित के पूर्ववर्ती चिह्नित अनुदात्त अक्षर के लिए अनुदात्त सुर के नीचे उतरने का निर्देश करते हैं, जिसे वे **सन्नतर** (दूसरे प्रकार से, अनुदात्ततर) कहते हैं।

९१—वैदिक ग्रन्थों में दिये गये स्वर-संकेतों की प्रणाली ब्राह्मण-सम्प्रदायों के पारम्परिक उच्चारण में कृत्रिम और असामान्य रूप ग्रहण करती दिखाई पड़ती है, क्योंकि चिह्नित अक्षर अनुदात्त और स्वरित (समान रूप से आश्रित और मुख्य स्वरित) विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, जब कि अचिह्नित उदात्त गौरवहीन।

९२—संस्कृत स्वर-प्रक्रिया, जिस रूप में उसका विवेचन देशी व्याकरणों में हुआ है और जिस रूप में उसकी स्थिति स्वर-संकेतित ग्रन्थों में उपलब्ध है, मुख्यतः पद-स्वर की प्रणाली मात्र है। पद-विशेषों के स्वतंत्र-स्वर के परिवर्तन में वाक्यगत प्राधान्य और मूर्च्छना के प्रभावस्वरूप वाक्य-स्वर को निर्धारित या चिह्नित करने की कोई चेष्टा (ग्रीक-भाषा की अपेक्षा कुछ भी अधिक) नहीं देखी जाती है। पुरुष-बोधक क्रियारूपों और सम्बोधनरूपों के निरूपण में इसका एकमात्र प्रभाव परिलक्षित होता है।

अ—वाक्य के आरम्भ को छोड़कर अन्य स्थान का सम्बोधन साधारणतया उदात्तस्वररहित होता है। विशेष विवरण के लिए दे० ३१४।

आ—वाक्यखण्ड के आदि स्थान को छोड़कर अन्यत्र मुख्य वाक्य-खण्ड में

पुरुषबोधक क्रियारूप साधारणतः उदात्तस्वररहित होता है (देखिए ५९१ मु० वि०)।

९३—कुछ दूसरे शब्द भी साधारण रूप से या सब समय उदात्तस्वररहित होते हैं।

अ—निपात **च, वा, उ, स्म, इव, चिद्, स्विद्, ह,** और वैदिक **कम्** (या **कम्**) **घ, भल, समह, ईम्, सीम्** नित्य उदात्तस्वररहित हैं; इसी प्रकार **इव** के अर्थ में **यथा** ऋ० वे० में (कभी-कभी अन्यत्र भी) पाद या मन्त्रभाग के अन्त में स्वररहित होता है।

आ—कुछ सर्वनाम और सर्वनाम-मूल इस कोटि में आते हैं :—**मा, मे, नौ, नस्, त्वा, ते, वाम्, वस्** (४९१ आ), **एन** (५००), **त्व** (५०३ आ), **सम्** (५१३ इ)।

इ—सर्वनाम-मूल **अ** के रूप कभी स्वरयुक्त और कभी स्वररहित होते हैं (५०२)।

ई—वाक्य के आदि में स्वररहित पद का प्रयोग विहित नहीं है, इसी प्रकार पाद के आरम्भ में भी नहीं; पाद को स्वर-प्रक्रिया की सभी दृष्टियों से स्वतंत्र वाक्य की तरह माना जाता है।

९४—कुछ पदों में एकाधिक स्वरवाले अक्षर होते हैं। ये हैं :—

अ—वेद में कुछ द्विवचन रूप द्वन्द्व समास (देखिए १२५५), यथा **मित्रावरुणा द्यावापृथ्वी**। इसी प्रकार के कुछ अन्य वैदिक समास (दे० १२६७) हैं, जैसे—**बृहस्पति, तनूनपात्**।

आ—कुछ अवस्थाओं में दूसरे समास और वैसे समासों के व्युत्पन्न रूप, यथा—**द्यावापृथ्वीवन्त्, बृहस्पतिप्रणुत्त**।

इ—तवै प्रत्ययान्त तुमर्थक सम्प्रदानरूप (देखिए ९७२ अ), यथा—**एतवै, अप-भर्तवै**।

ई—स्वतः उच्चसुर वाला शब्द, जिसका अन्त्य अक्षर प्लुत हो (देखिए ७८ अ)।

उ—निपात **वाव** (ब्राह्मणों में)।

९५—संस्कृत शब्द में स्वर वाले अक्षर के स्थान को लेकर किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं है जो पूर्ववर्ती या परवर्ती अक्षरों की मात्रा या संख्या पर निर्भर हो। जहाँ कहीं प्रत्यय-विधान, व्युत्पत्ति अथवा पद-रचना के नियमों से प्राप्ति होती है, वहीं स्वर किसी अन्य तत्त्व से निरपेक्ष रखा जाता है।

अ—इस प्रकार, इन्द्रे, अग्नौ, इन्द्रेण, अग्निना, अग्नीनाम्, बाहुच्युत, अनपच्युत, पर्जन्यजिन्वित, अभिभातिषाह्, अनभिम्लानवर्ण, अभिशस्तिचातन, हिरव्यवाशीमतम्, चतुश्चत्वारिंशदक्षर।

९६—संस्कृत शब्दों में से अधिकांश का स्वरस्थान निश्चित नहीं है, क्योंकि प्राचीनतर साहित्य में ही स्वर-संकेत मिलता है, और वैयाकरणों द्वारा दिये गये स्वर-विधान के अनुमानाश्रित नियमों द्वारा विवेचन सभी प्रयोगों को स्थिर करने में अत्यन्त अपर्याप्त है। इसलिए लैटिन स्वर के नियमों के अनुरूप संस्कृत शब्दों के उच्चारण करने की सामान्य प्रवृत्ति यूरोपीय विद्वानों में प्राप्त है।

९७—जहाँ कहीं स्वर के स्थान और स्वरूप का नियामक आधार मिला है, प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रत्येक शब्द और रूप का स्वर सामान्य रूप से चिह्नित किया जायगा। जहाँ निश्चित शब्द और रूप उद्धृत हुए हैं, वहाँ जिस रूप में वे स्वर-चिह्नित ग्रन्थ में उपलब्ध हैं, उसी रूप में उन्हें स्वर-संकेतों से चिह्नित किया जायगा।

अध्याय—३

सन्धि के नियम

विषय-प्रवेश

९८—संस्कृत में अपनी अन्य सजातीय भाषाओं की तरह शब्द प्रायः धातुओं, व्युत्पत्ति-प्रत्ययों और विभक्ति-चिह्नों में अधिकांशतः विश्लेषणीय हैं, जिनमें से अन्तिम बहुधा सप्रत्यय मूलों में लगते हैं, कभी-कभी सीधे धातुओं में भी।

अ—निस्संदेह कुछ अरूपायित शब्द भी हैं—अव्यय, निपात; और ऐसे भी शब्द कम नहीं हैं जहाँ विश्लेषण सम्भव नहीं है।

९९—वस्तुतः संस्कृत में विश्लेषणीय प्रवृत्ति अत्यधिक प्राप्त है; अन्य किसी भारत-यूरोपीय भाषा की अपेक्षा इसकी निर्माण-विधियाँ अधिक नियमित और स्पष्ट हैं। इसीसे भारत के देशी व्याकरण-शास्त्र की मान्य पद्धति है जहाँ धातुओं का एक समुदाय खड़ा किया जाता है और जहाँ उन धातुओं में विविध प्रत्ययों को लगाकर ये मूल रूप और शब्द बनाये जाते हैं जिनसे इनका संयोजन सिद्ध होता है तथा वही सामान्य पद्धति समान कारण से यूरोपीय विद्वानों द्वारा भी अपनायी जाती है।

१००—फलतः सन्धिमूलक नियम जिनके द्वारा धातु अथवा मूल-रूप के साथ प्रत्यय या विभक्ति चिह्न का संयोग विहित है, व्यावहारिक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, और शब्द-रूप और क्रिया-रूप, दोनों प्रकरणों की सिद्धि में इनका प्रस्तुतीकरण अपेक्षित है।

१०१—इसके अतिरिक्त संस्कृत में दो या दो से अधिक सरल मूलों को जोड़कर समासों का निर्माण अत्यधिक प्रचलित है, और इस प्रकार के संयोग में निजी विशिष्ट सन्धिमूलक नियम प्राप्त हैं। और पुनः भाषा का जो रूप हमारे सामने उसके साहित्य द्वारा उपस्थित किया गया है, उसमें वाक्य या कडिका बनाने वाले शब्द एक दूसरे से प्रभावित और युक्त प्रायः इन्हीं नियमों के अनुसार किये जाते हैं जिनसे समास-प्रक्रिया निर्धारित होती है, इसलिए इन नियमों को जाने बिना संस्कृत-वाक्य का अनुगमन और पृथक्-ग्रहण असंभव है। फलतः सन्धि के विषय का व्यावहारिक महत्त्व और भी हो जाता है।

अ—किसी भी भाषा में वाक्य के शब्दों का सन्धिमूलक अन्योन्याश्रय इस मात्रा में नहीं पाया जाता है; तथा इसे कम-से-कम कुछ अंशों में कृत्रिम ही मानना होगा, ऐसे कुछ आवश्यक और निरपवाद नियमों के निर्माण से यह उपलक्षित होता है कि यह विधान जीवन्त भाषा में वैकल्पिक ही था। वेदों की प्राचीनतर भाषा और व्युत्पन्न प्राकृत भाषाओं के साक्ष्य से निस्संदेह यह स्पष्टतः संकेतित होता है, क्योंकि दोनों में इन नियमों में से कुछ (विशेष रूप से प्रगृह्य सम्बन्धी दे० ११३) नियमों का उल्लंघन बहुधा होता है।

१०२—पूर्वतर और उत्तर, दोनों कालों की भाषा की साहित्यिक कृतियों में अपने प्रयोग द्वारा प्रमाणित धातुओं की संख्या आठ और नौ सौ के मध्य की होती है। इनमें से आधी की लगभग धातुएँ आपाततः भाषा में सब समय मिलती हैं; कुछ (लगभग एक सौ पचास) पूर्वतर या प्राक्-श्रेण्यकाल में सीमित हैं, फिर कुछ (एक सौ बीस से ऊपर) उत्तरकालिक भाषा में ही प्रथमतः दृष्टिगत होती हैं।

अ—ऊपर की इस संख्या में विभिन्न स्वरूप की धातुएँ हैं। वे, जो केवल उत्तरकाल की भाषा में प्रयुक्त होती हैं, कम-से-कम अधिकांशतः, संभवतया गौण प्रकृति की है; और उनमें से कुछ तो निस्संदेह कृत्रिम हैं, एक या दो बार प्रयुक्त हैं क्योंकि भारतीय वैयाकरणों द्वारा प्रस्तुत धातु-सूचियाँ प्राप्त हुई हैं (१०३)। साथ ही, अवशिष्टों में से कुछ स्पष्टतः गौण हैं, तथा कुछ संदिग्ध हैं, और ऐसी भी कम नहीं हैं जो एक दूसरी के भिन्न रूप और परिवर्तन हैं। उदाहरणार्थ—ऐसी धातुएँ प्राप्त होती हैं जिनमें क्रमशः **र्** और **ल्** प्राप्त हैं, जैसे—**रभ्** और

लभ्, म्रुच् और **म्लुच्, क्षर्** और **क्षल्**; सानुनासिक और निरनुनासिक धातुएँ, जैसे **वन्द्** और **वद्, मन्द्** और **मद्**; आ और अनुनासिक अन्तवाली धातुएँ, यथा **खा** और **खन्, गा** और **गम्, जा** और **जन्**; युक्त **आ** से बनी धातुएँ, यथा **तृ** से **त्रा, मन्** से **म्ना, भस्** से **प्सा, इ** से **या**; **द्वित्व** के परिणाम वाली धातुएँ, यथा—**घस्** से **जक्ष, धृ** से **दुधृ**; प्रत्ययात्मक मूल की अन्त्य सिन्-ध्वनि वाली धातुएँ, यथा **भज्** से **भक्ष्** और **भिक्ष, नश्** से **नक्ष्, श्रु** से **श्रुव्, हा** से **हास्**; धातु-रूप जो अर्थ और रूप-विधान की सुनिश्चित असंगति के चलते पृथक् गृहीत हैं, किन्तु जो संभवतः एक ही धातु के विभिन्न पक्ष, यथा—**कृष्** खींचना और **कृष्** जोतना, **विद्** जानना और **विद्** पाना, **वृ** ढंकना और **वृ** वरण करना, आदि। ऐसे बहुत-से स्थलों में निश्चय नहीं हो पाता कि हम दो धातुओं को या केवल एक को मानें; और भेद करने का कोई दृढ नियम न बनाया जा सकता और न माना जा सकता है।

१०३—भारतीय वैयाकरणों द्वारा दी गयी धातु-सूची में लगभग दो हजार धातुएँ आती हैं, किन्तु इसके अन्तर्गत वे सभी धातुएँ नहीं हैं जिनका ज्ञान भाषा के शिक्षार्थियों के लिए वांछनीय है। इस प्रकार संख्या की आधी से अधिक धातुएँ प्रयोग द्वारा प्रमाणित नहीं हैं; तथा ऐसा संभव है कि इनमें से कुछ के प्रयोग आगे चलकर मिल जायँ, अथवा सुरक्षित साहित्य-लेखों में अप्रयुक्त भी ये रही हों, पर यह निश्चित है कि इनमें से बहुत कल्पित हैं; कुछ उन शब्दों की व्याख्या के लिए कल्पित हैं जो भ्रमवश इनसे व्युत्पन्न माने गये हैं, किन्तु अधिकांश की कल्पना के कारण अज्ञात हैं और संभवतः ये खोजे भी नहीं जा सकते हैं।

अ—प्रस्तुत व्याकरण के विवेचन में ये धातुएँ नहीं आयेंगी जिनका प्रमाण निश्चित प्रयोग द्वारा संभव नहीं है; अथवा यदि उनका उल्लेख होगा, तो उनका यह स्वरूप निर्दिष्ट किया जायगा।

१०४—वे धातुएँ जिनके आदि न् और स् कुछ उपसर्गों के बाद ण् और ष् में नित्य परिवर्तित हो जाते हैं, भारतीय वैयाकरणों द्वारा ण् और ष् आदि वाली धातुओं के रूप में रखी जाती हैं। कोई पाश्चात्य विद्वान् इस व्यवहार का अनुसरण नहीं करता।

आ—भारतीय कतिपय यौगिक मूलों को सरल धातुओं के वर्ग में रखते हैं—द्वित्ववाली धातुएँ, यथा—**दीधी, जागृ, दरिद्रा**; वर्तमानमूल, यथा—**ऊर्णु**, और **नामधातु-मूल**, यथा—**अवधीर्, कुमार्, सभाग्, मन्त्र्, सान्त्व्, अर्थ्**, प्रभृति। यूरोपीय ग्रन्थों में ये अपनी यथार्थ प्रकृति में प्राप्त हैं।

इ—कुछ आकारान्त धातुएँ, जिनका आ वर्तमान-प्रक्रिया में अनियमित ढंग से विकसित है, भारतीय सूची में ए या ऐ या ओ सन्धि-स्वरान्त जैसी लिखी गयी हैं। इस ग्रन्थ में ये आकारान्त धातुएँ (द्रष्टव्य २५१) जैसी मानी गयी हैं। इस प्रकार के धातु-रूपों का जो, विशेष रूप से, पूर्णतः काल्पनिक है : धातुओं के कोई रूप या व्युत्पन्न शब्द इसकी पुष्टि नहीं करते हैं।

ई—उन धातुओं को, जिनमें ऋ और इर् और ईर् या उर् और ऊर् (२४२) एक दूसरे में परिवर्तित देखे जाते हैं, भारतीयों ने ऋ या ॠ से या दोनों से लिखा है। इस प्रकार के धातु-रूपों का कॄ यहाँ भी कृत्रिम ही है, धातुओं के संभाव्य विकारों का निर्देश मात्र अभीष्ट है, क्योंकि किसी भी पद या व्युत्पन्न शब्द में यह कहीं उपलब्ध नहीं है। इस पुस्तक में इन्हें ऋ के साथ लिखा जायगा।

उ—दूसरी ओर, जिन धातुओं में ऋ और अर् (विरले र्) का परिवर्तन दुर्बल और सबल रूपों—जैसा देखा जाता है, उन्हें यहाँ देशी वैयाकरणों की तरह ऋ के साथ लिखा जायगा, यद्यपि बहुत से यूरोपीय विद्वान् द्वितीय अर्थात् सबल रूप का अधिमान देते हैं। यहाँ हम **विद्** और **शी, मुद्** और **भू,** और उनके समान धातुओं में वृद्धि-विहीन स्वर लिखते हैं, एकरूपता के लिए इसे सृज् और कृ में भी लिखना अपेक्षित है—इस प्रकार के सभी स्थलों में बिना यह देखे कि कौन अधिक मूल भारत-यूरोपीय रूप रहा है।

१०५—एक से अधिक रूपों वाली धातुओं की कतिपय अवस्थाओं में प्रतिनिधिक रूप का स्थिरीकरण तुलनात्मक ताटस्थ्य का विषय बन जाता है। उनके ऐतिहासिक स्वरूप के अनुसार उन अवस्थाओं का विवेचन संस्कृत व्याकरण की बजाय भारत-यूरोपीय तुलनात्मक व्याकरण का अंग हो जाता है। हमें धातुओं से उनका ग्रहण अभीष्ट है जो अंश भाषा की वर्तमान-स्थिति में पूर्णतः उस भाव के द्योतक प्रतीत होते हैं।

१०६—मूलों तथा धातुओं में उनकी रूप-विभिन्नताएँ रहती हैं (३११)। भारतीय वैयाकरण साधारणतया दुर्बल रूप को प्रकृति-रूप मानते हैं, और वृद्धि परिवर्तन के चलते उससे अन्य को निकालते हैं; कुछ यूरोपीय विद्वान् ऐसा ही मानते हैं; किन्तु कुछ विपरीत पद्धति की अधिमान्यता देते हैं, चयन गौण महत्त्व का है, तथा सुविधा के प्रयोजनों को लेकर प्रत्येक स्थिति में निर्धारण संभव है।

१०७—तदनुसार प्रस्तुत अध्याय में हम सर्वप्रथम सन्धि-मूलक सिद्धान्तों और नियमों का विवेचन करेंगे जो शब्दों के अवयवों और वाक्य के अवयवभूत-शब्दों के संयोग का विधान करते हैं; तदनन्तर शब्दरूप और क्रियारूप के दो

शीर्षों के अन्तर्गत रूप विधान का विषय प्रस्तुत होगा; और अवयव-शब्दों के प्रकारों का वर्णन बाद में आयेगा।

अ—धातु-मूलों (काल और प्रकार-मूलों, साथ ही कालवाची कृदन्तक्रिया-रूपों और तुमर्थक रूपों) के रूप-निर्माण का अध्ययन, जैसा कि साधारणतया होता है, धातुसंबन्धी रूप-विधान की पद्धतियों के प्रसंग में होगा; अव्यय शब्दों का अध्ययन उन शब्दों के विभिन्न वर्गों के प्रसंग में। किन्तु व्युत्पत्ति का सामान्य विषय या सविभक्तिक मूलों का रूपनिर्माण स्वतः आगे चलकर (अध्याय–१७) उठाया जायगा, और इसके बाद समासमूलों के रूपनिर्माण का विवरण आयेगा (अध्याय–१८)।

१०८— भाषा के प्रारम्भिक शिक्षार्थियों से यह कथमपि अपेक्षित नहीं है कि वे रूपविधान के उदाहरणों के अनुगमन के पूर्व ही सन्धि के नियमों पर सर्वाधिकार प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। इसके विपरीत शब्दरूप के मुख्यरूप-निदर्शन सन्धि-नियमों की ओर बिना ध्यान दिये, अथवा अत्यल्प ध्यान दिये तत्काल अच्छी तरह अभ्यास कर लिये जायँ। किन्तु क्रिया-रूप के ग्रहण के पूर्व व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों से यह समीचीन होगा कि मूल और प्रत्यय के संयोगों जैसे रूपों का अध्ययन, अवस्था-विशेष से संबद्ध तथाविध संयोग-नियमों की ओर ध्यान देकर, अपेक्षित है। बहिरंग संयोग के नियमों पर, जो पदों द्वारा वाक्य-विन्यास के विधायक हैं, अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न तभी अपेक्षित है, जब कि शिक्षार्थी वाक्यों के निर्माण या पाठ प्रारम्भ करने में समर्थ हो जाय।

सन्धि के तत्त्व

१०९—संयोग (सन्धि, एक साथ रखने की क्रिया) के नियम कुछ दृष्टियों में विभिन्न होते हैं, जिस प्रकार कि ये प्रयुक्त होते हैं—

अ—धातुओं और मूलों में प्रत्यय और रूप-निर्माण चिह्नों के योग द्वारा शब्द के अन्तर्-निर्माण में,

आ—समास-मूलों के बनाने के लिए मूलों के अधिक बहिरंग समाहरण और वाक्य में शब्दों के विशेष शिथिल तथा अधिक आकस्मिक क्रमिक संस्थापन में।

इ—इस प्रकार साधारणतया अन्तरंग-संयोग के नियमों और बहिरंग संयोग के नियमों में विभक्त होते हैं।

११०—किन्तु अवस्थाओं के दोनों प्रकारों में संयोग के सामान्य सिद्धान्त एक से हैं—और इसी तरह अधिकांशतः विशिष्ट नियम। भेद आंशिक रूप में एक या दूसरे प्रकार में संयोगविशेषों के प्रयोग या अप्रयोग पर आधृत हैं; अंशतः धातु या अन्त्य प्रत्यय की एक ही ध्वनि, प्रथम में द्वितीय की अपेक्षा अधिक

प्रसक्त, के विकास के भेद पर; अंशतः बहिरंग संयोग में कुछ परिवर्तनों पर, जो स्पष्टतः ध्वनिसम्बन्धी प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐतिहासिक हैं, आने से भेद होते हैं; तथा सबों में सर्वाधिक प्राप्त और स्पष्ट भेद इस तथ्य को लेकर होता है कि (१५९) स्वर, अर्धस्वर और नासिक्य का सघोषीकरण प्रभाव बहिरंग संयोग में आता है, अन्तरंग में नहीं। अतः जो वस्तुतः एक साथ प्राप्त है, उसकी अनावश्यक आवृत्ति और पार्थक्य के परिहार के लिए संयोग के दोनों प्रकारों के नियम एक दूसरे से संबद्ध कर नीचे दिये जाते हैं—

१११ (अ)—इसके अतिरिक्त भ् और स् आदि वाले विभक्ति-चिह्नों (यथा, **भ्याम्, भिस्, भ्यस्, सु**) के पूर्व मूलों के अन्त्य का विकास साधारणतया वही है जो पदों के परस्पर संयोग में—इसीसे ये अन्त्य-चिह्न कभी-कभी पदान्त्य चिह्न कहलाते हैं, और इनसे जो विभक्तियाँ बनती हैं वे पदविभक्तियाँ कहलाती हैं।

आ—इस पार्थक्य का महत्त्व इसके साधारण उल्लेख द्वारा बहुत कुछ बढ़ाकर दिया जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि क्रियारूप में आनेवाले अन्त्य-प्रत्यय का आदि सघोष स्पर्श केवल ध् है जिस प्रकार कि शब्दरूप में भ्; और उनके विकास में जो भिन्नता पायी जाती है, वह तो कुछ अंशों में इसलिए है कि एक साधारणतया धात्वन्त्य से सटकर आता है और दूसरा अन्त्य चिह्न से, तथा कुछ अंशों में इसलिए कि ध् दन्त्य होने के कारण तालव्यों और मूर्धन्यों द्वारा भ् की अपेक्षा अधिक समीकरण के योग्य है। अधिक विशिष्ट और संदिग्ध भेद **सु** और धातु प्रत्ययों, **सि, स्व** प्रभृति, के बीच विशेष रूप से तालव्य ध्वनियों और ष् के बाद होता है।

इ—पुनः, व्युत्पत्ति विधायक कुछ प्रत्ययों के पहले मूल के अन्त्य का विवेचन कभी-कभी उसी प्रकार होता है जिस प्रकार निर्माण-प्रक्रिया में पद के अन्त्य का।

ई—ऐसी स्थिति विशेष रूप से स्पष्टतया विशिष्ट अर्थ रखने वाले तद्धित प्रत्ययों, यथा सम्बन्धार्थक **मन्त्** और **वन्त्,** भाव-वाचक **त्व**, स्वत्वार्थक प्रत्यय **मय** प्रभृति, के पूर्व होती है। पूर्वतरकालिक भाषा की अपेक्षा उत्तरकालिक भाषा में यह अधिक मात्रा में उपलब्ध है। उदाहरण प्रकृत्या विकीर्ण हैं, और उनको लेकर कोई नियम नहीं दिया जा सकता है। विस्तार के लिए देखिए अध्याय १७। ऋ० वे० में (यथा यहाँ उल्लिखित किये जा सकते हैं) मात्र-उदाहरण हैं—

विद्युंमन्त (अतिरिक्त **गरुत्मन्त्**, **ककुद्मन्त**, आदि), **पृषद्वन्त्**, (अतिरिक्त—**दत्वन्त्**, **मरुत्वन्त्**, आदि), **धृषद्विन्** (साथ-साथ **नमस्विन्** प्रभृति), **शग्म** (साथ ही, **अज्म**, **इध्म** आदि), **मृन्मय** (साथ ही, **मनस्मय** प्रभृति), और **अहंयु**, **किंयु**, **शंयु**, और **अंहोयु**, **दुवोयु**, **अंसत्रुधोयु** (साथ ही, **नमस्युं**, **वचस्युं** प्रभृति); तथा अ० वे० इनमें केवल **सहोवन्** (ऋ० वे० **सहावन्**) जोड़ता है ।

११२—अन्तरंग संयोग के प्रमुख नियम (जैसा ऊपर कहा गया है, १०८) वे हैं जिनका अत्यधिक तात्कालिक महत्त्व भाषा के प्रारम्भिक शिक्षार्थी के लिए है, क्योंकि उसका प्रथम लक्ष्य शब्द-रूपों के प्रसिद्ध उदाहरणों पर अधिकार प्राप्त करना है; बहिरंग संयोग के नियमों को तब तक छोड़ देना श्रेयस्कर है जब तक उसे वाक्यों में पद-विन्यास अथवा रूपान्तरण की आवश्यकता नहीं होती । तदनन्तर इनका ज्ञान अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि इनके बिना वाक्य-विधान के उपयुक्त पदों का ठीक नमूना निर्धारित नहीं किया जा सकता है ।

अ—सन्धि-नियमों के अन्तर्गत आने वाले और उनके प्रकारों के विधान करने वाले सामान्य तत्त्वों का उल्लेख नीचे इस प्रकार किया जा सकता है :—

११३—प्रगृह्य—सामान्यतः प्रगृह्य का निषेध है; वाक्य के अथवा वाक्य-रूप से स्वतंत्र पद अथवा वाक्यांश के प्रथम अक्षर को छोड़कर प्रत्येक अक्षर व्यंजन (या एकाधिक व्यंजनों) से शुरू होता है ।

अ—विस्तार के लिए और अपवादों के लिए, दे० १२५, मु० वि० ।

आ—किन्तु पूर्वतरकाल की भाषा में प्रत्येक स्थिति में प्रगृह्य प्रचुर मात्रा में विहित था । यह मन्त्रों या वेद के छन्दोबद्ध भागों में स्पष्टतः देखा जाता है, क्योंकि अनेक स्थलों में य् और व् इ और उ की तरह पढ़े जाते हैं; और कभी-कभी छन्द के कारण दीर्घ स्वर दो स्वरों में विभक्त किया जाता है । यथा—**वार्याणाम्** को **वा-रि-आ-ण-आम्** जैसा पढ़ा जाना चाहिए, **स्वश्व्यम्** को **सु-अश्-वि-अम्** की तरह, आदि-आदि । ब्राह्मणों में भी हम पाते हैं कि **त्वच्**, **स्वर**, **द्यौस्** **द्व्यक्षर**, **व्यान** और **सत्यम्** त्र्यक्षर, **राजन्य** चतुरक्षर तथा अन्य इसी प्रकार कहे गये हैं । विशेष द्रष्टव्य १२९ है ।

११४—**अल्पप्राणीकरण**—महाप्राण-व्यंजन में उसके प्राण का लोप संभव है, केवल स्वर या अन्तःस्थ या नासिक्य के पूर्व वह अपरिवर्तित रखा जा सकता है ।

११५—**समीकरण**—संस्कृत में अन्य भाषाओं की तरह सन्धि-परिवर्तनों के अधिकांश समीकरण के सामान्य विषय के अन्तर्गत होते हैं; समीकरण ध्वनियों

की दोनों कोटियों का संभव है, उन ध्वनियों का, जो करीब इतनी सदृश हैं कि उनके पार्थक्य का स्थापन थोड़ा भी महत्त्व नहीं रखता है, अथवा उन ध्वनियों का, जो इतनी विभिन्न हैं कि एक साथ उनका रहना व्यवहार की दृष्टि से असंगत हो जाता है।

११६—कहीं समीकरण एक ही वर्ग की एक ध्वनि के दूसरी ध्वनि में परिणमन होने से होता है, जहाँ उच्चारण-स्थान में भिन्नता नहीं आती है; कहीं इसमें स्थान-भेद आता है या दूसरे वर्ग में अन्तरण प्राप्त होता है।

११७—वर्गों के अन्तर्गत परिवर्तनों में सर्वाधिक प्रयुक्त और महत्त्वपूर्ण वे हैं जो अघोष और सघोष ध्वनियों के पारस्परिक अनुकूलन में देखे जाते हैं; किन्तु कुछ अवस्थाओं में अनुनासिक ध्वनियों तथा ल् का समीकरणात्मक प्रभाव भी विशेष रूप से प्राप्त है।

अ—निरनुनासिक व्यंजनों और ऊष्मध्वनियों के दो वर्गों में अघोष और सघोष ध्वनियों का मेल एकदम नहीं बैठता है; इनमें से किसी वर्ग की अघोष ध्वनि किसी एक वर्ग की कोमल ध्वनि के न आगे और न पीछे आ सकती है।

आ—अघोष या सघोष स्पर्श अन्य प्रकार के अपने अनुरूपी में परिवर्तित होकर समीकृत होता है; ऊष्म ध्वनियों में केवल अघोष स् है जिसका अनुरूपी सघोष है, उदाहरणार्थ, र्, जिसमें यह बहिरंग सन्धि के चलते परिवर्तित हो सकती है (११४ मु० वि०)।

इ—नासिक्य अधिक स्वतंत्र रूप से संयोग-प्राप्त होता है : नासिक्य अपने प्रकार के स्पर्श के या सघोष सोष्म ह् के पूर्व या पर में आ सकता है; यह अघोष सोष्म व्यंजनों (सिन्-ध्वनियों) के बाद आ सकता है; किन्तु पद के मध्य में नासिक्य किसी सिन्-ध्वनिका पूर्ववर्ती नहीं हो सकता है (वहाँ यह अनुस्वार में परिवर्तित हो जाता है); और बहिरंग संयोग में अघोष स्पर्श को लाकर इनकी प्राप्ति का परिहार साधारणतया किया जाता है।

ई—अन्तःस्थ में घोषीकरण की प्रवृत्ति और भी कम देखी जाती है; और स्वर में सर्वाधिक न्यून पद के मध्य में दोनों के पूर्व और पर में अन्य किसी वर्ग की ध्वनियाँ निर्बाध आ सकती हैं।

उ—किन्तु सिन्-ध्वनि से पूर्व अन्तःस्थों में से केवल र् और खूब विरले ल् प्राप्त हैं। पुनः बहिरंग संयोग में र् अपने अनुरूपी अघोष स् में परिवर्तित हो जाता है। किन्तु,

ऊ—पद-रचना और वाक्य-विन्यास में आदि स्वर और अन्तःस्थ और नासिक्य के पूर्ववर्ती अन्त्य का सघोष-भाव भी अपेक्षित है।

ए—नासिक्य और ल् के पूर्व समीकरण-मूलक प्रक्रिया और भी आगे गृहीत होती है; तब अन्त्य स्पर्श नासिक्य अथवा ल् में क्रमशः परिवर्तित किया जाता है।

११८—उच्चारण स्थान के परिवर्तन को लेकर जो परिणमन होते हैं, उनमें दन्त्य-ध्वनियों के परिणमन मूर्धन्य में, और अपेक्षाकृत कम समय तालव्य में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उदाहरणार्थ :—

अ—संलग्न अथवा निकटस्थ मूर्धन्य ध्वनियों के समीकरणीय प्रभाव के चलते दन्त्य स् और न् बहुधा ष् और ण् में परिवर्तित हो जाते हैं—यहाँ तक कि इ, उ-स्वरों और क् जैसी ध्वनियों से, जिनमें मूर्धन्य की कोई प्रकृति नहीं है, स् का ऐसा परिवर्तन प्राप्त है।

आ—निरनुनासिक दन्त्य स्पर्श (बहिरंग संयोग में कुछ अपवादों के साथ) मूर्धन्य ध्वनि के संघटन में आने से मूर्धन्य कर दिया जाता है।

इ—संलग्न तालव्य के चलते दन्त्य स्पर्श और अन्तःस्थ तालव्य हो जाते हैं। साथ ही,

ई—म् (अधातुमूलक) परवर्ती व्यंजन, चाहे वह किसी प्रकार का हो, के सम कर दिया जाता है।

उ—कुछ असंगत स्थितियों के लिए, द्रष्टव्य–१५१।

११९—ध्वनि-परिवर्तन के कारण मूलतर कण्ठ्य-ध्वनियों के परिणामस्वरूप (४२ मु० वि०) तालव्य स्पर्शों, तालव्य शिन्-ध्वनि और ह की सन्धि दो परि-स्थितियों के चलते विशिष्ट और जटिल हो गयी है : कण्ठ्य ध्वनि में उनका प्रत्यावर्तन (या उनकी जगह अपरिवर्तित कण्ठ्य ध्वनि की स्थिति, ४३), तथा परिवर्तन की एक या अन्य कोटि के अनुसार ज् और ह् के विभिन्न विकास—एक च् की तरह कण्ठ्य प्रत्यावर्तन की ओर अधिक जाने वाली और दूसरी श् की तरह अधिक शिन् और मूर्धन्य लक्षण रखने वाली।

१२०—धा मूर्धन्य शिन्-ध्वनि ष् में, साथ ही व्युत्पन्न स्वरूप में (दन्त्य स् से) संयोग के मौलिक विशिष्ट और संभाव्य जैसे लक्षण देखे जाते हैं।

१२१—**संयुक्त-व्यंजनों के विस्तरण और संक्षेपण**—देशी वैयाकरण द्वित्व या अन्तर्निवेश के चलते व्यंजन संयुक्तों के कुछ विस्तरणों को वैकल्पिक या नित्य मानते हैं। पुनः, दूसरी ओर कुछ अन्य संयुक्तों का संक्षेपण विकल्प से विहित है, और बहुधा हस्तलेखों में प्रयुक्त देखा जाता है।

१२२—**विहित अन्त्य**—पद के अन्त में व्यंजनों का विहित संघटन अति-संकीर्ण रूप से सीमित है। सामान्यतया अन्त्य स्वर के बाद केवल एक ही व्यंजन

की प्राप्ति होती है; और वह नियमतः सघोष ह्, शिन्-ध्वनि, अर्धस्वर (अपवाद-स्वरूप ल् को छोड़कर) महाप्राण स्पर्श, नासिक्येतर सघोष स्पर्श और तालव्य में से कोई नहीं हो सकता है ।

१२३—**वृद्धि और ह्रास**—पदों के निर्माण करने वाले खण्डों के संयोग में प्राप्त इन अल्पाधिक नियमित परिवर्तनों के अतिरिक्त विभिन्न स्वरूप वाला दूसरा प्रकार है जो खण्डों के पारस्परिक रूपान्तरणों को लेकर नहीं होता है । अपितु, स्वतः खण्डों के सबलीकरण या दुर्बलीकरण परिवर्तनों को लेकर होता है ।

१२४—सन्धि के विस्तृत नियमों का पूर्ण सुबद्धक्रम प्रस्तुत करना असंभव है, क्योंकि सन्धिमूलक परिवर्तन के विभिन्न प्रकार न्यूनाधिक मात्रा में परस्पर बाधित और अन्तर्भूत होते हैं । नीचे प्रस्तुत क्रम इस प्रकार का होगा—

१—स्वर-संयोग के नियम, प्रगृह्य परिहार के लिए ।

२—विहित अन्त्यों को लेकर नियम (क्योंकि ये बहिरंग संयोग में विशिष्ट विकास के अन्तर्गत हैं) ।

३—महाप्राण स्पर्श की प्राणता के लोप-विषयक नियम ।

४—अघोष और सघोष, अन्त्य स् और र् वाले को अन्तर्भूत कर, समीकरण के नियम ।

५—मूर्धन्य और तालव्य में दन्त्य ध्वनियों के परिवर्तित होने के नियम ।

६—अन्त्य नासिक्यों के परिवर्तनों के नियम, इनमें वे भी सम्मिलित हैं जहाँ नासिक्य की परवर्ती प्रथम अन्त्य ध्वनि संयोग में पुनः आ जाती है ।

७—तालव्य स्पर्शों और शिन्-ध्वनि, ह् और मूर्धन्य शिन्-ध्वनि जैसी व्युत्पन्न ध्वनियों के विशिष्ट परिवर्तनों से संबद्ध नियम ।

८—संयुक्त व्यंजनों के विस्तरण और संक्षेपण के नियम ।

९—सबलीकरण और दुर्बलीकरण के नियम ।

नियम, जो अधिक विकीर्ण और न्यून मात्रा में विभक्त होने वाली स्थितियों के लिए हैं, सर्वत्र व्यावहारिक दृष्टि से सर्वाधिक समीचीन प्रसंग में रखे जायँगे; और इनको प्राप्त करने में सूचकांक से अपेक्षित सहायता मिलेगी ।

स्वर-संधि के नियम

१२५—दो स्वरों की, या (समान) स्वर और सन्धि-स्वर की स्थिति किसी मध्यवर्ती व्यंजन के बिना उत्तरकालिक या श्रेण्य भाषा के श्रुति-मार्दव द्वारा अविहित है । इसका परिहार अवस्था-विशेष के अनुसार दो समवर्ती

ध्वनियों को एक मे अन्तर्भाव करके, या उनमें से एक को अर्ध-स्वर में परिवर्तित करके, या उनके बीच अर्धस्वर के आगम द्वारा किया जाता है।

अ—पद-रचना और वाक्य-संयोजन की कतिपय अवस्थाओं के लिए, जहाँ स्वरों के बीच स् या य् या व् के अप्राचीन लोप के चलते नित्य प्रगृह्य बना रहता है, द्रष्टव्य नीचे १३२ मु०वि०, १७५–७, वाक्य संयोजन में आदि-स्वर के पूर्व अपरिवर्तित रहने वाले अन्त्य स्वरों के लिए देखिए १३८।

आ—खूब कम पदों से उनके प्रचलित लिखित रूप में अन्तरप्रगृह्य प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, **तितउ** चलनी (संभवतः **तितसु** के लिए, बौ० सं०), **प्रउग** जूआ, (**प्रयुग** के लिए), तथा ऋ० वे० में **सुऊर्ति**।

इ—प्राचीनतर विभाषा के पाठ उत्तरकालिक भाषा के सन्धि नियमों के अनुरूप लिखित हैं, यद्यपि उनमें (द्रष्टव्य ११३ आ) प्रगृह्य निश्चित रूप से अत्यधिक आया है। अतः जिस रूप में उन्हें लिखा गया है, उस रूप में पढ़ना समीचीन नहीं है, अपितु, उनका पाठ स्वर-संयोग की उन प्रक्रियाओं के, जिनमें उन्हें कृत्रिम रूप से अन्तर्भूत किया गया है, नित आवर्ती व्युत्क्रम के साथ अपेक्षित है। विशेष द्रष्टव्य, १२९ उ।

ई—उत्तरकालिक भाषा में भी दो पादों या छन्दोबद्ध पंक्ति के मुख्य विभागों के बीच प्रगृह्य सामान्यतया बहुल है, और पाद के मध्य में भी विकीर्ण रूप से यह अज्ञात नहीं है।

उ—स्वर-संयोग के नियम परिणामिक ध्वनि और उसके सुरत्व, दोनों ही दृष्टियों से अन्तरंग और बहिरंग सन्धियों में प्रायः समान हैं।

१२६—ह्रस्व या दीर्घ, दो सवर्ण सरलस्वर मिलकर अनुरूपी दीर्घ बन जाते हैं—इस प्रकार दो अ-स्वर (दो में से एक अथवा दोनों ह्रस्व या दीर्घ) आ, दो इ-स्वर ई, और दो उ-स्वर ऊ हो जाते हैं; तथा सैद्धान्तिक रूप से दो ऋ-स्वर ॠ बनाते हैं, किन्तु यह संदिग्ध है कि कभी ऐसी स्थिति प्रयोगतः होती है। उदाहरण हैं :—

स चाप्रजः	sa cā'prajaḥ	(**च + अप्रजः**);
अतीव	atī'va	(**अति + इव**);
सूक्तम्	sūktam	(**सु–उक्तम्**)
राजासीत्	rājā''sīt	(**राजा + आसीत्**);
अधीश्वरः	adhī́çvaraḥ	(**अधि–ईश्वरः**);
जुहूपभृत्	juhūpabhṛt	(**जुहू–उपभृत्**)।

अ—जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है प्रस्तुत ग्रन्थ में सब जगह स्वतंत्र पदों में लिप्यन्तरण करते समय (देवनागरी पाठ में नहीं) पृथक्करण की विधि रहेगी; और यदि परवर्ती पद का आदि स्वर पूर्ववर्ती पद के अन्त्य से मिल गया है, तो इसका संकेत वर्ण-लोप-चिह्न से होगा—एक से, यदि आदि स्वर अपेक्षाकृत ह्रस्व है, दो से यदि यह अपेक्षाकृत दीर्घ है, दो विभिन्न प्रकार के आदि स्वर होनेवालों में से, जहाँ संयोग की प्रत्येक स्थिति में परिणाम समान निकलता है।

१२७—अ-स्वर परवर्ती इ-स्वर के साथ मिलकर ए, उ-स्वर के साथ ओ ऋ के साथ अर्, ऌ के साथ (नियमतः) अल्, ए या ऐ के साथ ऐ, और ओ या औ के साथ औ हो जाता है। उदाहरणार्थ—

राजेन्द्र	**(राज + इन्द्र);**
हितोपदेशः	**(हित + उपदेशः);**
महर्षिः	**(महा + ऋषिः);**
सैव	**(सा + एव);**
राजैश्वर्यम्	**(राज + ऐश्वर्यम्);**
दिवौकसः	**(दिवा + ओकसः);**
ज्वरौषधम्	**(ज्वर + औषधम्)।**

अ—वैदिक ग्रन्थों में स्वर ऋ अ-स्वर के साथ साधारणतया अपरिवर्तित रूप में लिखा जाता है; अ-स्वर, यदि वह दीर्घ होता है, ह्रस्वीकृत हो जाता है। यथा—**महर्षिः** के स्थान में **महऋषिः**। किन्तु दोनों स्वर सामान्यतया एक अक्षर की तरह उच्चारित होते हैं।

आ—जब **इन्द्र आ इहि** जैसे अनुपूर्वी पदों को मिलाया जाता है, तो प्रथम संयोग **इन्द्रा** में प्रथमतः होगा, और परिणाम **इन्द्रेहि** Indre'' 'hi होगा (**इन्द्र एहि** से **इन्द्रैहि** नहीं)।

१२८—इन स्वर-संयोगों के स्वराघात के संबन्ध में यह द्रष्टव्य है कि (१) स्वाभाविक रूप से उदात्त के साथ उदात्त के योग होने पर उदात्त ही प्राप्त होता है और एक अनुदात्त के साथ दूसरे अनुदात्त के संयोग से अनुदात्तत्व बना रहता है, किन्तु स्वरित के साथ स्वरित का योग नहीं हो सकता है। (२) परवर्ती उदात्त के साथ स्वरित के मिलने से उदात्त प्राप्त होता है, इस प्रकार स्वरित के अन्त्य अनुदात्त तत्त्व को उदात्त सुर पर लाया जाता है; परवर्ती उदात्त के साथ अनुदात्त की भी यही स्थिति होती है, क्योंकि अक्षर में स्वर का ऊपरी अवरोह भाषा में स्वीकृत नहीं है। किन्तु (३) संहित तत्त्वों का प्रथम यदि उदात्त

हो और परवर्ती अनुदात्त, तो यह अपेक्षित है कि हम पारिणामिक अक्षर में मूल स्वर का प्रतिनिधित्व करनेवाले सामान्य स्वरित की स्थिति मानें। वस्तुतः ऐसी सभी अवस्थाओं में पाणिनि ने ऐसा स्वर माना है; स्वर चिह्नों के प्रयोग करनेवाले एकमात्र ब्राह्मण (श० बा०) में नियमित रूप से स्वरित चिह्नित है। किन्तु भाषा में सर्वोपरि ऐकान्तिक आधार के रूप में दीर्घस्वर या सन्धि-स्वर के ऊपर स्वरित लाने की अप्रवृत्ति देखी जाती है, और उदात्त प्रकृति में अन्य स्वर को अपने सुरत्व तक उठाने की विधि प्राप्त होती है जिससे कि सम्पूर्ण अक्षर उदात्त हो जाता है। इसका एक ही अपवाद अधिकांश ग्रन्थों में इ॑ और इ का संयोग है जो ई हो जाता है। इस प्रकार दि॒वि इ॑व से दि॒वी॑व, केवल तैत्तिरीय पाठों में ऐसे स्थल पर सामान्य नियम का पालन होता है, जब कि उ॑ और उ उसके विपरीत ऊ॑ बनाते हैं यथा—सु॑-उद्गाता से सू॑द्गाता।

१२९—सदृश स्वर या सन्धि-स्वर से पूर्व ई-स्वर, उ-स्वर और ऋ-स्वर तदनुरूपी अन्तःस्थ य्, व् या र् में नित्य परिवर्तित होते हैं। उदाहरण हैं:—

इत्याह (इति+आह);
मध्विव (मधु+इव);
दुहित्रर्थं (दुहितृ+अर्थ);
स्त्र्यस्य (स्त्री+अस्य);
वध्वै (वधू+ऐ)।

अ—किन्तु अन्तरंग संयोग में इ-और उ-स्वर इसके विपरीत अविरले इय् और उव् में परिवर्तित हो जाते हैं—और ऐसा विशेषतः एकाक्षरों में अथवा दो व्यंजनों के बाद होता है, जहाँ अन्यथा कठिन उच्चारण वाले संयुक्त-व्यंजन उपस्थित हो जाते। इन अवस्थाओं का उल्लेख शब्द-रूपों की व्याख्या में किया जायगा।

आ—परोक्ष भूतकालिक रूप में इ के पूर्व भी धातुमूलक इ य् में परिवर्तित होता है। इस प्रकार **निन्यिम (निनी+इम)।**

इ—कुछ विकीर्ण स्थलों में इ और उ पद-रचना में भी इय् और उव् होते हैं। जैसे—**त्रियवि (त्रि+अवि), वियङ्ग (वि+अङ्ग), सुवित (सु+इत);** तुलनीय १२०४ आ, इ।

ई—बहुधा एक ही शब्द में (विशेष रूप से, यथा प्राचीनतर भाषा के विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त है) एकाधिक रूप पाये जाते हैं, जहाँ इ या उ-स्वर का विविध विकास परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ, **स्व॑र** या **सु॑वर, तन्वे॑** या **तनु॑वे, बुध्न्य॑** या **बुध्नी॑य, रात्र्यै॑** या **रात्रियै॑**। इसमें संदेह नहीं है कि अधिकांशतः

ये एक ही उच्चारण के लिखने के दो प्रकार ही हैं, सु॑-अर, बुध्नि॑-अ प्रभृति, तथा विधिता का कोई अन्य महत्त्व ऐतिहासिक अथवा ध्वनिशास्त्रीय नहीं है। भाषा के सभी कालों में व्यंजन के बाद इ या उ-तत्त्व के विकास का यह भेद न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान है।

उ—जहाँ सदृश या असदृश, दो स्वर-ध्वनियाँ एक हो जाती हैं (१२६, १२७) और जहाँ इ या उ-स्वर अन्तःस्थ में परिवर्तित हो जाता है, इन दो अवस्थाओं की कोटि में असंयोग और परिणामी प्रगृह्य की तुलना में प्रगृह्य परिहार के लिए स्वर-संयोग के पुनरावर्तन को लेकर प्राचीनतर भाषा में विशिष्ट अन्तर होता है। इस प्रकार पद-रचना में संहित स्वरों और सभंग स्वरों का अनुपात ऋ० वे० में पाँच और एक का है, अ० वे० में उन्नीस और एक का, जब कि अन्तःस्थ-परिवर्तन की अवस्थाएँ ऋ० वे० में बारह में केवल एक है, अ० वे० में पाँच में मात्र एक; वाक्य संयोग में संमेलन की अवस्थाएँ ऋ० वे० और अ० वे० दोनों में लगभग सात और एक के अनुपात में होती हैं, किन्तु अन्तःस्थ परिवर्तन वाली ऋ० वे० में पचास में केवल एक है, अ० वे० में पाँच में एक।

ऊ—य् या व् के पूर्व क्रमशः इ और उ के समीकरण या लोप की कुछ अवस्थाओं के लिए द्रष्टव्य २३३ अ।

१३०—स्वराघात को लेकर यहाँ, पिछली अवस्था की तरह (१२८), एकमात्र उल्लेख्य संयोग परवर्ती अनुदात्त के साथ उदात्त इ या उ-स्वर का है—परिणामरूप स्वरित होता है; और इस प्रकार के स्वरित अन्य किसी की या सब प्रकारों की अपेक्षा अनेक बार अधिक आये हैं।
उदाहरण होते हैं :—

व्यु॑ष्टि (वि॑-उष्टि); अभ्य॑र्चति,
नद्यौ॑ (नदी॑-औ);
स्वि॑ष्ट (सु॑-इष्ट); तन्व॑स् (तनू॑-अस्)।

अ—परवर्ती अनुदात्त के साथ ऋ॑ उदात्त के तथाविध संयोग का केवल एक ही उदाहरण स्वर-चिह्नित ग्रन्थों में उपलब्ध है—यथा, **विज्ञात्रे॑तत्** अर्थात् **विज्ञातृ॑ एत॑त्**, (श० ब्रा० १४–६–८[११]); इ और उ विषयक नियमों के अनुसार स्वर-विधान है।

१३१—सन्धि-स्वर का अन्त्य इ या उ-अंश तद्रूपी य् या व् में परिवर्तित हो जाता है, बाद में यदि कोई स्वर या सन्धि-स्वर हो। इस प्रकार ए

53770

(वस्तुतः अइ, २८ अ), अय् हो जाता है, और ओ (अर्थात् अउ, २८ अ) अव् हो जाता है; ऐ आय् हो जाता है, और औ आव् हो जाता है ।

अ—यहाँ स्वराघात में वस्तुतः कोई परिवर्तन नहीं होता है; प्रत्येक मूल अक्षर अपने आक्षरिक स्वरूप को सुरक्षित रखता है, और फलतः अपने निजी सुर को भी ।

आ—केवल अन्तरंग संयोग के उदाहरण दिये जा सकते हैं, क्योंकि बहिरंग संयोग में और विशेष परिवर्तन होते हैं; देखिए परवर्ती परिच्छेद । इस प्रकार,

नय (ने-अ) ; नाय (नै-अ) ;

भव (भो-अ) ; भाव (भौ-अ) ।

१३२—बहिरंग संयोग में हमें महत्त्वपूर्ण विशेष नियम प्राप्त है जिससे सन्धि = स्वर के अन्त्य तत्त्व के परिवर्तन-स्वरूप अन्तःस्थ का लोप सामान्यतः होता है, और परिणामिक प्रगृह्य विशेष पारिवर्तन के बिना रह जाता है ।

१३३—या यों कहें, अन्त्य ए (सर्वाधिक प्राप्त अवस्था) आदि स्वर (अ को छोड़कर, द्रष्टव्य १३५, नीचे) के पूर्व अ मात्र हो जाता है, और तब दोनों अपरिवर्तित रह जाते हैं; तथा अन्त्य ऐ इसी प्रकार (सर्वत्र) आ हो जाता है । यथा—

त आगताः	**(ते+आगताः);**
नगर इह	**(नगरे+इह);**
तस्मा अददात्	**(तस्मै+अददात्);**
स्त्रिया उक्तम्	**(स्त्रियै+उक्तम्) ।**

अ—परवर्ती वैयाकरणों के अनुसार उक्त संयोगों में य् या तो लुप्त हो सकता है, या सुरक्षित; किन्तु प्रत्येक काल में हस्तलेखों का एक समान व्यवहार वैदिक व्याकरणों (प्रातिशाख्यों) के नित्य निर्देश के अनुरूप अन्तःस्थ को लुप्त कर देने का और प्रगृह्य को सुरक्षित रखने का रहा है ।

आ—लोप से उत्पन्न प्रगृह्य का आग्रह मध्यम व्यंजन-ध्वनि के अपेक्षाकृत नूतन क्षय का स्पष्ट संकेत होता है ।

इ—किन्तु ऋ० वे० काल से ही भाषा के प्रत्येक काल में सामान्य नियम के अनुसार परवर्ती आदि के साथ अवशिष्ट अन्त्य स्वर के संयोग से प्रगृह्य परिहार के उदाहरण प्राप्त हैं; किन्तु ये विरल और विकीर्ण प्रकृतिक हैं । लुप्त अन्त्य स् के बाद प्रगृह्य के समान विकास के साथ तुलना कीजिए, १७६–७ ।

ई—हस्तलेखों द्वारा कुछ स्थलों में इस संयोग के विशिष्ट विकास के लिए द्रष्टव्य नीचे १७६ ई ।

१३४—अ—सन्धि-स्वर ओ (अन्त्य अस् के ध्वनि पारिणामिक परिवर्तन के अतिरिक्त, दे० १७५ अ) असाधारण अन्त्य होता है, जो केवल **गो** प्रातिपदिक में (३६१ इ), उकारान्त शब्दों (३४१) के सम्बोधन एकवचन में, उन पदों में जिनका अन्त्य अ निपात उ से संयुक्त रहता है यथा **अथो**, और कुछ विस्मयादि-बोधक अव्ययों में देखा जाता है। अन्तिम दो अवस्थाओं में यह प्रगृह्य होता है (१३८ इ, ऊ), सम्बोधन पदों में व् कभी सुरक्षित रहता है और कभी लुप्त हो जाता है (विभिन्न ग्रन्थों के प्रयोग इतने भिन्न हैं कि इनका विवेचन संक्षेप में संभव नहीं है), **गो** (केवल समास में) का अन्त्य अंश साधारणतया लुप्त नहीं होता है, बल्कि **गव्** या **गो** बना रहता है। अ को छोड़कर अन्य स्वर से पूर्व अन्त्य अस् अ हो जाता है, और बाद में प्रगृह्य बना रहता है। (इसके लिए देखिए आगेवाला परिच्छेद)।

अ—औ से विकसित आव् का व् सामान्यतया बना रहता है, यथा

तावेव	**(तौ+एव);**
उभाविन्द्राग्नी	**(उभौ+इन्द्राग्नी)।**

इ—किन्तु, प्राचीनतर भाषा के कुछ ग्रन्थों में यह उ-स्वर के पूर्व लुप्त होता है, यथा—**ता उभौ**; अन्य ग्रन्थों में यह ऐ की तरह विकसित होता है, या प्रत्येक आदि स्वर के पूर्व इसके उ-तत्त्व का लोप हो जाता है, यथा—**ता एव, उभा इन्द्राग्नी**।

१३५—अन्त्य ए या ओ के बाद आदि य् लुप्त हो जाता है।

अ—पारिणामिक स्वराघात उसी रूप में बना रहता है जैसे अ का लोप नहीं हुआ हो, बल्कि पूर्ववर्ती सन्धि-स्वर द्वारा अवशोषित हो गया हो; संयोग में उसका सुर अच्छी तरह सुरक्षित है। फलतः यदि ए आ ओ अनुदात्त या स्वरित हो और अ उदात्त, तो प्रथम उदात्त हो जाता है; यदि ए या ओ उदात्त हो और अ अनुदात्त, तो प्रथम स्वरित हो जाता है जैसा कि साधारणतया उदात्तत्त्व और अनुदात्तत्त्व के सम्मेलन में होता है। यदि दोनों उदात्त हों अथवा दोनों अनुदात्त, तो परिणाम में वस्तुतः कोई परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता है। उदाहरण है :—

तेऽब्रुवन्	**(ते अब्रुवन्);**
सो ब्रवीत्	**(सः अब्रवीत्);**
हिंसितव्योऽग्निः	**(हिंसितव्यः अग्निः);**
यदिन्द्रोऽब्रवीत्	**(यद् इन्द्रः अब्रवीत्);**
यद्राजन्योऽब्रवीत्	**(यद् राजन्यः अब्रवीत्)।**

आ—इस प्रकार के लोप की अवस्था में अवग्रह चिह्न के प्रयोग के लिए दे ऊपर १६। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिवर्तित वर्णलोप-चिह्न, या कटा हुआ विसर्ग लिप्यन्तरित करते समय इसके निरूपण में प्रयुक्त होगा।

इ—अन्त्य ए या ओ के बाद आदि अ का यह लोप या अन्तर्लयन, जो कि उत्तरकालिक भाषा में निरपवाद नियम है, वेद में कादाचित्क प्रयोगवाला होता है। इस प्रकार ऋ० वे० में इस प्रकार के आदि अ के लगभग ४५०० स्थलों में से, जैसा कि छन्द से स्पष्ट है, लगभग ७० बार ही वस्तुतः यह लोप अपेक्षित है; अ० वे० में लगभग १६०० में से ३०० से कम बार। दोनों में से किसी भी ग्रन्थ में पाठ के लेख्य तथा उच्चार्य्य रूप में इस संयोग को लेकर किसी प्रकार की संगति नहीं है; ऋ० वे० में अ (लिखित रूप में) प्रयोगों की तीन-चौथाई से भी अधिक जगह लुप्त है; अ० वे० में लगभग दो-तिहाई जगह; और दोनों ग्रन्थों के कतिपय स्थलों में यह लिखित है, जहाँ छन्द की दृष्टि से इसका लोप अपेक्षित है।

ई–कुछ अवस्थाओं में आदि आ, विशेषतः आत्मन् वाला, इसी प्रकार लुप्त हो जाता है।

उ–ऊपर निर्दिष्ट स्वर-संयोग के नियमों के कुछ अपवाद होते हैं। इनमें से विशेष विसंपर्कितों के कुछ का उल्लेख तब होगा जब ये रूपविधान आदि की प्रक्रिया में आयेंगे; कुछ का उल्लेख यहाँ अपेक्षित है।

१३६—अन्तरंग संयोग में—

अ—धातु के आदि-स्वर के साथ अ आगम में १२७ के अनुसार अपेक्षित ए, ओ, अर् (गुण-स्वर) की जगह ऐ, औ, आर् (वृद्धि-स्वर, २३५) संयोग प्राप्त होते हैं—यथा, **ऐत (अ + इत), औभ्नात् (अ + उभ्नात्), आर्ध्नोत् (अ + ऋध्नोत्)**।

आ–य (मूलतः इअ, १२१० अ) प्रत्यय से पूर्व मूल का अन्त्य ओ (१२०३ अ) अव् होता है।

इ—मूल का अन्त्य स्वर बहुधा लुप्त हो जाता है, जब कि तद्धित प्रत्यय का योग होता है (१२०३ अ)।

ई—धातुमूलक स्वरों के दुर्बलीकरण और लोप के लिए, तथा कुछ अन्तर्निदेशों के लिए देखिए नीचे, (२४९ मु० वि०, १५७–२५८)।

१३७—बहिरंग संयोग में :—उपसर्ग का अन्त्य अ या आ धातु के आदि ऋ के साथ मिलकर अर् की जगह आर् होता है। यथा—**आर्छति**

(**आ+ऋच्छति**), **अवार्छति** (**अव+ऋच्छति**), उपार्षति (श० ब्रा०,—**उप+ऋषति,** किन्तु अ० वे० **उपर्षन्ति**) ।

आ—आदि ए या ओ के पूर्व अन्त्य अ या आ के आपाततः लुप्त होने के उदाहरण कभी-कभी मिलते हैं । इस प्रकार क्रियारूपों में **अवेष्यामस्** ऐ० ब्रा० **उप् एषतु** आदि अ० वे० प्रत्ययान्त रूपों में यथा—**उपेतव्य, उपेतृ;** समासों में यथा—दशोनि, यथेतम्, और (वैकल्पिक रूप से) ओष्ठ (विरल नहीं), **ओतु** (अनुद्धरणीय), **ओदनवाले** समास, यथा—अधरोष्ठ या अधरौष्ठ, तिलोदन या तिलौदन; और वाक्य-संयोग तक में, यथा—**इवेतयस्, अश्विनेव,** यथ् ओचिषे (सब ऋ० वे०), **त्वेमन्** और **त्वोदमन्** ब्रा०; ओम् या ओंकार भाव-बोधकपद के साथ नित्य रूप से ।

इ—पूर्ववर्ती अ के साथ √**वह्** के निष्पन्न **ऊह्** रूप का प्रवृद्ध या वृद्धि (२३५) सन्धि स्वरात्मक संयोग कभी-कभी प्राप्त होता है, यथा-**प्रौढि, अक्षौहिणी** (**प्र+ऊढि** प्रभृति से) ।

१३८—किन्तु कुछ अन्त्य स्वर प्रगृह्य होते हैं, अर्थात् किसी परवर्ती स्वर के पूर्व ये स्वतः अपरिवर्तित बने रहते हैं । यथा—

अ—शब्दरूप और क्रियारूप दोनों के द्विवचन अन्त्य-चिह्न वाले ई, ऊ और ए स्वर । यथा—**बन्धू आसाते इमौ; गिरी आरोहतम् ।**

आ—सर्वनाम **अमी** (प्रथमा बहु०, ५०१); और वैदिक सार्वनामिक रूप **अस्मे॑, युष्मे॑, त्वे॑** (४९२ अ) ।

इ—निपात **उ** (११२२ आ) के साथ अन्त्य अ स्वर संयोग से बना अन्त्य ओ, यथा—**अथो, मो, नो ।**

ई—इदन्त-शब्द के (३३६ ऊ) के वैदिक अधिकरणकारक का अन्त्य ई ।

उ—प्लुत अन्त्य स्वर (७८) ।

ऊ—विस्मयादिबोधक शब्द का अन्त्य अथवा मात्र एक स्वर, यथा—**अहो, हे, आ, इ, उ ।**

ए—प्राचीनतर भाषा में इन नियमों के कादाचित्क अपवाद देखे जाते हैं—इस प्रकार द्विवचनान्त ई परवर्ती इ से संहित होने पर यथा—**नृप॑तीव;** ओ के बाद अ के लोप से, यथा—**अ॑थोसि,** सप्तमी ई अन्तःस्थ में परिवर्तित होने से, यथा— **वे॑दयस्याम्** ।

विहित अन्त्य

१३९—स्वतः प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में (परवर्ती किसी के साथ सन्धि में न रहने पर) अन्त्य रूप से प्रयोज्य होनेवाली ध्वनियाँ अत्यन्त सीमित हैं, और

जो भी व्युत्पत्ति लेकर उस प्रकार का स्थान ग्रहण करती हैं, अन्य अवस्थाओं में अपने विकास की सामान्य अनुरूपता के साथ बहुधा अनेक रूप से परिवर्तित होती हैं, या कभी-कभी बिलकुल लुप्त कर दी जाती हैं।

अ—सविभक्तिक रूप अथवा प्रत्ययान्तमूल के अन्त में आने वाले व्यंजनों का वैविध्य भाषा में बहुत कम होता है। यथा—रूपों में केवल त् (या द्) न्, म्, स्; प्रत्ययान्त मूलों में केवल त्, द्, न्, र्, स् (और कुछ विरल शब्दों में ज्)। किन्तु प्रायः सभी व्यंजन धात्वन्त्य-जैसे आते हैं; और प्रत्येक धातु, स्वतः अथवा समास के अन्तिम पद के रूप में संज्ञा प्रातिपदिक की अवस्था में सहज प्राप्त हो सकती है।

१४०—सभी स्वर-ध्वनियाँ, सरल और सन्धि दोनों, शब्द के अन्त में उच्चारित हो सकती हैं।

अ—किन्तु ॠ या ॡ, किसी का वैसा प्रयोग वस्तुतः नहीं होता; और ऋ (केवल ऋ या अर् अन्त वाले मूल के नपुं० एक० रूप में, या समास में उस प्रकार के मूल के अन्त्य-जैसा) विरल है।

इस प्रकार, **इन्द्र, शिवया, अकारि, नदी, दातु, चमू, जनयितृ, अग्ने, शिवायै, वायो अग्नौ**।

१४१—निरनुनासिक स्पर्शों में प्रत्येक वर्ग का प्रथम, अघोष अल्पप्राणवर्ण, ही विहित है; अन्य—अघोष महाप्राण और सघोष दोनों (अल्पप्राण और महाप्राण)—जब कभी ये व्युत्पत्ति की दृष्टि से आयेंगे, इसमें परिवर्तित हो जाते हैं। यथा—**अग्निमथ्** के लिए **अग्निमत्**, **सुहृद्** के लिए **सुहृत्**, **वीरुध्** के लिए **वीरुत्**, **त्रिष्टुभ्** के लिए **त्रिष्टुप्**।

अ—कुछ धातुओं में मूल सघोष महाप्राण फिर से आ जाता है, जब उनका अन्त्य (सघोष महाप्राण) इस प्रक्रिया में अपने प्राणत्व को खो देता है। तुलनीय ह्, नीचे १४७।

इस प्रकार **दघ् धक्** होता है, **बुध् भुत्** हो जाता है, इत्यादि।

जिन धातुओं में इस प्रकार का परिवर्तन देखा जाता है, वे नीचे १५५ उल्लिखित होंगी।

आ—भारतीय वैयाकरणों के सामने एक प्रश्न बना रहा कि अन्त्य स्पर्श में अघोषत्व या सघोषत्व माना जाय; किन्तु प्रमाणों का प्राबल्य और हस्तलेखों का नित्य प्रयोग अघोषत्व के पक्ष में है।

१४२—किन्तु, तालव्य यहाँ (जैसा कि बहुधा अन्यत्र) अन्त्य स्पर्शों के विषयक नियमों के अपवाद-स्वरूप होते हैं। कोई भी तालव्य अन्त्य में सम्भव

नहीं है। च् अपने मूल क् (४३) में प्रतिवर्तित हो जाता है, यथा—**वाक्**, **अंहोमुक्**। छ् (मात्र प्रछ् धातु में उद्धरणीय) ट् होता है यथा—**प्राट्**। ज् या तो अपने मूल कण्ठ्य में प्रतिवर्तित हो जाता है, अथवा ट् होता है, अन्य संयोगों में अपने विकास के अनुरूप (२१९)। यथा—**भिषक्**, **विराट्**। झ् पाया नहीं जाता है, किन्तु देशी वैयाकरणों द्वारा ट् में परिवर्तनीय माना जाता है।

१४३—अनुनासिकों में से म् और न अत्यधिक सामान्य हैं, इनमें विशेषतः प्रथम (म् और स् सभी अन्य व्यंजनों के सर्वाधिक प्रयुक्त होते हैं); ण् भी प्राप्त होता है, किन्तु यह बहुत विरल है; ङ् (परवर्ती क् के लुप्त होने पर सुरक्षित) बहुत कम शब्दों में (३८६ आ, इ, ४०७ अ) पाया जाता है; ञ् कहीं उपलब्ध नहीं होता है।

अ—किन्तु धातु का अन्त्य म् न् में परिवर्तित (तु० २१२ अ, नीचे) हो जाता है। यथा—**क्रम्** से **अक्रन्**, **गम्** से **अगन्**, **अजगन्**, **अगनीगन्**, **नम्** से **अनान्**, **यम्** से **अयान्**, **शम्** से **प्रशान्**; अन्य प्रयोग अनुद्धरणीय हैं।

१४४—अन्तस्थों में से केवल ल् विहित अन्त्य है, और यह खूब असाधारण है। र् (अपने निकटतम अघोष अनुरूपी, स्—की तरह, १४५) अन्त में आने से विसर्ग में परिवर्तित हो जाता है। य् और व् का कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता है।

१४५—शिन्-ध्वनियों में से कोई भी पद के अन्त में अपरिवर्तित होकर नहीं रह सकती है। स् (जो सभी अन्त्य व्यंजनों में सर्वाधिक सामान्य होती है र् की तरह श्वास-ध्वनि विसर्ग में परिवर्तित हो जाती है। श् या तो अपनी मूल ध्वनि क् में प्रतिवर्तित हो जाती है (४३), या कुछ धातुओं में (विधान और प्रत्यय-विधान में अपने परिवर्तनों के अनुरूप, देखिए नीचे २१८) ट् में परिवर्तित होती है। यथा—**दिक्**, किन्तु **विट्**। ष् इसी तरह ट् में परिवर्तित हो जाती है, यथा—**प्रावृट्**।

अ—ट् में ष् का परिवर्तन विरल प्राप्ति का है, देखिए नीचे, २२६ ई।

आ—वैयाकरणों ने धातुमूलक अन्त्य स् का परिवर्तन त् में माना है, किन्तु इस परिवर्तन का निश्चित उदाहरण उद्धरणीय नहीं है। दे० १६८; और तुलनीय ५५५ अ।

१४६—यौगिक क्ष् को सरल ष् जैसा विकसित माना जाता है (नीचे १५० के अनुसार क् प्राप्त नहीं)। किन्तु ऐसी अवस्था विरल होती है, और इसका यथार्थ विकास प्राचीनतर भाषा में अनियमित है।

अ—केवल ऋ० वे० प्रयोगों में, जहाँ क्ष् में अर्धधात्विक स्वरूप उपलब्ध है, यथा—**अनक्ष्** से **अनक्**, और √**म्यक्ष्** से **अम्यक्** क् परिवर्तन प्राप्त होता है। पुनः स् लुङ् के रूपों में (दे० ८९०), हम **अधाक्**, **अस्राक्**, **अरैक्**, प्रभृति पाते हैं; किन्तु साथ ही, **अप्राट्**, **अयाट्**, **अवाट्**, **अस्राट्** (अप्राक्ष्-त् प्रभृति के लिए)। पुनः ऋ० वे० में √**यज्** से **अयास्** दो बार; तथा अ० वे० में √**सृज्** से **स्रास्** दो बार (गलत ढंग से बौ० रा० ने इसका संबंध √**स्रंस्** से माना है), आये हैं, दोनों मध्यम एक० रूप हैं जहाँ संभवतः पुरुष तिङन्त प्रत्यय ने धात्वन्त और लकारचिह्न को संकुलित कर दिया है।

आ—संख्यावाची **षष्** छः का षक्ष् मानना प्रायः अधिक संगत होगा, जहाँ स्वीकृत नियम के अनुसार ष् क्ष् जैसा विकसित है।

१४७—प्राणध्वनि ह् स्वतः रक्षित नहीं मानी गयी है, किन्तु (ज् और श् की तरह) या तो क् बनकर अपने मूल कण्ठ्य रूप में प्रतिवर्तित हो जाती है, या ट् में परिवर्तित होती है—दोनों ही रूप-विधान में इसके विकास के अनुरूप हैं देखिए नीचे २२२। और, रूपविधान में-जैसी ही कुछ धातुओं (१५५ आ में दी हुई) को मूल सघोष प्राणध्वनि फिर से आ जाती है, जब कि इनकी अन्त्य ध्वनि इस प्रकार अल्पप्राणित हो जाती है। जहाँ मूल ध् (२२३ उ) से ह् प्राप्त होती है, वह त् हो जाती है।

१४८—**विसर्ग** और **अनुस्वार** कहीं भी व्युत्पत्तिमूलक अन्त्य नहीं होते हैं; प्रथम मूलान्त्य स् का स्थानापन्न मात्र होता है, और दूसरा तभी अन्त्य-जैसा आता है, जब वह म् (२१३ ऐ) का प्रतिस्थापक होता है।

१४९—इस प्रकार स्वरों को छोड़कर सामान्य अन्त्य, बहुत कुछ अपने पुनरावर्तन के इस क्रम के साथ होते हैं :, म्, न्, त्, क्, प्, ट्; केवल विकीर्ण प्रयोगवाले ङ्, ल्, ण् हैं; और प्रतिस्थापन से ं।

१५०—सामान्यतया केवल एक ही व्यंजन, चाहे वह जिस कोटि का हो, पद के अन्त में रखा जा सकता है; यदि दो या अधिक व्युत्पत्ति-दृष्टि से वहाँ आते हैं, तो अन्तिम लुप्त हो जाता है, और फिर अन्तिम—जब तक कि केवल एक अवशिष्ट रह जाता है।

अ—इस प्रकार **तुदन्त्स्** **तुदन्त्** बनता है, और फिर वह **तुदन्** हो जाता है; **उदञ्च्स्** **उदङ्क्** (१४२) होता है और फिर **उदङ्**; इसी तरह (√**छन्द्** [८९० आ] से अन्य० एक० स्-लुङ् रूप) **अछान्त्स्त्** का अपचित **अछान्** है।

आ—किन्तु निरनुनासिक स्पर्श, यदि वह धात्विक और अप्रात्ययिक हो, र् के बाद सुरक्षित रहता है। यथा—ऊर्ज् से ऊर्क्, √वृज् से वर्क्, √वृत् से अवर्त्, √मृज् से अमार्ट्, सुहृद् से सुहार्त् प्रयोग प्रचलित नहीं है।

इ—प्रत्यक्ष सन्धि के प्रच्छन्न रूप में वैदिक भाषा द्वारा सुरक्षित पूर्वद्विक अन्त्यों के अवशेषों के लिए देखिए नीचे २०७ मु० वि०।

१५१—अन्य वर्ग के स्पर्श में अन्त्य स्पर्श के नियमविरुद्ध परिवर्तन यदा-कदा प्राप्त होते हैं। उदाहरण हैं :—

अ—अन्त्य त् का परिवर्तन क् में : इस प्रकार—(१) कुछ शब्दों में जिन्होंने निपातों-जैसी विशिष्ट प्रयोगिता ग्रहण कर ली है, यथा **ज्योक्**, **ताजक्** (साथ ही **ताजत्**), **ऋधक्** (**ऋधत्** भी), **पृथक्**, **द्राक्**; और सजातीय लक्षण वाला **खादग्दन्त्** (तै० आ०) होता है; (२) यदा-कदा क्रिया-रूप में, यथा **साविषक्** (अ० वे० और बा० सं० का० व०), **दम्भिषक्** (आपस्त०), **अविष्यक्** (पारस्क०), **आहलक्** (बा० सं०, मै० सं०,—**आहरत्**); (३) धात्वन्त्यों या धातु-मूलों में जुड़े त् में (३८३ उ), यथा—समासों के अन्तवाले-**धृत्** (सूत्र और उत्तरकालिक) के लिए **धृक्**, **सध्रुक्** (तै० ब्रा०), **पृक्षु** (सा० वे०); और (४) पुनः यहाँ **एड्क्ष्व** (ऐ० ब्रा०; इन्त्स्व के लिए, इध्) और अवाक्सम् (ऐ० ब्रा०), तथा त अन्तवाले पुल्लिंग रूपों से **क्नी** अन्तवाले स्त्रीलिंग रूपों—(११७६ ई०) जैसे नियम-विरुद्ध प्रयोगों को हम ले सकते हैं।

आ—अन्त्य द् या त् का परिवर्तन मूर्धन्य में : यथा—**पद्** से वैदिक **पड्भिस्**, **पड्गृभि**, **पड्बीश**; **उपानड्भ्याम्** (श० ब्रा०); **व्यवाट्** (मै० सं०—३-४-९; √**वस्** चमकना), और संभवतः **अपाराट्** (मै० सं०; या √**रज्** ?)।

इ—एक या दो विकीर्ण उदाहरणों में म् या ज् का त् में, यथा—**सम्यत्**, **अस्रृत्**, **विश्वसृत्** (तै० सं०, का०), और **प्रयत्सु** (वा० सं०, तै० सं०; अ० वे०—**क्षु**)।

ई—तैत्तिरीय संहिता में **अनुष्टुभ्** और **त्रिष्टुभ्** के अन्त्य का परिवर्तन कण्ठ्य ध्वनि में, यथा—**अनुष्टुक्** च, **त्रिष्टुग्भिस्**, **अनुष्टुग्भ्यस्**।

उ—दन्त्य में ओष्ठ्य का परिवर्तन—**ककुभ्** के अतिरिक्त तथा उसके लिए **ककुद्** में; और √**सृप्** से **संसृद्भिस्** (तै० सं०) में; और अप् या **आप्** (३९३) से **अद्भिस**, **अद्भ्यस्** में। प्रथम को छोड़कर अन्य सभी

विषमीकरण के उदाहरण जैसे ब्भ् लगते हैं; तथापि प्राचीनतर भाषा में ब्भ् संयोग के उदाहरण खूब विरल नहीं है, यथा **ककुब्भ्याम्, त्रिष्टुग्भिस्, ककुब्भण्ड, अनुष्टुब्भिः** ।

ऊ—**प्रतिदुह्** से **प्रतिधुषस्**,—षा (तै० सं०) रूप विकीर्ण असंगतियाँ हैं।

१५२—बहिरंग संयोग की सभी प्रक्रियाओं में— अर्थात् समास और वाक्य-विन्यास में—मूल-अन्त्य या शब्द-अन्त्य में सामान्यतया व्युत्पत्तिमूलक रूप न देखकर विहित अन्त्यों के नियमानुसार रूप ही मानना अपेक्षित है। किन्तु स् और र् को इनके अपकार-स्वरूप लेना चाहिए; इन ध्वनियों के विभिन्न परिवर्तनों का कोई भी सम्बन्ध विसर्ग के साथ नहीं है, जिसमें अन्त्य के रूप से विराम के पहले ये, ध्वनि-शास्त्रीय इतिहास के अपेक्षाकृत नूतन काल में—परिणत हो जाती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में ह् की जगह अन्त्य स् या र् के साथ शब्द सर्वत्र लिखे जायेंगे; और संयोग के नियम दो अधिक मूलध्वनियों को लेकर, न कि विसर्ग को लेकर वर्णित होंगे।

प्राण-लोप

१५३—अन्य निरनुनासिक-स्पर्श के पूर्व अथवा शिन्-ध्वनि के पूर्व महाप्राण स्पर्श अल्पप्राण में परिवर्तित हो जाता है; केवल किसी स्वर या अन्तःस्वर या अनुनासिक के पूर्व यह अपरिवर्तित बना रहता है।

अ—इस प्रकार की अवस्था केवल अन्तरंग सन्धि में ही होती है, क्योंकि बहिरंग सन्धि की प्रक्रियाओं में महाप्राण का परिवर्तन अल्पप्राण में पूर्वगृहीत हैं (१५२)।

आ—व्यावहारिक दृष्टि से महाप्राण के परिवर्तन को लेकर नियम प्रायः सघोष महाप्राणों से ही संबद्ध हैं, क्योंकि अघोषों की, जो उत्तर विकास और विरलतर प्रयोग वाले हैं, ऐसी स्थिति कठिनता से मिलती है जहाँ इन नियमों का विनियोग अपेक्षित हैं।

१५४—फलतः जहाँ ऐसे व्यंजन में द्वित्व होता है, तो यह इसके अनुरूपी अल्पप्राण को पूर्वन्यस्त करके होता है।

अ—किन्तु वैदिक और उत्तरकालिक दोनों ही पाण्डुलिपियों में महाप्राण स्पर्श बहुधा युग्म रूप में ही लिखित पाया जाता है, विशेषतः जब इसका दुर्लभ प्रयोग हो। उदाहरणार्थ, (ऋ० वे०), **अख्खली, जझ्झती**।

१५५—कुछ धातुओं में, जब अन्त्य सघोष महाप्राण (घ्, ध्, भ्; साथ ही, मूल घ् का प्रतिनिधित्व करने वाला ह् भी) इस प्रकार अपने प्राणत्व को खो देता है, तब आदि सघोष व्यंजन (ग् या द् या ब्) महाप्राण हो जाता है।

अ—अर्थात् वैसी धातुओं का मूल आदि-महाप्राण प्रत्यावर्तित हो जाता है, यदि उसकी उपस्थिति अपेक्षाकृत नवीन सन्धिमूलक नियम में बाधा नहीं पहुँचाती है, जिस संयोग के (ग्रीक की तरह संस्कृत में) चलते धातु के आरम्भ और अन्त दोनों में महाप्राण नहीं आता।

आ—जिन धातुओं में यह विशिष्ट परिवर्तन देखा जाता है, वे हैं :—

घ् में **दघ्**;

ह् (मूल घ् से विकसित) में **दह्, दिह्, द्रुह्, द्रुह्, दृंह्, गुह्**; और **ग्रह्**, (उत्तरकालिक सन्नन्त जिघृक्ष);

ध् में—**बन्ध्, बाध्, बुध्।**

भ् में **दभ्** (केवल उत्तरकालिक सन्नन्त धिप्स, जिसके लिए प्राचीनतर भाषा में दिप्स प्राप्त है)।

इ—यही परिवर्तन वहाँ भी देखा जाता है, जहाँ अन्त्यों को लेकर नियम के कारण धात्वन्त में प्राणत्व का लोप हो जाता है। दे० नीचे १४१।

ई—किन्तु **दह्, दुह्, द्रुह्** और **गुह्** से प्रत्यावर्तित आदि-महाप्राण के बिना रूप भी वेद में उपलब्ध हैं। यथा—**दक्षत्; अदुक्षत्; दुदुक्ष,** इत्यादि; **जुगुक्ष; मित्रद्रुक्।**

उ—√**धा** (६६७) से वर्तमान-मूल **दधा** के संक्षिप्त प्रतिस्थापक **दध्** के कुछ क्रिया-रूपों में वही सादृश्य उपलब्ध है, यथा—**दध्+थस्** से **धत्थस्, अदध+त** से **अधत्त, अदध्+ध्वम्** से **अधद्ध्वम्,** प्रभृति।

ऊ—मध्यमपुरुष एक० लोट् परस्मै तिङन्त **धि** के संयोग में महाप्राण के पूर्व विक्षेप का कोई भी उदाहरण नहीं मिलता है। यथा— **दुग्धि, दद्धि** (ऋ० वे०) किन्तु **धुग्ध्वम्, धद्ध्वम्।**

अघोष और सघोष समीकरण

१५६—इस शीर्ष के अन्तर्गत प्रत्ययों और अन्तचिह्नों के साथ मूल या धातु के अन्तरंग संयोग और पद-निर्माण में मूल के साथ मूल के और वाक्य-रचना में शब्द के साथ शब्द के बहिरंग संयोग में विशेषतः एक अधिक उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है। यथा—

१५७—अ—अन्तरंग संयोग रूप-विधान के अन्तचिह्न या प्रत्यय के आदि-स्वर या अन्तःस्थ या अनुनासिक का कोई परिवर्तनीय प्रभाव धातु या मूल के, जिससे वह युक्त किया जाता है, अन्त्य व्यंजन पर नहीं पड़ता है।

आ—इस नियम के कुछ अपवाद होते हैं, यथा—१११ ई में उल्लिखित

प्रत्ययों के कुछ; भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय न (९५७ ई) के पूर्व धातु का अन्त्य द्; और नीचे १६१ आ, निर्दिष्ट रूप ।

इ—दूसरी ओर बाह्य-संयोग में किसी वर्ग का आदि सघोष, स्वर या अन्तःस्थ या अनुनासिक होने पर भी अन्त्य अघोष को सघोष में परिवर्तित कर देता है ।

ई—ऊपर यह उल्लिखित हो चुका है (१५२) कि बहिरंग संयोग के नियमों में केवल विहित अन्त्यों, स् और र् इनमें सम्मिलित हैं का ग्रहण अपेक्षित है, अन्य सभी को आदि वर्णों से संहित करने के पूर्व इनमें ही घटित समझना चाहिए ।

१५८—अघोप और सघोष समीकरण की प्रक्रिया में अन्त्य स्वर, अनुनासिक और ल् कहीं भी परिवर्तनीय नहीं हैं ।

अ—किन्तु र् का अनुरूपी अघोष स् है, जिसमें वह अघोष उच्चारण की अनुकूल परिस्थितियों के होने से (१७८) बहिरंग संयोग के चलते कभी-कभी परिवर्तित हो जाता है ।

१५९—उपर्युक्त अपवादों को छोड़कर अन्यत्र संयोगों में अघोष और सघोष ध्वनियों के संघटन का परिहार होता है—तथा ऐसा नियमित और सामान्य रूप से अन्त्य को परवर्ती आदि के सम कर देने से, या पश्च समीकरण से होता है । इस प्रकार अन्तरंग संयोग में **अ॑त्सि, अ॑त्ति, अत्थ॑स्, अत्त॑** (**√अद्+सि,** प्रभृति); **शग्धि॑, शग्ध्व॑म्** (**√शक्+धि,** प्रभृति);—बहिरंग संयोग में **अ॑भूद् अयम्, ज्यो॑ग्जीव, षड् अशीत॑यः, त्रिष्टु॑ब् अ॑पि, दिग्-गज, षड्-अह॑. अच॑द्-धूम, बृह॑द्-भानु, अब्ज॑ ।**

१६०—किन्तु, यदि धातु का अन्त्य सघोष महाप्राण के बाद अन्त-चिह्न का त् या थ् हो, तो समीकरण दूसरी दिशा में, या पुरोगामी होता है—संयोग सघोष बन जाता है, और अन्त्य का महाप्राण (ऊपर १५३ के अनुसार लुप्त) अन्त चिह्न के आदि में संक्रमित हो जाता है ।

इस प्रकार त् या थ् के साथ घ् ग्ध् होता है, ध् उसी के साथ द्ध् हो जाता है, यथा—**बुद्ध॑** (**√बुध्+त,**), **रुन्द्ध॑स्** (**रुन्ध्+थस्** या **तस्** ;) भ् उसी से मिलकर **ब्ध्** होता है, यथा—**लब्ध** (**लभ्+त**), **लब्ध्वा॑** (**√लभ्+त्वा**) ।

अ—इसके अतिरिक्त मूल घ् का प्रतिनिधित्व करने वाला ह् इसी ढंग से विकसित होता है । यथा—दुह् से **दुग्ध॑, दो॑ग्धुम्**—और **रुह्** और **लिह्** से निष्पन्न **रूढ॑** और **लीढ॑**, प्रभृति की तुलना कीजिए, २२२ आ ।

आ—इस संयोग में चूँकि सघोष प्राणत्व लुप्त न होकर संक्रमित होता है, आदि-प्राणत्व का प्रत्यावर्तन (१५५) उपस्थित नहीं होता है ।

इ—√**धा** (१५५ उ) से दध् में अपेक्षाकृत अधिक नियमित प्रक्रिया का पालन होता है; ध् अघोष बन जाता है, और आदि महाप्राणित । यथा—**धत्थस्, धत्तस्** । पुनः ऋ० वे० में √**दध्** से **दग्धम्** की जगह घक्तम् प्राप्त है; तथा तै० आ० में √**इध्** से **इन्द्धाम्** के स्थान में **इन्ताम्** पाया जाता है ।

१६१—बहिरंग-संयोग में अनुनासिक के पूर्व अन्त्य स्पर्श केवल सघोष बना दिया जाता है; या निजी वर्ग के अनुनासिक में परिवर्तित कर पुनः समरूप बनाया जा सकता है ।

इस प्रकार, **तद् नमस्** या **तन् नमस्** , **वाग् मे** या **वाङ् मे, बड् महान्** या **बण् महान्, त्रिष्टुब् नूनम्** या **त्रिष्टुम् नूनम्** ।

अ—व्यवहार में अनुनासिक में परिवर्तन प्रायः नित्यरूप से पाण्डुलिपियों में किया जाता है, जैसा कि वस्तुतः प्रातिशाख्यों में यह अनुमोदित ही नहीं, अपितु नित्य माना गया है । सामान्य वैयाकरणों ने भी इसे **षण्णवती** सामासिक में, और मात्रा के पूर्व तथा प्रत्ययमय (१२२५) पूर्व नित्य माना है । यथा—**वाङ्मय, मृन्मय** ।

आ—अन्तरंग संयोग तक में, वैसा समीकरण १११ ई में उल्लिखित प्रत्ययों में से कुछ में और (९५७ ई) न-भूतकालिक कृदन्तरूपों में होता है । तथा कुछ विकीर्ण उदाहरण क्रिया-रूप-विधान में भी प्राप्त हैं, यथा—**स्तिङ्नोति, स्तिङ्नुयात्** (मै० सं०; **स्तिघ्न** के लिए), **मृन्नीत** (ला० श्रौ०सू; **मृद्न** के लिए), **जाङ्मयन्** (कौ० सू०, **जाग्म्** के लिए); किन्तु ये (१५४ अ, द्वित्व महाप्राणों की तरह) निश्चित रूप से भ्रामक पाठ जैसे अमान्य हो सकते हैं ।

१६२—ल् से पूर्व अन्त्य त् केवल सघोष नहीं होता है, अपितु, ल् बनकर पूर्णतः समीकृत हो जाता है । यथा—**तल्लभते, उल्लुप्तम्** ।

१६३—ह् से पूर्व (ऐसी स्थिति केवल बहिरंग संयोग में होती है) अन्त्य व्यंजन सघोष बना दिया जाता है, और तब ह् या तो अपरिवर्तित रह सकता है या पूर्ववर्ती के अनुरूपी सघोष महाप्राण में परिवर्तित हो सकता है । यथा—**तद्हि** या **तद्धि** ।

अ—व्यवहार में दूसरी पद्धति प्रायः नित्यरूप से आदृत है; और प्रातिशाख्य-काल के वैयाकरण इस विधान में प्रायः एकमत हैं । दोनों में ध्वनिशास्त्रीय भेद बहुत कम है ।

उदाहरण हैं :—वाग् धुतः, षड्ढोता (षट् + होता), तद्धित (तन् + हित), अनुष्टुब्भि ।

अन्त्य स् और र् के संयोग

१६४–स् और र् के सन्धिमूलक परिवर्तनों का विवेचन एक साथ करना अत्यधिक संगत हैं, क्योंकि पद समास और वाक्य-विन्यास में इन दो ध्वनियों का अनुरूपी अघोष और सघोष के रूप में—घनिष्ठ संबंध है। कतिपय स्थलों में स् र् का रूप धारण कर लेता है, जहाँ परिस्थितियों के कारण सघोषत्व की अपेक्षा या अनुकूलता रहती है; तथा अपेक्षाकृत कम स्थलों में र् स् हो जाता है, जहाँ अघोषत्व की अपेक्षा होती है।

अ—अन्तरंग संयोग में दोनों का पारस्परिक विनिमय अपेक्षाकृत कम संभव है; तथा प्रथमतः अवस्थाओं की इसी कोटि का विवरण प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

१६५—धातु-मूलक या अर्ध-धातुमूलक (अर्थात्, प्रत्यय के अन्त-चिह्न में नहीं रहने वाला) अन्त्य र् अघोष और सघोष दोनों ही ध्वनियों के पूर्व अपरिवर्तित रह जाता है, और इसी प्रकार शब्द-रूप में सु के पूर्व । यथा—**पिंपर्षि, चतुर्थं, चतुर्षु, पूर्षु** ।

१६६—धातुमूलक अन्त्य स् सामान्यतः अघोष के, और साधारणतया स् के पूर्ववर्ती होने पर बना रहता है, यथा—**शास्सि, शास्त्व, आस्से, आशीष्षु** (अन्तिम **आशीःषु** जैसा भी लिखा जाता है, १७२), किन्तु यह **असि** (अस् + सि, ६३६) में लुप्त हो जाता है। शब्दरूप में सघोष (अर्थात् भ्) के पूर्व यह बहिरंग में जैसा विकसित होता है; यथा—**आशीर्भिस्** । क्रियारूप में सघोष (अर्थात् ध्) के पूर्व कम-से-कम दीर्घ आ के बाद, यह लुप्त प्रतीत होता है; यथा—शाधि, शशाधि, चकाधि (इतने ही प्रयोग उद्धरणीय हैं); **एधि** (√अस् + धि, ६३६) में धात्वक्षर अनियमित रूप से परिवर्तित हो गया है, किन्तु मध्यम बहु० में ध्वम् से बने **आध्वम्, शाध्वम्, अराध्वम्** (८८१ अ), वध्वम् (√वस् कपड़ा पहनना) जैसे प्रयोगों में ध्व् और द्ध्व् (२३२) की तुल्यता और व्यतिहारवृत्ति के चलते कहना कठिन हो जाता है कि स् लुप्त हो गया है या यह द् में परिवर्तित है।

अ—धातुमूलक अन्त्य स् अत्यन्त विरल है; ऋ० वे० (दो बार, दोनों ही मध्यम० एक०) में घस् से उत्पन्न अघस् ठीक उसी प्रकार विकसित हुआ है जैसा अस् अन्त वाला कोई साधारण शब्द ।

आ—धातु के या काल-मूल के स् के अनियमित लोप की कुछ अवस्थाओं के लिए, दे० २३३ आ–उ।

१६७—बहुत कम अवस्थाओं में स् से पूर्व धातुमूलक अन्त्य स् (संभवतः विषमीकरण द्वारा) त् में परिवर्तित होता है :–ये हैं, **वस्** बास करना से (यदा-कदा **वस्** चमकना से, श० ब्रा०; **वस्** कपड़ा पहनना, हर०) भविष्यकालिक रूप **वत्स्यामि** और लुङ्–रूप **अवात्सम्**; **घस्** से सन्नन्त मूल **जिघत्स**।

अ—स् क्रियाओं में अन्य० एक० के प्रत्यक्ष अन्त-चिह्न त् के लिए देखिए ५५५ अ।

१६८—वैयाकरणों के अनुस्वार संज्ञा-मूलों जैसी प्रयुक्त कुछ अन्य धातुओं का अन्त्य स् पद के अन्त में, और भ् और सु के पूर्व त् हो जाता है। यथा—**ध्वत्**, **ध्वद्भिस्**, **स्रद्भ्यस्**, **स्रत्सु**। किन्तु ऐसे परिवर्तन के प्रामाणिक उदाहरण उद्धरणीय नहीं हैं।

अ—इस प्रकार के परिवर्तन के विकीर्ण उदाहरण वेद में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ—**मा॑स्** से **माद्भि॑स्** और **माद्भ्य॑स्**; **उष॑स्** से **उष॑द्भिस्**, **स्व॑तवस्** से **स्व॑तवद्भ्यस्**; **स्व॑द्भिस्** प्रभृति (अनुद्धरणीय)। किन्तु यहाँ परिवर्तन की यथार्थता प्रबल सन्देहास्पद है; वस्तुतः यह स्–मूल के लिए त्–मूल का प्रतिस्थापन प्रतीत होता है। परोक्ष भूतकालिक कृदन्तों (४५८) के शब्द-रूप में **वांस्** के **वत्** परिवर्तन में भी यही बात लागू होती है। **अनस्-वह्** से प्रतिपादित **अनड्वह्** (४०४) असंगत और विच्छिन्न है।

आ—**दुच्छु॑ना** (**दुस्-शुना**) और **प॑रुच्छेप** (**प॑रुस्-शेप**) समस्तपदों में पूर्वपद के अन्त्य स् का विकास वैसा होता है जैसे कि यह त् हो (२०३)।

१६९—शब्द-रूप और क्रियारूप दोनों के प्रत्ययान्त मूलों और निर्मित पदों के अन्त्य व्यंजन-जैसा स् अत्यधिक प्राप्त है; और संस्कृत श्रुति में इसके परिवर्तन प्रथमकोटिक वैशिष्ट्य का विषय बने हुए हैं। दूसरी ओर र् अति विरल है।

अ—मूल अन्त्य–जैसा र् ऋ या अर् अन्तवाले मूलों या कुछ विभक्ति-रूपों में (३६९ मु०वि०), ऋ अन्तवाली धातुओं से (३८३ आ) इर् और अ् अन्त-वाले धातु-मूलों में, **स्व॑र्**, **अ॑हर्** और **ऊ॑धर्** (साथ ही, **अ॑हन्** और **ऊ॑धन्**–४३०), **द्वा॑र्** या **दुर्** और वैदिक **व॑धर्**, **उषर्**–, **वसर्**-**वनर्**; **श्रुतर्**–, **सपर्**, **सबर्**–, **अथर्**–(तुलनीय १७६ इ) जैसे अन्य अल्पसंख्यक मूलों में, **अन्त॑र्**, **प्रात॑र्** **पु॑नर्**, जैसे कुछ अव्ययों में और संख्यावाची **चतु॑र्** (४८२ ए) में पाया जाता है।

आ—अ और आ को छोड़कर अन्य सभी स्वरों के बाद स् और र् का सन्धिमूलक विकास निश्चित रूप से एक ही परिणाम लेकर घटित है, कुछ ऐसे रूप भी प्राप्त हैं जहाँ यह निश्चित नहीं हो पाता कि ये स्-अन्त वाले हैं या र्-अन्त वाले, और इनके विषय में मत विभिन्न हैं। इस प्रकार के हैं :—ऋ—मूलों (३७१ इ) के ष० पं० एकवचन का उस् (या उर्), और क्रियाओं (५५० इ) के अन्य० बहु० का उस् (य० उर्)।

१७०—अ—जैसा कि ऊपर (१४५) कहा गया है, विराम के पूर्व स् विसर्ग हो जाता है।

आ—यह तभी अपरिवर्तित रह जाता है, जब इसके बाद निजी वर्ग के अघोष स्पर्श, त् या थ्, हों।

इ—च् और छ्, ट् और ठ्—तालव्य और मूर्धन्य अघोष स्पर्शों के पूर्व यह दोनों में से क्रमशः एक शिन् ध्वनि, यथा श् या ष्, बनकर समीकृत हो जाता है।

ई—क् और ख् प् और फ्—कण्ठ्य और ओष्ठ्य अघोष स्पर्शों से पूर्व भी यह सिद्धान्ततः समीकृत होता है, और इस प्रकार क्रमशः **जिह्वामूलीय** और **उपध्मानीय सोष्म** (६९) हो जाता है; किन्तु प्रयोग में ये काकत्य ध्वनियाँ अनुपलब्ध हैं; और परिवर्तन विसर्ग में है।

उदाहरण होते हैं :—आ के—**ततस् ते, चक्षुस् ते**; इ के—**ततश् च, तस्याश् छाया; पादष्टलति**; ई के—**नलः कामम्, पुरुषः खनति, यशः प्राप, वृक्षः फलवान्।**

१७१—इन नियमों के प्रथम तीन प्रायः निरपवाद हैं; अन्तिम के अनेक अपवाद प्राप्त हैं जहाँ शिन् ध्वनि बनी रहती है (अथवा १८० के अनुसार ष् में परिवर्तित) विशेष रूप से समासों में, किन्तु साथ ही वेद में वाक्यसंयोग तक में।

अ—वेद में सोष्म ध्वनि का संरक्षण समास में एक सामान्य नियम है, जिसके अपवाद वैदिक व्याकरण में विस्तार से वर्णित हैं।

आ—उत्तरकालिक-भाषा में संरक्षण संयोग के पुरातनत्व या गाढत्व और पुनरावर्तन द्वारा मुख्यतः निर्धारित है। फलतः क्रिया-मूल के पूर्व उपसर्ग अथवा उपसर्जनीय शब्द की अन्त्य सिन्-ध्वनि बनी रहेगी; तथा इसी प्रकार √कृ के प्रत्ययान्त रूप से पूर्व, पति से पूर्व, कल्प और काम से पूर्व और इस प्रकार के अन्य शब्द के पूर्व मूल की अन्त्य सिन् सुरक्षित होगी। यथा—**नमस्कार, वाचस्पति, आयुष्काम, पयस्कल्प।**

इ—वाक्य-संस्थिति में सिन्-ध्वनि का वैदिक संरक्षण प्रातिशाख्यों में विस्तृत रूप से वर्णित है। उन अवस्थाओं के मुख्य प्रकार होते हैं—(१) क्रिया-रूप के पूर्व उपसर्ग अथवा उपसर्ग-तुल्य का अन्त्य; (२) संबंधी संज्ञा के पूर्व संबंध का; यथा **दि॒वस् पु॒त्रः, इ॒डस् प॒दे** (३) **प॒रि** के पूर्व अपादान का, यथा—**हि॒मव॑तस् प॒रि** (४) अन्य अवस्थाएँ जिनका वर्गीकरण अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में संभव है, यथा—**द्यौष् पि॒ता, त्रिष् पू॒त्वा, य॒स् प॒तिः, परि॒धिष् प॒ताति,** इत्यादि।

१७२—आदि सोष्म ध्वनि-श्, ष्, स्-के पूर्व स् या तो समान सोष्म बनकर समीकृत हो जाता है, अथवा यह विसर्ग में परिवर्तित हो जाता है।

अ—इन परिवर्तनों में से किसका ग्रहण हो, इस विषय को लेकर देशी वैयाकरण यत्किंचित् विभिन्न मत रखते हैं (देखिए अ० प्रा० २-४०, टिप्पणी), और अंशतः ये इन्हें वैकल्पिक मानते हैं। हस्तलेखों का प्रयोग भी विभिन्न है; विसर्ग में परिवर्तन मान्य व्यवहार है, यद्यपि सोष्म वर्ण भी, विशेषतः दक्षिण भारतीय हस्तलेखों में, बहुधा लिखित पाया जाता है। यूरोपीय प्रकाशक सामान्यतया विसर्ग लिखते हैं; किन्तु उत्तरकालिक कोष और शब्द-संग्रह सामान्य रूप से शब्द का वार्णिक स्थान उसी प्रकार रखते हैं जैसे उस जगह सोष्म ही पढ़ा जाय।

उदाहरण हैं—**मनुः स्वयम्** या **मनुस्स्वयम्; इन्द्रःशूरः** या **इन्द्रश् शूरः; ताः षट्** या **ताष्षट्।**

१७३—इन नियमों के एक या दो अपवाद होते हैं।

अ—यदि आदि सिन्-ध्वनि के बाद कोई अघोष स्पर्श हो, तो अन्त्य स् सर्वथा लुप्त हो सकता है—और कुछ वैयाकरण इसे नित्य लोप मानते हैं। यथा—**वायवस्थ** या **वायवःस्थ; चतुस्तनाम्** या **चतुःस्तनाम्।** इस विषय को लेकर विभिन्न हस्तलेखों और प्रकाशनों की प्रथा अत्यधिक भिन्न होती हैं।

आ—त्स् के पूर्व स् सुरक्षित न रहकर विसर्ग में परिवर्तित हो जाता है।

१७४—सघोष, स्वर अथवा व्यंजन (र् को छोड़कर, द्रष्टव्य १७९) के पूर्व स् र् में परिवर्तित हो जाता है, किन्तु अ या आ इसका पूर्ववर्ती न हो। उदाहरण होते हैं :—**देवपतिरिव, श्रीरिव; मनुर्गच्छति, तनुरप्सु; स्वसृर-जनयत्; तयोरदृष्टकामः, सर्वैर्गुणैः; अग्नेर्मन्वे।**

अ—**दूडाश, दूणाश** जैसे कुछ प्रयोगों के लिए, द्रष्टव्य नीचे, १९९ ई।

आ—विस्मयादिबोधक **भोस्** (४५६) स्वरों और सघोष व्यंजनों के पूर्व

अपना स् खो देता है। यथा—**भो नैषध** (और स् कभी-कभी अघोष के पूर्व भी लुप्त पाया जाता है)।

इ—**अस्** और **आस्** विभक्ति-चिह्न (जिनके दोनों अत्यधिक प्रयुक्त हैं) अपने स्वतंत्र नियमों के अनुरूप होते हैं। यथा—

१७५—अ—अन्त्य अस् किसी सघोष व्यंजन के और ह्रस्व अ के पूर्व होने पर ओ में परिवर्तित होता है और अ इसके बाद लुप्त हो जाता है।

आ—परिणामी स्वराघात और यह तथ्य कि वेद की प्राचीनतर भाषा में अ का लोप केवल आकस्मिक है, ऊपर १३५ अ–इ, निर्दिष्ट हो चुके हैं।

उदाहरण होते हैं :—**नलो नाम, ब्रह्मण्यो वेदवित्; मनोभव; हन्तव्योऽस्मि; अन्योन्य (अन्यस्+अन्य,) यशोर्थम् यशस्+अर्थम्।**

इ—अ को छोड़कर अन्य किसी स्वर के पूर्व अन्त्य अस् अपना स् खो देता है और केवल अ हो जाता है; और इस प्रकार उत्पन्न प्रगृह्य बना रहता है।

ई—अर्थात् अस् के ओ का विकास समान स्थिति वाले मूल ए की तरह होता है। (दे० १३२–३)।

उदाहरणार्थ, **बृहदश्व उवाच**, **आदित्य इव**, **नमउक्ति**, **वस्यइष्टि**।

१७६—अन्त्य अस् के नियमों के अपवाद होते हैं :—

अ—पुल्लिग प्रथमा सर्वनामरूप **सस्** और **एषस्** और (वैदिक) **स्यस्** (४९५ अ, ४९९ अ, आ) किसी व्यंजन के पूर्व अपने स् को खो देते हैं—यथा, **स ददर्श** उसने देखा, **एष पुरुषः** यह आदमी; किन्तु **सोऽब्रवीत्** उसने कहा, **पुरुष एषः**।

आ—पूर्वतर और उत्तर दोनों कालों की भाषा में अस् के परिवर्तन के बाद भंग के मिटने के उदाहरण परवर्ती आदि स्वर के साथ अवशिष्ट अ को मिला देने से प्राप्त होते हैं। यथा—**ततोवाच (ततस्+उवाच), पयोष्णी (पयस्+उष्णी), अधासन (अधस्+आसन,)**, तुलनीय १३३ इ, १७७ आ। वेद में वैसा संयोग कभी-कभी छन्द के चलते अपेक्षित है, यद्यपि लिखित ग्रन्थ में भंग विद्यमान है। किन्तु ऋ० वे० में स बहुसंख्यक स्थलों में परवर्ती स्वर से मिला हुआ है, उदाहरणार्थ—**सं इद्** के लिए **सेद्**, **स अस्मै** के लिए **सास्मै**, **स ओषधीः** के लिए **सौषधीः**, और इसी प्रकार के उदाहरण अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं।

इ—अन्त्य अस् के विकास में अन्य विकीर्ण अनियमितताएँ मिलती हैं। इस प्रकार ओ की जगह अर् में इसका परिवर्तन ऋ० वे० में एक बार **अवस्** में, सा० वे० में एक बार **अवस्** (ऋ० वे० अवो) में, मै० सं० में एक बार

दम्भिषस् ; प्राचीनतम प्रयोगों को छोड़कर **भुवस्** (**भूस्, भुवस्, स्वर्**— पवित्र उच्चारणों के त्रिक के द्वितीय) में, एक ब्राह्मण परिच्छेद (तै० का०) के अनेक शब्दों में यथा—**जिन्वर्** , **उग्रर्** , **भीमर्** , **त्वेषर्** , **श्रुतर्** , **भूतर्** , और (का० केवल) **पूतर्** ; **जनर्** और **महर्** में होता है; और १६९ अ में निर्दिष्ट अर्-मूलों में से कुछ संभवतः सजातीय प्रकृति के होते हैं। दूसरी ओर ऋ० वे० में अस् अघोष व्यंजन से पूर्व कितनी बार ओ में परिवर्तित होता है; तथा **सस्** दो बार, और **यस्** एक बार समान स्थिति में अपनी अन्त्य सिन्-ध्वनि बनाए रखता है।

ई—मै० स० में या तो अस् (ओ) के या ए (१३३) के परिवर्तन फल-स्वरूप भंग के पूर्व अवशिष्ट अन्त्य अ दीर्घ बना दिया जाता है, यदि वह स्वतः उदात्त-विहीन हो और यदि परवर्ती आदि स्वर उदात्त हो। यथा—**सूरा एति** (**सूरस् + एति** से) **निरूप्यता इन्द्राय** (— **यते + इन्द्र** से) और **कार्या-एका** भी (**कार्यस्** से, क्योंकि जो वस्तुतः **कारिअस** है); किन्तु **आदित्य इन्द्रः** (**आदित्यस् + इन्द्रः**), **एत इतरे** (**एते + इतरे**)।

१७७—स्वर या व्यंजन, किसी सघोष के पूर्व अन्त्य आस् अपना स् खो देता है और केवल आ का रूप धारण करता है, और इस प्रकार जो भंग उत्पन्न होता है, वह बना रहता है।

अ—इन स्थलों में ओ और ए और औ (ऊपर १३३-४) की तरह भंग-रक्षण इस तथ्य का संकेत करता है कि यहाँ अन्तर्वर्ती ध्वनि का लोप अर्वाचीन है। यथार्थता को लेकर मतों की विभिन्नता पायी जाती है। देशी वैयाकरणों में से कुछ आस् को ऐ की प्रक्रिया के सम बनाते हैं, दोनों में समान रूप से आय् परिवर्तन को लेकर—किन्तु संभवतः नियम-विधान में औपचारिक सौविध्य मात्र लेकर ही।

आ—यहाँ भी (जैसा कि ए और ऐ और ओ की समान अवस्थाओं में, १३३ इ, १७६ आ) पूर्वतर और उत्तर दोनों कालों में भंग-निराकरण के कुछ उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

१७८—अन्त्य र् सामान्यतः वही रूप धारण करता है जो कि स् समान परिस्थितियों में।

अ—अर्थात् अन्त में आने पर यह विसर्ग हो जाता है, और बाद में किसी आदि अघोष स्पर्श या सिन्-ध्वनि (१७०) के होने पर सिन् अथवा विसर्ग होता है। यथा—**रुदती** पुनः, **द्वास्तत्** , **स्वश्च**, **चतुश्चत्वारिंशत्** ; और (१११ इ, ई) **प्रातस्तन अन्तस्त्य, चतुष्टय, धूस्त्व; प्रातःकरोति, अन्तःपात**।

आ—किन्तु जहाँ र् के पूर्व में अ या आ हो, वहाँ र् सघोष के पूर्व स्वतः अपरिवर्तित बना रहता है। यथा—**पुनरेति, प्रातर्जित्, अकर्ज्योतिः, अहार्दाम्ना, वार्धि।**

इ—बहुत-से वैदिक समस्तपदों में अघोष के पूर्व भी र् अपरिवर्तित रखा जाता है। यथा—**अहर्पति, स्वर्चनस्, स्वर्चक्षस्, स्वर्पति, स्वर्षा, स्वर्षाति; धूर्षद्, धूर्षः; पूर्पति, वार्कार्य, आशीर्पद, पुनर्त्त;** और उत्तरकालिक भाषा में इनमें से कुछ में र् विकल्प से सुरक्षित है। ऋ० वे० में भी **आवर् तमः** एक बार वाक्य-संयोग में प्राप्त है।

ई—दूसरी ओर ऋ० वे० में अनेक जगह क्रियारूप **आवर्** का अन्त्य **अर्** सघोष के पूर्व ओ में परिवर्तित है। और उसी ग्रन्थ में स् की तरह र् एक या दो अवस्थाओं में लुप्त हो जाता है, यथा—**अक्षा इन्दुः, अह एवं।**

१७९—दो र् एक साथ कहीं नहीं रखे जा सकते हैं—यदि ऐसी स्थिति मूल र् के संरक्षण से अथवा र् में स् के परिवर्तन से प्राप्त हो, तो एक र् लुप्त हो जाता है, और पूर्ववर्ती स्वर, यदि ह्रस्व हो, क्षतिपूर्ति के लिए दीर्घ बना दिया जाता है।

इस प्रकार **पुना रमते, नृपती राजति, मातू रिहन्, ज्योतीरथ, दूरोहणं।**

अ—किन्तु कुछ वैदिक ग्रन्थों में कुछ उदाहरण प्राप्त हैं जहाँ आदि र् के पूर्व आने वाला अर् ओ में परिवर्तित हो गया है। यथा—**स्वो रोहाव।**

ष् में स् का परिवर्तन

१८०—दन्त्य स्, यदि इसके अव्यवहित पूर्व में अ और आ को छोड़कर अन्य स्वर, या क् या र् हो, मूर्धन्य ष् में परिवर्तित हो जाता है, किन्तु यह न अन्त्य हो या न इसके बाद र् हो।

अ—पूर्ववर्ती मूर्धन्य स्वरों और अर्धस्वर का समीकरण प्रभाव सुस्पष्ट है; क् और अन्य स्वरों का प्रभाव इससे परिलक्षित होता है कि इनके उच्चारण में जिह्वा की स्थिति बहुत कुछ निर्वर्तित रहती है जिससे उसका अग्रभाग दन्त्य स्थान से बहुत पीछे अन्तर्मुख के शिरोभाग के एक अंगविशेष पर सहज पहुँच जाता है।

आ—ल् के परे भी उसी प्रकार का परिवर्तन सामान्य भारतीय व्याकरण ने माना है; किन्तु प्रातिशाख्यों में ऐसा कोई नियम उपलब्ध नहीं होता है, और ध्वनिशास्त्रीय तथ्य, ल् के दन्त्यध्वनि होने से, पूर्णतः इसके विपरीत पड़ते हैं। प्राचीनतर भाषा में इस संयोग के वास्तविक उदाहरण नहीं आते हैं, और न ऐसे प्रयोग उत्तरकाल में निर्दिष्ट हैं।

इ—जिन स्वरों के कारण स् का परिवर्तन ष् में होता है, उन्हें संक्षेपन के लिए हम **'परिवर्तक' स्वर** कह सकते हैं ।

१८१—इसलिए संस्कृत शब्द के मध्य में अ और आ से भिन्न किसी स्वर के बाद दन्त्य स् साधारणतया नहीं पाया जाता है, किन्तु इसकी जगह मूर्धन्य ष् ही प्राप्त है । किन्तु—

अ—परवर्ती र् से इस परिवर्तन का निषेध होता है । यथा—**उस्र, तिस्रस्, तमिस्र** । र्—(चाहे र् या ऋ) अंश वाली धातु के रूपों और व्युत्पन्नों में, उस अंश का स्थान चाहे जहाँ हो, यह परिवर्तन शायद ही होता है । यथा—**सिसर्ति, सिसृतम्, सरीसृप, तिस्तिरे, परिस्रुत्** । इस नियम के कुछ अपवाद हैं, यथा **विष्टिर, विष्टार, निष्टृत, विष्पर्धस्, गविष्ठिर,** इत्यादि । **अजुषरन्** में धातु का अन्त्य ष् र् के अव्यवहित पूर्व होने पर भी रक्षित है ।

आ—परवर्ती र् की विषमीकरण-प्रवृत्ति पूर्ववर्ती र् की नित्य समीकरण-प्रवृत्ति की तुलना में अप्राकृतिक और संदिग्ध है ।

इ—उत्तरोत्तर अक्षरों में ष् की पुनरावृत्ति का परिहार कभी-कभी पूर्व स् को अपरिवर्तित रखकर किया जाता है । यथा—**सिसक्षि**, किन्तु **सिषक्ति; यासिसीष्ठास्**, किन्तु **यासिषीमहि** । इसी प्रकार कुछ सन्तत रूपनिर्माणों में, दे० नीचे, १८४ उ ।

ई—अन्य कोटियाँ विच्छिन्न प्रकृतिक हैं—ऋ० वे० में सिसिचे और **सिसिचुस्** (किन्तु **सिषिचतुस्**) रूप, और **ऋबीस, कोस्त, बिस, बुस,** वृसय-मूल प्राप्त हैं; श० ब्रा० में एकमात्र धातु **पिस्** अपने व्युत्पन्न रूप **पेसुक** के साथ एक बार मिलती है; मै० सं० में **मृस्मृषा** आया है; अ० वे० में **मुसल** मिलना आरम्भ होता है; और ऐसे प्रयोग अधिक संख्या में आने लगते हैं; **पुंस्** और धातुओं **निस्** और **हिंस्** के लिए, देखिए नीचे १८३ अ ।

१८२—दूसरी ओर (जैसा कि ऊपर कहा गया है, ६२) संस्कृत शब्दों में ष् की प्राप्ति इस नियम की अन्तर्भूत अवस्थाओं में ही लगभग सीमित है; अन्य प्राय: विकीर्ण असंगतियाँ हैं—केवल एक अपवाद को लेकर जहाँ ष् दन्त्य ध्वनि के पूर्व श् या क्ष् का विकास है, यथा—**द्रष्टुम्, चष्टे, त्वष्टर्**, दे० २१८, २२१ । इस प्रकार हम पाते हैं :—

अ—चार धातुएँ, **कष्, लष्, भष्, भाष्**—जिनमें अन्तिम सामान्य है और यह ब्राह्मणों में ही प्राप्त होने लगती है ।

आ—पुन: ऋ० वे० में **अंष्, कवंष, चषाल, चाष, जलाष, पाष्य, बक्षय, वंषट (वक्षत्** ? के लिए), **काष्ठा;** और मूल स् के अनियमित परिवर्तन

के चलते—**षाह्** (**तुराषाह्**, आदि) **अषाढ**, **उपष्टुत्**, और संभवतः **अपाष्ठ** तथा **अष्ठीवन्त्**। ऐसे रूप उत्तर काल में अपेक्षाकृत अधिक सामान्य हो जाते हैं।

इ—संख्यावाची **षष्**, जैसा कि उल्लिखित हो चुका है (१४६ आ), अधिक संभवतः **सक्ष्** है।

१८३—परिवर्तक स्वर के नासिक्यीकरण से, अथवा दूसरे शब्दों में इसके बाद अनुस्वार के आने से, सिन्-ध्वनि पर इसका परिवर्तन प्रभाव नष्ट नहीं होता है। इस प्रकार—**हवींषि**,, **परूंषि**। पुनः मूल के अन्त्य स् के बाद अन्त-चिह्न के आदि स् में परिवर्तन होता है, चाहे वह अन्त्य स् के ष् में परिवर्तित या विसर्ग में परिणत माना जाय। यथा—**हविष्षु** या **हविःषु**, **पुरुष्षु** या **परुःषु**।

अ—किन्तु **पुंस्** (३९४) का स्, स्पष्टतः **पुम्स्** के विशिष्ट अर्थतत्व के संरक्षित होने के कारण, अपरिवर्तित रह जाता है; इसी प्रकार √**हिंस्** से **हिन्स्** (**हिनस्ति**, प्रभृति) जैसी इसकी प्रयोगिता के कारण; √**निंस्** (ऋ०वे० केवल) अपेक्षाकृत अधिक संदिग्ध है।

१८४—अन्तरंग संयोग में स् के परिवर्तन की मुख्य अवस्थाएँ ये हैं :—

अ—रूपविधान अथवा व्युत्पत्ति-विधान के अन्त चिह्नों में, जिनका आरम्भ स् से होता है—जैसे, सु, सि, से स्व, सिन्-लुङ्, धातु या मूल के अन्त्य परिवर्तक स्वर या व्यंजन या संयोजन-स्वर के बाद। उदाहरणार्थ, **जुहोषि**, **शेषे**, **अनैषम्**, **भविष्यामि**, **शुश्रूषे**, **देष्ण**, **जिष्णु**, **विक्षु**, **अकार्षम्**।

आ—विभक्ति-चिह्न अथवा प्रत्यय के पूर्व मूल का अन्त्य स्, यथा—**हविस्** से **हविषा**, इत्यादि; **चक्षुष्मन्त्**, **शोचिष्क**, **मानुष**, **मनुष्य**, **ज्योतिष्ट्व**।

इ—कृत्रिम धातुओं और **पिस्**, **निंस्**, **हिंस्** को छोड़कर अन्य जिन धातुओं में परिवर्तक स्वर के बाद अन्त्य सिन्, (श् के अतिरिक्त) ध्वनि प्राप्त है, उन्हें सान्त न मानकर षान्त माना जाता है; और संयोग में स ष् के विकास को लेकर देखिए नीचे, २२५-६।

ई—द्वित्व के बाद धातु आदि स्—यथा, **सिष्यदे**, **सुष्वाप**, **सिषासति**, **चोष्कूयते**, **सनिष्वणत्**।

उ—सन्नन्त धातु मूल में धातुमूलक आदि स् सामान्यतया अपवाद रूप है, जब सन्नन्त-चिह्न ष् हो जाता है। यथा—√**सृ** से **सिसीर्षति**,, √**संज्** से **सिसङ्क्षति**। और अन्य छिटपुट उदाहरण होते हैं, यथा **त्रेसुस्**, (√**त्रस्**, से लिट्) प्रभृति।

१८५—पुनः बहिरंग संयोग में, विशेष रूप से पद-रचना में ऐसा ही परिवर्तन प्रचुर मात्रा में होता है। इस प्रकार :

अ—क्रियारूपों और व्युत्पन्नों में उपसर्ग या अन्य समान पूर्व-प्रत्यय का अन्त्य इ या उ धातु, जिससे प्रत्यय युक्त हुआ है, के आदि स् को प्रतिवेष्टित कर देता है; क्योंकि ऐसे संयोग अधिक सामान्यता और विशिष्ट गाढ़ता लेकर होते हैं, और धातु या मूल और प्रत्यय के अनुरूप हैं। यथा—**अभिषाच्, प्रतिष्ठा, निषिक्त, विषित; अनुष्वधम्, सुषक;** प्रयोग असंख्य हैं।

आ—प्रमुख अपवाद उपयुक्त सिद्धान्तों के अनुकूल होते हैं; अर्थात् जब धातु में र्-अंश रहता है, और जब सिन्-ध्वनि का आवर्तन होता है। किन्तु कुछ अन्य अपवाद हैं जिनका स्वरूप अधिक अनियमित है; और उपसर्ग के बाद धातुमूलक आदि स् के विकास का पूर्ण विवरण विस्तार में ही संभव होगा, और इसलिए यहाँ प्रस्तुत करना समीचीन नहीं है।

इ—आदि स् साधारणतः उपसर्ग-विशेष के बाद परिवर्तित होकर आगम या अभ्यास के अन्तरापन्न अ के बाद भी अपना परिवर्तित सिन्त्व बहुधा बनाये रखता है। यथा—**अत्यष्ठात्, अभ्यष्ठाम्, पर्यषस्वजत्, व्यषहन्त, न्यषदाम, निरष्ठापयन्, अभ्यषिञ्चन्, व्यष्टभ्नात्; वितष्ठे, वितष्ठिरे।**

ई—उपसर्ग के अ-अंश के बाद धातुमूलक आदि स् का कादाचित्क परिवर्तन अत्यधिक अनियमित है। ऐसे उदाहरण होते हैं—**अवष्टम्भ्** (जब कि **निस्तम्भ्** और **प्रतिस्तम्भ्**) और (वैयाकरणों के अनुसार) **अवष्वन्**।

१८६—अन्य समस्त पदों में पूर्वपद का अन्त्य परिवर्तक स्वर (विशेषतः वेद में) उत्तरपद के आदि स् को मूर्धन्यीकृत बना देता है। उदाहरणार्थ, **युधिष्ठिर, पितृष्वसृ, गोष्ठ, अग्निष्टोम, अनुष्टुभ्, त्रिषंधि, दिविषद्, परमेष्ठिन्, अभिषेन, पितृषद्, पुरुष्टुत**।

अ—अ-अंश के बाद इसी प्रकार के परिवर्तन के बहुत थोड़े-से प्रयोग मिलते हैं, जैसे—**सष्टुभ, अवष्टम्भ, सव्यष्ठा, अपाष्ठ, उपष्टुत्; √सह्** भी, जब उसका अन्त्य १४७ के अनुसार ट् हो जाता है। यथा—**सत्राषाट्** (किन्तु **सत्रासाहम्**)।

१८७—परिवर्तक स्वर के बाद समास के पूर्वपद का अन्त्य स् बहुधा ष् हो जाता है। इस प्रकार उपसर्गात्मक पूर्व-प्रत्यय का स्—यथा, **निष्पिध्वन्, दुष्टर** (**दुष्ष्टर** के लिए), **आविष्कृत;** और ओष्ठ्य या कण्ठ्य स्पर्श से पूर्व विसर्ग में परिवर्तित होने (१७१ अ) की जगह स् बना रहता है; यथा—**हविष्पा, ज्योतिष्कृत; तपुष्पा**।

१८८—यहाँ भी आदि स् और अन्त्य स् दोनों का तथाविध परिवर्तन वेद में वाक्य-विधायक पदों के बीच भी बहुधा होता है। प्रत्येक संहिता के प्रातिशाख्य में इन रूपों का विस्तृत विवेचन हुआ है, और ये रूप अत्यधिक विभिन्न प्रकृति के हैं। यथा—

अ—आदि स्, विशेष रूप से अव्ययों का, यथा—**ऊ षु, हि ष्म, कम् उ ष्वित्;** और सर्वनामों का, यथा—**हि षः;**—क्रियारूपों का, विशेषतः √अस् से यथा—**हि ष्ठ, दिवि ष्ठ;** और अन्य विकीर्ण स्थलों में, यथा **उ ष्टहि, नू ष्ठिरम्, त्री षधस्था, अधि ष्णो, नकिः षः, यजुः ष्कन्नम्, अग्निः ष्टवे।**

आ—अन्त्य स्, अत्यधिक समय सर्वनामों (विशेषतः सुरविहीन) के पूर्व, यथा—**अग्निष् ट्वा, निष्टे, ईयुष् टे, शुचिष् ट्वम्, सधिष्टव्;**—किन्तु अन्य स्थलों में भी, और जहाँ कहीं कण्ठ्य या ओष्ठ्य (१७१) ध्वनि के पूर्व अन्त्य स् विसर्ग में परिवर्तित होने की बजाय सुरक्षित रहता है—यथा, **त्रिष् पूत्वा, आयुष् कृणोतु, वास्तोष् पतिः, द्यौष् पिता, विभिष् पतात्।**

ण् में न् का परिवर्तन

१८९—अव्यवहित पर में स्वर या न् या म् या य् या व् के आने से दन्त्य अनुनासिक न् मूर्धन्य ण में परिवर्तित हो जाता है, यदि समान पद में मूर्धन्य ष् या अर्धस्वर या स्वर—अर्थात् ष्, र्, ऋ या ॠ उसके पूर्व में हो—और यह आवश्यक नहीं है कि परिवर्तक वर्ण अनुनासिक के अव्यवहित पूर्व में हो, वह इससे किसी भी दूरी पर रह सकता है, किन्तु इतना अपेक्षित अवश्य है कि व्यवधान में (जिह्वा के अग्रभाग का संचालक व्यंजन, यथा) तालव्य (य् को छोड़कर), मूर्धन्य या दन्त्य न हो।

अ—प्रक्रिया की युक्ति को हम इस प्रकार निर्धारित कर सकते हैं :—

मूर्धन्य उच्चारण—विशेषतः अनुनासिक के मूर्धन्य उच्चारण की नियत प्रवृत्ति में जिह्वाग्र, जब कि अस्पष्ट मूर्धन्य तत्त्व के उच्चारण द्वारा एक बार शिथिल मूर्धन्य स्थान में प्रत्यावर्तित हो जाता है, वहीं लटका रहता है और उस स्थान में अपना दूसरा नासिक्य स्पर्श बनाता है, और यह अवस्था तब तक रहती है जब तक मूर्धन्य व्यंजन के उच्चारण होने पर प्रवृत्ति का प्रतिफलन नहीं हो जाता, या उच्चारणावयव उस अंश का उच्चारण करके, जिससे वह अन्य-स्थानापन्न हो जाता है, समायोजन से निकल पड़ता है। ऐसी अवस्था कण्ठ्य ध्वनियों अथवा ओष्ठ्य ध्वनियों के साथ संभव नहीं है, क्योंकि उनके उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग नहीं उठता है (और, जैसा कि परवर्ती स् पर क् के प्रभाव से

परिलक्षित होता है, कण्ठ्य स्थान मूर्धन्य के अनुक्रम के अनुकूल पड़ता है) : और य् इतना क्षीण तालव्य है कि इससे परिवर्तन में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती (जैसा कि इसका अव्यवहित सजातीय इ-स्वर स् को मूर्धन्य में परिणत कर देता है) ।

आ—यह ऐसा नियम है जिसका प्रयोग निरन्तर होता है; और (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ४६) भाषा में ण् के प्रयोगों की अत्यधिक संख्या इसी के परिणाम-स्वरूप हैं ।

१९०—विशेष रूप से नियम लागू होता है—

अ—जब रूप-विधान अथवा व्युत्पत्ति-विधान के प्रत्यय परिवर्तक-ध्वनियों में से एक ध्वनि वाली धातुओं या मूलों में जोड़े जाते हैं, यथा—**रुद्रेण, रुद्राणाम्, वारिणा, वारिणी, वारीणि, दातॄणि, हराणि, द्वेषाणि, क्रीणामि, शृणोति, क्षुभाण, घृण, कर्ण, वृक्ण, रुग्ण, द्रविण, इषणि, पुराण, रेक्णस्, चक्षण, चिकीर्षमाण, कृपमाण** ।

आ—जब रूप-विधान अथवा व्युत्पत्तिविधान में धातु या मूल के अन्त्य न् के बाद उस प्रकार की ध्वनियाँ आती हैं जिनसे पूर्ववर्ती परिवर्तक कारण का प्रभाव आ जाता है । उदाहरणार्थ, **√रन्** से **रणन्ति, रण्यति, रारण, अराणिषुस्**; **ब्रह्मन्** से **ब्रह्मणा, ब्रह्माणि, ब्राह्मण, ब्रह्मण्य, ब्रह्मण्वन्त्** ।

इ—**√पिष्** से रूप **पिणक्** (ऋ० वे० मध्यम और अन्य एक० लङ्) सर्वतोभावेन नियम-विरुद्ध है ।

१९१—यह नियम (ष् में स् के परिवर्तन के-जैसे) ठीक-ठीक और विशेष रूप से वहीं लागू होता है जहाँ अनुनासिक और इसके परिवर्तन के कारण दोनों समानपद के अन्तर्गत होते हैं; किन्तु (दूसरे की तरह भी) समस्त पदों में, कुछ अंशों में, विस्तारित है—और वेद में वाक्य के संलग्न पदों में भी ।

१९२—विशेषतः उपसर्ग या धातु का वैसा ही प्रत्यय, यदि यह र्-युक्त हो अथवा यह स् के सन्धिमूलक र् में अन्त होता हो (१७४), धातु के या उससे व्युत्पन्न मूलों और रूपों के न् को मूर्धन्यीकृत बना देता है । यथा—

अ—**परा, परि, निर्** (**निस्** के लिए), **अन्तर्, दुर्** (**दुस्** के लिए) के बाद धातु का आदि न् सभी धातु रूपों और व्युत्पन्न शब्दों में सामान्य और नियमित रूप से वैसा परिवर्तित हो जाता है—यथा—**पराणय, परिणीयते, प्रणुदस्व, पराणुत्ति, परिणाम, प्रणव, निर्णिज्, दुर्णश** । इस परिवर्तन वाली धातुएँ देशी धातु-कोश में आदि ण् के साथ लिखित हैं । **नृत्, नभ्, नन्द्**

और **नश्** जब इसका श् ष् में परिवर्तित होता है (यथा—**प्रनष्ट**), मात्र उल्लेख-नीय अपवाद है।

आ—अन् और हन् के रूपों में से कुछ में धातु का अन्त्य न् मूर्धन्यीकृत होता है। यथा—**प्राणिति, प्राण, प्रहण्यते, प्रहणन**।

इ—हि और मी धातुओं के बाद नु और ना गण-चिह्न परिवर्तित होते हैं, यथा—**परि हिणोमि, प्रमिणन्ति** (किन्तु वेद में द्वितीय अनुपलब्ध है)।

ई—उत्तम० एक० लोट् तिङ् चिह्न आनि कभी-कभी परिवर्तित हो जाते हैं। यथा—**प्रभवाणि**।

उ—न् युक्त प्रत्ययों से बने व्युत्पन्न-शब्दों में उपसर्ग के प्रभाव के चलते कभी-कभी ण् प्राप्त होता है, यथा—**प्रयाण**।

ऊ—उपसर्ग **नि** का न् धातु के आदि न् की तरह अन्य उपसर्ग से परे कभी-कभी परिवर्तित होता है। यथा—**प्रणिपात, प्रणिधि**।

१९३—सामासिक शब्दों में एक पद का परिवर्तक कारण कभी-कभी दूसरे परवर्ती पद के न् को—इसके आदि या अन्त्य न् को अथवा इसके रूप-विधान या व्युत्पत्ति-विधान में आने वाले न् को—परिवेष्टित बना देता है। परिवर्तन-प्रभाव की क्रिया कुछ अंशों में समास के पुनरावर्तन या सन्निकटन पर अथवा कृदन्त-रूप का मूल बन जाने से उसके संकलन पर निर्भर करती है। उदाहरण होते हैं—**ग्रामणीं, त्रिणामन्, उरुणस; वृत्रहणम्** प्रभृति (किन्तु **वृत्रघ्ना**, प्रभृति; १९५ अ), **नृमणस्, द्रुघण; प्रवाहण, नृपाण, पूर्याण, पितृयाण; स्वर्गेण, दुर्गाणि, उरुयाम्णे, त्र्यङ्गाणाम्**।

१९४—अन्त में, न् (साधारणतया आदि) अन्यपद में परिवर्तक ध्वनि के रहने पर भी वेद में कभी-कभी मूर्धन्य बना दिया जाता है। उदात्तविहीन सर्व-नाम रूप नस् और एन—इस प्रकार बहुधा प्रभावित हैं। यथा—**परिणस्, प्रैणाम्, इन्द्र एणम्**; किन्तु सदृशार्थक निपात **न** भी, यथा—**वार् ण**; और कुछ अन्य प्रयोग यथा—**वार् णाम, पुनर् णयामसि, अग्नेरवेण**। **त्रीण् इमान्** और **अक्षाण् अव** और **सुहार्ण् णः** (मै० सं०) और **व्यृषण् वा** (आपस्त-) जैसे अधिक असंगत हैं, और संभवतः अशुद्ध पाठों के रूप में त्याज्य हैं।

१९५ (अ)—पूर्ववर्ती कण्ठ्य या ओष्ठ्य ध्वनि के साथ न् का अनन्तरित संयोग कुछ स्थलों में ण्—परिवर्तन के निषेध-रूप में प्रतीत होता है। उदाहर-णार्थ **वृत्रघ्ना**, प्रभृति; **क्षुम्नाति, तृप्नोति** (किन्तु वेद में **तृप्णु**) **क्षेप्णु, सुषुम्न**।

आ—ऋ० वे० में अपवाद-रूप **उष्ट्रानाम्** और **राष्ट्रानाम्** प्राप्त होते हैं।

मूर्धन्यों और तालव्यों में दन्त्य व्यंजनों का परिवर्तन

१९६—जब दन्त्य व्यंजन मूर्धन्य या तालव्य व्यंजन या शिन्-ध्वनियों के साथ आता है, तब वह साधारणतया क्रमशः मूर्धन्य या तालव्य बनकर समीकृत हो जाता है।

निम्नांकित स्थितियाँ होती हैं :

१९७—दन्त्य अघोष-स्पर्श या अनुनासिक, अथवा दन्त्य स् नित्यरूप से अनुरूपी मूर्धन्य-ध्वनि में परिवर्तित हो जाता है, यदि उनके अव्यवहित पूर्व में ष् हो।

अ—इस नियम के अन्तर्गत संयोग ष्ट्, ष्ठ् और ष्ण् अत्यन्त सामान्य हैं; ष्ष् इस रूप में विरले लिखा जाता है, पूर्व सिन्-ध्वनि की जगह विसर्ग रखा जाता है (१७२)। यथा—**ज्योतिष्षु** की जगह **ज्योतिःषु**।

आ—बहुत कम स्थलों में धातु या काल-मूल के अन्त्य ष् के बाद ष् के लोप या उसके ढ में परिवर्तन के साथ ध् ढ् में परिवर्तित हो जाता है। देखिए २२६ इ।

इ—वे अवस्थाएँ जहाँ सु के पूर्व ष् ट् में परिवर्तित होता है, वस्तुतः इसी नियम के अन्तर्गत होती हैं—यथा—**द्विट्सु**; २२६ आ)।

१९८—अन्य (अपेक्षया कम) अवस्थाओं में जहाँ अन्तरंग सन्धि में दन्त्य मूर्धन्य का पूर्ववर्ती मूर्धन्य होता है, दन्त्य (सप्तमी विभक्ति-चिह्न सु को छोड़कर) मूर्धन्य हो जाता है। यथा—

अ—ऊपर १८९ में दिये गये नियम के अनुसार ण् के अव्यवहित उत्तर में आने वाला न्—अथवा, यों कहा जा सकता है, युग्म या एकल न—मूर्धन्यीकरण का विषय बन जाता है। उदाहरणार्थ, कृदन्त-क्रियारूप **अर्ण्ण, क्षुण्ण, क्ष्विण्ण, छृण्ण, तृण्ण**; तथा पूर्व प्रत्ययों (१८५ अ) के बाद, **निषण्ण, परिविण्ण, विषण्ण, विष्यण्ण**। किन्तु तै० सं० में **अधिष्कन्न**, और ऋ० वे० में **युजुःष्कन्नम्** प्राप्त हैं।

आ—बहुत कम अन्य उदाहरण ही मिलते हैं—√ईड् से **ईट्टे** और **ऐट्ट; षड्ढा** (साथ ही, **षड्धा** और **षोढा**), और **षण्णाम्** (**षष्+नाम्**, **षष्** का अनियमित षष्ठी बहु० ४८३)। बहिरंग संयोग में अल्पसंख्यक शब्द इसी नियम के अन्तर्गत हैं, दे० नीचे १९९।

इ—किन्तु **ताढि** (वैदिक √तड्+धि) में दन्त्य के समीकरण और क्षतिपूर्ति के लिए दीर्घीकरण के बाद अन्त्य मूर्धन्य-ध्वनि का लोप देखा जाता है।

ई—ड् की असामान्य प्राप्ति की कुछ अवस्थाओं की व्याख्या इसी ढंग से की जाती है; ये द् के पूर्व मूर्धन्यीकृत और तदनन्तर लुप्त सिन्ध्वनि के परिणाम-रूप हैं। यथा—**निस्द** से **नीडं**, **पिस्द्** से √**पीड्**, **मृस्द** से √**मृड्**। रचना में इस प्रकार के परिवर्तन रखने वाले पदों के लिए दे० १९९।

१९९—बहिरंग सन्धि में :

अ—ऐसा निर्देश है कि अन्त्य त् आदि मूर्धन्य-व्यंजन के सम हो जाता है, यथा—**तट्-टीका, तड्-डयते, तट्-ठालिनी, तड् ढौकते**—किन्तु प्राचीनतर भाषा में कहीं उदाहरण उपलब्ध नहीं है, उत्तरकाल में भी खूब विरले ही हैं। मूर्धन्य के पूर्व अन्त्य न् के लिए, दे० २०५ आ।

आ—अन्त्य मूर्धन्य के बाद का आदि दन्त्य सामान्यतया अपरिवर्तित रहता है; और सप्तमी बहु० का सु इसी नियम के अनुरूप होता है। यथा—**षट्‌त्रिंशत्, आनड् दिवः, एकराट् त्वम्; षट्सु, राट्सु**।

इ—अपवाद होते हैं—**षष्** छः के साथ कुछ समस्त-पद जिनमें युग्म ण् प्राप्त है (१९८ आ)। यथा—**षण्णवति, षण्णाभि** (और एक या दो अनुद्धरणीय); तथा **जै० ब्रा०** का **षण णिरमिमीत**।

ई—पुनः, कुछ सामासिकों में लुप्त मूर्धन्य षिन्-ध्वनि या इसके प्रतिनिधिक के बाद क्षतिपूर्ति करने वाली दीर्घता के साथ मूर्धन्यीकृत दन्त्य प्राप्त होता है। उदाहरणस्वरूप, कुछ वैदिक समासों में **दुस्** से युक्त, **दूडभ, दूडाश, दूढी, दूणश, दूणाश** (तुलनीय असंगत प्रयोग, **पुरोडाश्** और—**डाश; पुरस्+√दाश्**); और प्रत्येक काल की भाषा में परिवर्तक मात्रा में अपने स्वर के परिवर्तन के साथ षष् के कुछ समस्त रूप (यथा **वोढुम्** और **सोढुम**, २२४ आ); **षोडश षोढा** (साथ ही **षड्ढा** और **षड्धा**), **षोडन्त्**।

उ—अन्त्य ट् और आदि स् के मध्य त् का आगम वैकल्पिक—या कुछ वैयाकरणों के अनुसार नित्य है। यथा—**षट्सहस्राः** या **षट्त्सहस्राः**।

२००—संलग्न तालव्य ध्वनि में दन्त्य के समीकरण की अवस्थाएँ प्रायः बहिरंग सन्धि में ही आती हैं, और ये आदि तालव्य से पूर्व होती हैं। अन्तरंग संयोग का केवल एक प्रकार प्राप्त होता है, यथा—

२०१—अन्तरंग सन्धि में तालव्य व्यंजन के बाद में आने वाला न् स्वतः

तालव्य में परिवर्तित हो जाता है। यथा—याच्ञा, (च् के बाद का एकमात्र उदाहरण), यज्ञ, जज्ञे, अज्ञात, राज्ञा, राज्ञी।

२०२—अ-आदि तालव्य व्यंजन के पूर्व का अन्त्य त् उसके सम हो जाता है। च् या छ् के पहले च् हो जाता है, और ज् के पूर्व ज् (झ् प्राप्त नहीं है)। यथा—**उच्चरति, एतच्छत्रम् , विद्युज् जायते; यातयज्जन, विद्यज्जिह्व, बृहच्छन्दस् , सञ्चरित।**

आ—ज् के पूर्व अन्त्य न् ञ् बनकर समीकृत हो जाता है।

इ—प्रत्येक काल के सभी वैयाकरणों ने न् के ज् में इस समीभवन को नित्य माना है; किन्तु हस्तलेखों में इसका पालन तो बहुधा होता नहीं, या यदा-कदा ही संभव है।

ई—अघोष तालव्य के पूर्व के न् के लिए, दे० नीचे २०८।

२०३—तालव्य शिन्-ध्वनि श् के पूर्व त् और न् दोनों समीकृत होते हैं और क्रमशः च् और ञ् हो जाते हैं; और तब परवर्ती श् छ् में परिवर्तित हो सकता है, और प्रयोग में प्रायः नित्य परिवर्तित होता है। उदाहरणार्थ, **वेदविच् छूरः (-वित् शू-), तच् छ्रुत्वा, हृच्छय (हृत् + शय); बृहञ्छेषः** या **शेषः, स्वपञ् छेते** या **शेते।**

अ—त् या न् के बाद श् के छ् परिवर्तन को कुछ वैयाकरण सर्वत्र नित्य मानते हैं, और कुछ वैकल्पिक ही; कुछ नित्य या वैकल्पिक रूप से स्पर्शध्वनि के पूर्ववर्ती श् को अपवाद-रूप में ग्रहण करते हैं। पुनः कुछ वैयाकरण म् को छोड़कर अन्य किसी स्पर्श के बाद ऐसा परिवर्तन मानते हैं, और **विपाट् छुतुद्री, आनट् छुचि, अनुष्टुप् छारदी, शुक् छुचि** पाठ विधान करते हैं। त् और श् के संयोग के परिणाम-स्वरूप च्छ् की जगह छ् सामान्यतया हस्तलेखों में लिखित है।

आ—मै० सं० में त् और श् की सन्धि अनियमित रूप से ञ्श् में होती है। यथा—**तञ्शतम् , एतावञ् शंस् ।**

अन्त्य न् के संयोग

२०४—अन्तरंग संयोग में धातुमूलक अन्त्य न् परवर्ती सिन्-ध्वनि के सम होकर अनुस्वार हो जाता है। यथा—**वंसि, वंस्व, वंसत् , मंस्यते, जिघांसति।**

अ—वैयाकरणों के अनुसार शब्दरूप में भ् और सु के पूर्व इसकी प्रक्रिया बहिरंग संयोग में-जैसी होती है। किन्तु उदाहरण यों ही अत्यधिक विरल हैं; और ऋ० वे० में **रंसु** और **वंसु** (मात्र वैदिक प्रयोग) प्राप्त हैं।

आ—व्युत्पत्तिक प्रत्यय का अन्त्य न् व्यंजन के पूर्ववर्ती होने पर रूप-विधान और समास में—समास में स्वर के पूर्व भी—नियमित और साधारण रूप से लुप्त हो जाता है; और धातुमूलक न् यदा-कदा इस नियम का पालन करता है। देखिए ४२१ अ, ४३९, १२०३ इ, ६३७।

इ—पूर्ववर्ती तालव्य में न् के समीभवन के लिए, दे० २०१।

अवशिष्ट अवस्थाएँ बहिरंग संयोगवाली हैं।

२०५—अ – बहिरंग संयोग में परवर्ती सघोष तालव्य-स्पर्श और तालव्य शिन् ध्वनि श् के साथ न् के समीकरण का विवेचन ऊपर प्रस्तुत हो गया है (२०२ आ, २०३)।

आ—सघोष मूर्धन्य (ड्, ढ्, ण्) के पूर्व न् का समीकरण (ण् में परिवर्तित होकर) भी माना गया है; किन्तु उदाहरण, यदि प्राप्त होता है, विरल है।

२०६—न् परवर्ती ल् के सम भी होता है और (म् की तरह २१३ ई) नासिक्य ल् बन जाता है।

अ—हस्तलेखों में यह नियम अधिकांशतः अनादृत है, और न् अपरिवर्तित बना रहता है; किन्तु साथ ही, वहाँ भी कुछ अंशों में इसके पालन का प्रयास है और तब समीकृत न् को (समीकृत म् की तरह, २१३ ऊ, और वैसा समीचीन है) या तो अनुस्वार-चिह्न के साथ लिखा जाता है, या ल् को द्वित्व करके ऊपर नासिक्य-चिह्न रखा जाता है; किन्तु दूसरी प्रक्रिया समीचीन है, और अधिक संगत तो यह होगा कि लकारों को पृथक् रखा जाय और प्रथम के ऊपर नासिक्य-चिह्न लगाकर विराम के साथ लिखा जाय। यथा—(**त्रीन् लोकान्** से)।

हस्तलेख **त्रीँलोकान्** या **त्रील्ँलोकान्**; अधिक संगत **त्रीँल्लोकान्**।

इन पद्धतियों में से दूसरी ही सर्वाधिक समय मुद्रित पुस्तकों में मान्य है।

२०७—अन्त्य न् मूर्धन्य और दन्त्य सोष्म ध्वनियों, ष् और स्, के पूर्व अपरिवर्तित रहता है, किन्तु अनुनासिक और सोष्म के बाद त् का आगम भी हो सकता है। यथा—**तान् षट्** या **तान्त् षट्; महान् सन्** या **महान्त् सन्**।

अ—(ऋ० प्रा० को छोड़कर अन्य) प्रातिशाख्यों के वैयाकरणों में से अधिकांश के मतानुसार ऐसे स्थलों में त् का आगम नित्य है। पाण्डुलिपियों में ऐसा अधिकतर हुआ है, किन्तु सब समय नहीं। संभवतः इसमें विशुद्ध ध्वनि-

शास्त्रीय तत्त्व विहित है—अघोष में सघोष के और निरनुनासिक उच्चारण में अनुनासिक के दोहरे परिवर्तन के शमनार्थ संक्रमण-ध्वनि यहाँ मिलती है—यों कतिपय अवस्थाएँ, जहाँ अन्त्य न् मूल न्त् (यथा—**भरन्, अभरन्, अग्निमान्**) के लिए आया है, इसके नियमवत् स्थापन में सहायक रूप से प्राप्त हो सकती है। ञ्छ में (२०३) न्श् के परिवर्तन के साथ इसका सादृश्य स्पष्ट है।

२०८—अघोष तालव्य, मूर्धन्य और दन्त्य स्पर्श के पूर्व, अन्त्य न् के बाद क्रमशः उन वर्गों के प्रत्येक की सोष्म ध्वनि का आगम होता है, और इसके पूर्व का न् अनुस्वार-रूप धारण करता है। यथा—**देवांश्च, भवांश्छिद्यते, कुमारांस्त्रीन्, अभरंस्ततः, दधंश्** (४२५ इ) **चरुम्**।

अ—यह नियम, जो श्रेण्य भाषा में यहाँ दिये गये स्वरूप के साथ ध्वनि नियम के नित्य प्रयोग में दृढ़ हो गया, वस्तुतः ऐतिहासिक अतिजीवता लेकर होता है। भाषा में अन्त्य न् की बहुसंख्यक (तीन चौथाई से अधिक नहीं) अवस्थाएँ मूल न्स् के लिए होती हैं; और उन प्रयोगों में सिन्-ध्वनि का संरक्षण, जब उसका ऐतिहासिक आधार सर्वथा विस्तृत हो गया, सादृश्य के बल पर अन्य सभी स्थलों में व्याप्त हो गया।

आ—वस्तुतः नियम केवल च् और त् के पूर्ववर्ती न् में लागू होता है, क्योंकि अन्य आदि वर्णोंवाली अवस्थाएँ या तो आती ही नहीं, या अत्यधिक बिरल भाव से ही आती हैं (वेद में इनमें से किसी का उदाहरण प्राप्त नहीं होता है)। वेद में आगम सब समय नहीं होता है, और इस सम्बन्ध में विभिन्न संहिताओं के विभिन्न प्रचलन हैं जो इनके प्रातिशाख्यों में पूर्णतः व्याख्यात हैं; सामान्यतया प्राचीनतर ग्रन्थों में यह बहुत कम प्रयुक्त है। जब न् और च् के बीच श् नहीं आता है, तब निश्चय ही न् समीकृत हो जाता है और फिर ञ् (२०३) बन जाता है।

२०९—अनुनासिक के बाद अन्त्य मूल स् का तथाविध संरक्षण और आंस्, ईंस्, ऊंस्, ॠंस् (अन्त्य स् के साथ नासिक्यीकृत दीर्घ स्वर) मानकर (प्रत्यक्ष) अन्त्य आन्, ईन्, ऊन्, ॠन् का परिणामी विकास संयोग के अन्य वैदिक रूपों में स्वतः परिलक्षित होता है, जो ऐक्य के लिए यहाँ संक्षिप्त रूप से एक साथ वर्णित किया जा सकता है।

अ—परवर्ती स्वर के पूर्व अन्त्य आन् आं (नासिक्यीकृत आ) हो जाता है—अर्थात् नासिक्य स्वर वाला आँस् शुद्ध स्वर वाले आस्-जैसा (१७७) माना जाता है। यथा—**देवाँ एह, उपबद्धाँ इह, महाँ असि**। यह, विशेष-

रूप से ऋ० वे० में, अत्यधिक सामान्य अवस्था है। स् एक या दो बार प् के पूर्वः बन जाता है। यथा—**स्वंतवाः पायुः।**

आ—इसी प्रकार नासिक्य ई, ऊ, ऋ के बाद स् का विकास होता है जैसा इसका शुद्ध स्वरों के बाद होगा; सघोष ध्वनि (१७४) के पूर्व र् हो जाता है और अघोष (१७०) के पूर्व (अपेक्षाकृत अत्यधिक विरल भाव से): । उदाहरणस्वरूप—**रश्मीँर् इव, सूनूँर् युवन्यूँर् उंत, नॄँर् अभि; नॄँः पात्रम्** (और **नॄँष्पा**—,मै० सं०)।

इ—ऋ० वे० में य् के पूर्व **ईँ** एक बार प्राप्त है। मै० सं० में सामान्यतया आं की जगह अं मिलता है।

२१०—ह्रस्व स्वर के बाद अन्त्यों—जैसे आने वाले न्, ण्, ङ् अनुनासिकों को द्वित्व हो जाता है, यदि बाद में कोई आदि स्वर हो। यथा—**प्रत्यंङ्ङ् उंद् एषि, उद्यंन्न् आदित्यंः, आसंन्न्-इषु।**

अ—इसे भी ऐतिहासिक अतिजीवता मानना चाहिए, द्वितीय अनुनासिक प्रथम के परवर्ती मूल व्यंजन के समीकरण स्वरूप होता है। हस्तलेखों में यह सब समय लिखित है, यद्यपि वैदिक छन्द से प्रतीत होता है कि द्वित्व कभी-कभी नहीं होता था। ऋ० वे० में **वृषणश्व** समस्तपद प्राप्त है।

२११—सिन्-ध्वनि के पूर्व में रहने वाले ङ् और ण् अनुनासिकों से क्रमशः क् और ट् मध्यागम विहित हैं, जिस प्रकार न् (२०७) से त् मध्यागम। यथा—**प्रत्यंङ्क् सोमः।**

अन्त्य म् के संयोग

२१२—अन्तरंग संयोग में धातुमूलक अन्त्य म् परवर्ती स्पर्श या ऊष्म के साथ समीकृत हो जाता है—द्वितीय अवस्था में अनुस्वार बन जाता है, प्रथम में स्पर्श के साथ वर्गीय अनुनासिक।

अ—म् या व् से पूर्व (जैसा कि अन्त्य होने पर १४३ अ) यह न् में परिवर्तित हो जाता है। यथा—√**गम्** से **अंगन्म, अगन्महि, गन्वहि, जगन्वाँस्**, (ये ही उद्धरणीय प्रयोग होते हैं) प्राप्त हैं। वैयाकरणों के अनुसार इसी प्रकार का परिवर्तन धातुमूलों के रूपविधान में भ् और सु के पूर्व होता है। इस प्रकार **प्रशान्भिस्, प्रशान्सु (प्रशाम्** से;—**प्र** + √**शम्)।** व्युत्पन्न संज्ञा-प्रातिपदिकों में से कोई भी म् अन्त वाला नहीं है।

आ—श० ब्रा० और का० श्रौ० सू० में **कंम्वन्त्** और **शंम्वन्त्** पाये जाते हैं, और छा० उ० में **कम्वर।**

२१३—बहिरंग संयोग में अन्त्य म् परायत्त-ध्वनि है जो किसी परवर्ती व्यंजन के सम हो जाती है। इस प्रकार—

अ—यह केवल स्वर या ओष्ठ्य स्पर्श के पूर्व अपरिवर्तित रहता है।

आ—किन्तु असंगत अपवाद के रूप में धातु **राज्** के र् के पूर्व भी **सम्राज्** और इसके प्रत्ययान्त शब्दों, **सम्राज्ञी** और **साम्राज्य** में।

इ—ओष्ठ्य को छोड़कर अन्य किसी वर्ग का स्पर्श यदि बाद में हो, तो यह उस वर्ग का अनुनासिक बन जाता है।

ई—यदि बाद में अन्तःस्वर य्, ल्, व् हों, तो भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार यह नासिक्य-अन्तःस्थ, प्रत्येक का क्रमिक नासिक्य-प्रतिरूप, हो जाता है (देखिए ७१)।

उ—यह र् सिन्ध्वनि या ह् के पूर्व अनुस्वार हो जाता है (दे० ७१)।

ऊ—हस्तलेखों और मुद्रित ग्रन्थों में अन्तःस्थ के पूर्ववर्ती म् के समीकरण से उत्पन्न नासिक्य-सुरों को सोष्म ध्वनि के पूर्ववर्ती के समीकरण द्वारा उत्पन्न से पृथक् करने का प्रयास सामान्यतः नहीं देखा जाता है।

ए—किन्तु यदि ह् के अव्यवहित अनन्तर कोई अन्य व्यंजन (जो नासिक्य या अर्धस्वर ही हो सकता है) हो, तो परवर्ती व्यंजन के साथ म् का समीकरण विहित है। यह इसलिए होता है कि ह् का अपना कोई विशिष्ट उच्चारण-स्थान नहीं है, वह तो बाद की ध्वनि के उच्चारण-स्थान से उच्चरित होता है। प्राति-शाख्यों में इस प्रक्रिया का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

ऐ—वेद में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ अन्त्य म् स्वर के पूर्व लुप्त हो जाता है, और तब अन्त्य और आदि स्वर एक में मिला दिये जाते हैं। ऐसी अवस्था में पद पाठ साधारणतया भ्रामक पाठ उपस्थित करता है। यथा— **संवननोभयंकरम्** (ऋ० वे० ८-१-२, पद-पाठ—**नना उभ—**, सा० वे०—**ननम्**)।

ओ—ऊपर (७३) कहा जा चुका है कि ग्रन्थों में समीकृत म् सामान्य-रूप से अनुस्वार चिह्न द्वारा निर्दिष्ट होता है, और प्रस्तुत पुस्तक में यह ँ (नासिक्य स्पर्श या ं की जगह) द्वारा लिप्यन्तरित है।

तालव्य स्पर्श और शित्-ध्वनि, और ह्

२१४—कुछ अवस्थाओं में ये ध्वनियाँ मूल कण्ठ्य ध्वनियों में, जिनसे इनका विकास हुआ है, प्रत्यावर्तित (४३) दिखाई देती हैं। ज् और ह् का विकास भी इनसे होता है, क्योंकि ये मूल कण्ठ्यों से परिवर्तन की दो विभिन्न कोटियों में से पहली या दूसरी का प्रतिनिधित्व करते हैं।

२१५—वार्णिक ध्वनियों में तालव्य और ह् सबसे कम स्थिर हैं; अपने व्युत्पत्तिक स्वरूप के चलते ये ध्वनियाँ बहुत स्थलों में परिवर्तित होती हैं जहाँ अन्य सुरक्षित रहती हैं।

२१६— इस प्रकार, मूलशब्द की व्युत्पत्ति में, स्वरों, अर्धस्वरों तथा नासिक्य वर्णों के पूर्व भी, कण्ठ्य ध्वनि के प्रत्यावर्तन रूप में, प्रयोग किसी अर्थ में कम नहीं है। वे प्रयोग निम्न हैं—

अ—प्रत्यय अ के अ के पूर्व **अङ्क, श्वङ्क, अर्क, पाक, वाक, शंक, पर्क, मर्क, वृक, प्रतीक,** इत्यादि, **रेक, सेक, मोक, रोक, शोक, तोक, म्रोक, व्रस्क** में अन्त्य च् क् हो जाता है;—**त्याग, भंग, भाग, याग, अङ्ग, भङ्ग, संङ्ग, स्वङ्ग, ऋङ्ग तङ्ग, युङ्ग, वर्ग, मार्ग, मृग, वर्ग, सर्ग, नेग, वेग, भोग, युग, योग, लोग, रोग,** में अन्त्य ज् ग् हो जाता है; **अघ, मघ, अर्घ, दीर्घ,** (और **द्राघीयस्, द्राघिष्ठ**), **देघ, मेघ, ओघ, दोघ द्रोघ मोघ,** अन्त्य ह् घ् हो जाता है; और **दुघान** और **मेघमान** में भी। पुनः **नेक** (√ **निज्**) में धातु के अन्त्य सघोष के लिए अघोष का अनियमित आदेश हमें प्राप्त है।

आ— अ से युक्त व्युत्पन्न शब्दों की अन्य श्रेणी में हमें परिवर्तित ध्वनि प्राप्त होती है। उदाहरण है—**अज, याज, शुच, शोच, व्रज, वेविज, युज, ऊर्जा, दोह**।

इ—अस् और अन प्रत्ययों से पूर्व कण्ठ्य ध्वनि विरले ही आती है। यथा–**अंङ्कस्, ओकस्, रोकस, शोकस्, भर्गस्** में और **रोगण** में; साथ ही आभोगय में।

ई—बाद में यदि इ-स्वर हो, तो (**आभोगि, ओगीयंस्, तिगित, मोक, स्फिगी** को छोड़कर अन्यत्र) परिवर्तित ध्वनि प्राप्त होती है, यथा— **आर्जि, तुर्जि, रुचि, शंची, विविचि, रोचिष्णु**।

उ—उ के पूर्व कण्ठ्य ध्वनि नियमानुसार पुनः उपस्थित हो जाती है : (उदाहरण बहुत कम होते हैं), यथा—**अङ्कु, वङ्कु, रेकु, भृगु, मार्गुक, रघु** (और **रंघीयस्**)।

ऊ—न् से पूर्व प्रत्यावर्तन के उदाहरण, भूतकालिक कृदन्त (९५७ इ) न् के पूर्व ज् (ग् होने वाले) को छोड़कर बहुत कम हैं। इस प्रकार **रंकूणस्, वग्नु** (अन्त्य को सघोष बनाकर भी) और कृदन्त क्रियारूप **भग्न, रुग्ण,** इत्यादि; और स्पष्टतः √ **पृच्** से **पृग्ण**।

ए—(म्, मन्, मन्त्, मिन् के) न् पूर्व कण्ठ्य ध्वनि साधारणतया आती है, यथा—**रुक्म, तिग्म, युग्म, ऋग्म** (सघोष परिवर्तन के साथ); **तक्मन्, वक्मन्, सक्मन्, युग्मन्, रुक्मन्त्**; ऋग्मिन् और **वाग्मिन्** (सघोष परिवर्तन के साथ) :—किन्तु **अज्मन्, ओज्मन्, भुज्मन्**।

ऐ—परिवर्तित ध्वनि य् से पूर्व प्रयुक्त होती है। यथा—**पच्य, यज्य, यज्यु, युज्य, भुज्य, भोग्य, योग्य, नेग्य, ओक्य,** जैसे प्रयोग निस्संदेह भोग-प्रभृति से बने तद्धितान्त शब्द हैं।

ओ—र् से पूर्व उदाहरण बहुत कम होते हैं, और प्रयोग स्पष्टतः विभक्त हैं। यथा—**तक्र, सक्र, वक्र, शुक्र, विग्र, उग्र, तुग्र, मृग्र, वङ्क्रि**; किन्तु **वज्र** और **प्रज्र** (?)।

औ—(व, वन्, विन् प्रभृति और कृदन्तक्रियारूप वांस् प्रत्ययों के) व् से पूर्व कण्ठ्य ध्वनि नियमतः सुरक्षित रहती है। यथा—**ऋक्व, पक्व, वक्य; वक्वन्, ऋक्वन्, रिक्वन्, शुक्वन्, मृग्वन्, तुग्वन्; युग्वन्; ऋक्वन्त्, पृक्वन्त्; वाग्वन्, वग्वन, वग्वनु** (विशेष सघोष परिवर्तन के साथ **विवक्वांस्, रिरिक्वांस्, विविक्वांस्, रुरुक्वांस्, शुशुक्वन, शुशुक्वनि**; संयोजन स्वर-इ से पूर्व भी **ओकिवांस्**, ऋ० वे०, एक बार, में)। **यज्वन्** अपवाद-स्वरूप है।

क—प्रत्यय-विधान में ह् का प्रत्यावर्तन अपेक्षाकृत विरल है। श् (२१९) के अनुरूपक अन्त्य ज् में च् के अनुरूपी ज् की अपेक्षा बहुत कम प्रवृत्ति ह् के प्रत्यावर्तन की ओर है।

ख—इसी प्रकार का परिवर्तन धातु के मूल-निर्माण और रूप-विधान में आंशिक रूप से देखा जाता है। यथा—**चि, चित्, हि, हन्** धातुओं के वर्तमान या परोक्ष या सन्नन्त या यङ्-प्रत्ययान्त धातु-मूलों और साधित-रूपों में और **जंगुरि** (√ जॄ) में द्वित्व के बाद धातुमूलक आदि कण्ठ्य हो जाता है; और अ के लोप (४०२, ६३७) होने से **हन् घ्न्** बन जाता है। ऋ० वे० में **√ वच्** से **विवक्मि** और **√ वञ्च** से **वावक्रे** प्रयोग प्राप्त हैं; और सा० वे० में **ससृग्महे** (ऋ० वे० **सृज**) मिलता है। पुनः अन्य० आत्मने० बहु० के **रन्** प्रभृति से पूर्व, **असृग्रन्, असृग्रम्, अससृग्रम्** (सबके-सब ऋ० वे०) में हमें धातुमूलक ज् के स्थान पर ग् उपलब्ध है।

२१७—धातु या मूल का अन्त्य च्, यदि वह अन्तरंग संयोग में स्वर या अन्तःस्थ या अनुनासिक से भिन्न किसी अन्य ध्वनि से पूर्व हो, अपनी मूल कण्ठ्य

प्रयोगिता में प्रत्यावर्तित (४३) हो जाता है, और सब जगह उसका वही रूप देखा जायगा जो समान स्थिति में क् का होता है। यथा—**वक्ति, उपक्थ, वक्षि, वक्ष्यामि; वग्धि, वाग्भिस्, वाक्षु; उक्त, उक्थ, वक्तर्।**

अ—पुनः यही नियम बहिरंग संयोग के च् में भी लागू होगा, क्योंकि अन्त्य च् क् (ऊपर १४२) हो जाता है। यथा—**वाक् च वाग् अपि, वाङ् मे।**

रूप-विधान में अपरिवर्तित रहनेवाले च् के उदाहरण होते हैं :—**उच्यते, रिरिच्रे, वाचि, मुमुच्महे।**

२१८—अन्तरंग संयोग में केवल धातु-मूल या प्रत्यय के स् के पूर्व अन्त्य श् अपने मूल क् में प्रत्यावर्तित होता है (१८० द्वारा जिससे क्ष); त् और थ् के पूर्व यह नित्य ष् हो जाता है (जिससे १९९ द्वारा ष्ट् और ष्ठ्); ध् भ्, और सप्तमी बहु० सु के पूर्व, जिस प्रकार अन्त्य होने से (१४५), यह नियमतः मूर्धन्य स्पर्श (ट् या ड्) हो जाता है। इस प्रकार **अविक्षत, वेक्ष्यामि; वष्टि, विष्ट, दिदेष्ट; दिदिड्ढि, विड्भिस्।**

अ—किन्तु भ् और सु के पूर्व, और साथ ही अन्त्य होने से (१४५) कुछ धातुओं में अन्त्य श् का प्रत्यावर्तन क् में देखा जाता है। वे हैं—**दिश्, दृश्, स्पृश्** और विकल्प से **नश्**; और वे० में **विश्** से स० बहु० **विक्षु** सब समय प्राप्त हैं, किन्तु **विट्, विड्भिस्** इत्यादि। उदाहरण होते हैं—**दिक्संश्रित, दृग्भिस्, हृदिस्पृक्, नक्** (या **नट्**)।

स्वरों प्रभृति से पूर्व अपरिवर्तित रहनेवाले श् के उदाहरण हैं—**विशि, विविश्यास्, अविश्रन्, अश्नोमि, वश्मि, उश्मसि।**

आ—सामासिक पद **विश्पति** में प् से पूर्व श् अनियमित रूप से अपरिवर्तित रहता है।

२१९—अन्त्य ज् शब्दों की एक कोटि में च् की तरह और अन्य में श् की तरह गृहीत होता है। यथा—**युज्** से-**अयुक्थास्, अयुक्त, युङ्क्ते, युक्ति, योक्त्र, योक्ष्यामि, युक्षु, युङ्ग्धि, अयुग्ध्वम्, युगभिस्।** पुनः **मृज्** प्रभृति से—**अमृक्षत्, स्रक्ष्यामि; मार्ष्टि, मृष्ट, स्रष्टि, राष्ट्र; मृड्ढि, मृड्ढ्वम्, राड्भिस्, राट्सु, राट्।**

अ—प्रथम या युज्-कोटि में लगभग बीस धातुएँ और धातुमूलक प्रातिपादिक (जैसा कि उनके उद्धरणीय रूपों से स्पष्ट है) आते हैं। यथा—**भज्, सज्, त्यज्**, (वे० में नहीं), **रज्** रंगना, **स्वज्, मज्ज्, निज्, तिज्, विज्**, १ और २ **भुज्, युज्, रुज्, वृज्, अञ्ज्, भञ्ज्, शिञ्ज्; ऊर्ज्, स्रज्, भिषज्, असृज्**;—साथ ही, **अज्** और **इज्** प्रत्ययों से बने मूल (३८३,

४ थ), यथा—**तृषर्णज्**, **वणिज्**; और **ऋत्विज्**, यद्यपि यहाँ **युज्** धातु है।

आ—द्वितीय या **मृज्**—कोटि में उनकी केवल एक तिहाई धातुएँ ही आती हैं, यथा—**यज्**, **भ्रज्ज्**, **व्रज्**, **राज्**, **भ्राज्**, **मृज्**, **सृज्**।

इ—ज्-धातुओं में से बहुसंख्यक धातुएँ प्रस्तुत प्रसंग में भेदक-जैसी नहीं रखी गयी हैं; किन्तु संबद्ध भाषाओं के साक्ष्य के आधार पर ये धातुएँ आंशिक रूप से एक या अन्य कोटि में रखी जा सकती हैं। भेद वहीं प्राप्त होता है जहाँ ज् अन्त्य जैसा आता है, अथवा जहाँ वह रूप-विधान में या प्रत्यय-विधान में दन्त्य स्पर्श (त्, थ्, ध्) से पूर्व, अथवा संज्ञा-रूपविधान में भ् या सु से पूर्व आता है। प्रत्यय-विधान में (ऊपर, २१६) कभी-कभी **मृज्** कोटि से हमें ग् उपलब्ध होता है, यथा—**मार्ग**, **सर्ग**, इत्यादि; और २१६ ख) वैदिक आत्मने० तिङन्त चिह्नों से पूर्व, **ससृग्महे**, **असृग्रन्**, प्रभृति (साथ ही, **ससृज्रिरे**); इसके विपरीत **युज्**-कोटि से केवल **ययुज्रे**, **अयुज्रन्**, **बुभुज्रिरे** ज् के साथ प्राप्त हैं। किन्तु मैं सं० में **सृज्** से **विश्वसृक्** प्रयोग है।

२२०—अन्त्य छ् एकमात्र धातु **प्रछ्** को लेकर संयोग-नियमों के अन्तर्गत होता है, जहाँ इसका ग्रहण श् की तरह होता है (निस्संदेह इसका अधिक मौलिक रूप **प्रश्** ही है); यथा—**प्रक्ष्यामि**, **पृष्ट**, और प्रत्ययान्त शब्द **प्रश्न**। अन्त्य के रूप में और (भ् और सु से पूर्व) संज्ञा-रूपविधान में यह मूर्धन्य स्पर्श में परिवर्तित हो जाता है, यथा **प्राड्विवाक**।

अ—**मूर्त** को **मूर्छ** का कृदन्त-क्रियारूप कहा गया है, और पूर्वकालिक क्रियारूप **मूर्त्वा** के लिए यही धातु दी गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि ये (**मूर्ति** के साथ) धातु के सरलतर रूप से आते हैं।

आ—झ् का कोई प्रयोग प्राप्त नहीं होता है। वैयाकरण इसकी प्रक्रिया च् की तरह मानते हैं।

२२१—धातु (सामान्यतया प्रत्यक्ष तद्धित-प्रत्ययान्त मूलक) के अथवा कालमूल (स्—लुङ्, दे० नीचे, ८७८ मु० वि०) के अन्त्य के रूप से संयुक्त क्ष् विरल नहीं है; और अपने अन्तरंग संयोग के बहुत थोड़े-से प्रयोगों में यह एकल ध्वनि के रूप में गृहीत है, और श् विषयक नियमों का अनुसरण करता है। यथा—**चक्षे** (**चक्ष्** + **से**), **चक्ष्व**, **चष्टे**, **अचष्ट**, **अस्राष्टम्**, **अस्रष्ट**, **त्वष्टर**। अन्त्य के रूप में इसकी प्रक्रिया के लिए, दे० १४६।

अ—इस प्रकार **गोरट्**, **गोरड्भिस्**, **गोरट्सु** (**गोरक्ष्** से)-जैसे रूपों के निर्माण के संकेत हमें वैयाकरणों से प्राप्त होते हैं; और वस्तुतः **षक्ष**,

या षष् (१४६ आ) से **षट्**, **षड्भिस्**, **षट्सु** हमें मिलते हैं। **√जक्ष्** से **जग्ध** प्रभृति के लिए दे० २२३ ऊ।

आ—केवल एक अनियमित धातु व्रश्च में संयुक्त श्च् को सरल श् के अनु-रूप नियमों का अनुसरण माना गया है। इसके भविष्यरूप नियमों का अनुसरण माना गया है। इसके भविष्यरूप **व्रक्ष्यति**, पूर्वकालिक क्रियारूप **वृष्ट्वा** (अ० वे०) और **वृक्त्वी** (ऋ० वे०) और कृदन्त-क्रियारूप (९५७ इ) **वृक्ण** उद्धरणीय हैं। प्रत्ययान्त शब्द **व्रस्क** में इसका च् क् में प्रत्यावर्तित होता है।

२२२—ह् अन्त वाली धातुएँ ज्-अन्त वाली धातुओं की तरह दो कोटियों में विभक्त होती हैं; विकास में उसी प्रकार की विभिन्नता प्राप्त है और संयोग के समान प्रकारों को लेकर होती हैं।

अ—एक कोटि में, यथा—**दुह्**, (च् की तरह) ह् का प्रत्यावर्तन कण्ठ्य रूप में हमें मिलता है, और इसका विकास उसी रूप में होता है जैसा कि यह अपना मूल घ् ही हो। यथा—**अधुक्षम्**, **धोक्ष्यामि**, **दुग्धाम्**, **दुग्ध**, **अधोक्**, **धुक्**, **धुग्भिस्**, **धुक्षु**।

आ—अन्य कोटि में, यथा **रुह्** और **सह्**, (श् की तरह) इसका कण्ठ्य प्रत्यावर्तन केवल स् से पूर्व क्रिया-रूपनिर्माण और प्रत्यय-विधान में होता है। यथा—**अरुक्षत्**, **रोक्ष्यामि**, **साक्षीय**, **सक्षणि**। अन्त्य के रूप में भ् और सु से पूर्व ह् (श् की तरह) बहिरंग संयोग में और संज्ञा-रूपविधान में मूर्धन्य स्पर्श हो जाता है। यथा—**तुराषाट्**, **पृतनाषाड्**, **अयोध्यः**, **तुराषाड्भिस्**, **तुराषाट्सु**। किन्तु, क्रिया-रूपविधान में और प्रत्यय-विधान में दन्त्य स्पर्श (त्, थ्, ध्) से पूर्व इसका सन्धिमूलक प्रभाव अत्यधिक जटिल है—यह दन्त्य को मूर्धन्य में परिवर्तित कर देता है (जैसा कि श्); किन्तु यह उसे सघोष और महाप्राण भी बना देता है (जैसा कि ढ दे० १६०); और पुनः यह स्वतः लुप्त हो जाता है, और पूर्ववर्ती स्वर ह्रस्व होने से दीर्घ कर दिया जाता है। यथा—**रुह् + त** से **रूढ**, **लेह् + ति** से **लेढि**, **गुह् + तर** से **गूढर्**, **मेह् + तुम्** से **मेढुम्**, **लिह् + तस्**, या **थस्** से **लीढस्**, **लिह् + ध्वम्** से **लीढ्वम्**, इत्यादि प्रयोग होते हैं।

इ—स्थिति ऐसी है कि हम मूर्धन्य और सघोष महाप्राण (१६०) के सन्धिमूलक प्रभावों से युक्त सघोष महाप्राण मूर्धन्य सिन् zh जह् जैसी एक संक्रमण ध्वनि की कल्पना कर सकते हैं, जो कि उपलब्ध भाषा के नियम के चलते, जहाँ सघोष सोष्म ष् विहित नहीं है, स्वतः लुप्त हो गयी है।

२२३—दो कोटियों की धातुएँ, जैसा कि प्रयोग में प्राप्त इनके रूपों से निर्दिष्ट हैं, होती हैं :—

अ—प्रथम अथवा **दुह्**, कोटि की—**दह्**, **दिह्**, **दुह्**, **द्रुह्**, **मुह्**, **स्निह्** (और **उष्णिह्** , का अन्त्य तथाविध गृहीत है);

आ—द्वितीय अथवा **रुह्** कोटि की **वह्**, **सह्**, **मिह्**, **रिह्** या **लिह्**, **गुह्**, **रुह्**, **दृंह्**, **तृंह्**, **बृंह्**, **स्पृह्** (?)।

इ—किन्तु मुह् से (ऋ० वे० में अनुपलब्ध) कृदन्त-क्रियारूप **मूढ** और कारकसंज्ञा **मूढर्** तथा **मुग्ध** और **मुग्धर्** बनते हैं; और **द्रुह्** और **स्निह्** से वैयाकरण इसी प्रकार प्रक्रिया मानते हैं—किन्तु **द्रूढ** और **स्नीढ**, जैसे-रूप प्रयोग में अनुपलब्ध हैं।

ई—**रुह्**-कोटि की धातुओं से **गर्तारुक्** प्र० एक०, और **प्राणधृक्** और **दधृक्** रूप वेद में हमें प्राप्त होते हैं; और फलतः **पुरुस्पृक्** (एक बार प्रयुक्त) निश्चित रूप से प्रमाणित नहीं करता है कि **स्पृह्**, **दुह्**-कोटि के अन्तर्गत है।

उ—ह् अन्तवाली अन्य धातुओं में से अनेक अपने प्राप्त रूपों के आधार पर निश्चित नहीं हो पायी हैं कि इन दोनों में से किस कोटि में उन्हें रखा जाय; ये भी संबद्ध भाषाओं की तुलना द्वारा अल्पाधिक प्रमाण के साथ एक या अन्य में वर्गीकृत हैं।

ऊ—प्रत्यय-विधान में कुछ प्रत्ययों (२१६) से पूर्व इन दोनों कोटियों की किसी की क्रियाओं से ह् की जगह हमें घ् प्राप्त है।

ए—धातु नह्, घ् की बजाय मूल ध् से आती है, और इस प्रकार इसका प्रत्यावर्तन दन्त्य स्पर्श में होता है। यथा—**नेत्स्यामि, नद्धं, उपानद्भिस्, उपानद्युग, अनुपानत्क**। इस तरह ग्रह् धातु (प्राचीन वैदिक) **ग्रभ्** से आती है, और अनेक रूपों और प्रत्ययान्त-शब्दों में (यद्यपि सन्नन्त मूल **जिघृक्ष** में यह अन्य ह्-धातुओं के सम है) ओष्ठ्य ध्वनियाँ देखी जाती हैं। इसी ढंग से √**धा** रखना के कुछ रूपों और प्रत्ययान्त-शब्दों में ध् के लिए ह् प्रयुक्त है; तथा अन्य समान तथ्य प्रातिपदिक **ककुह** **ककुभ** के साथ-साथ, अनुज्ञार्थक द्विक-प्रत्यय **धि** और **हि**, और चतुर्थी रूप **मह्यम्** , **तुभ्यम्** के साथ (४९१) होते हैं।

२२४—संयोग की अनियमितताएँ होती हैं :—

अ—ह्-अंश के लोप के बाद स्वर ऋ दीर्घ नहीं होता है। जैसे—**तृढ**,

तृढ, बृढ (मात्र-प्रयोग; और वेद में इनका प्रथम अक्षर छन्द की दृष्टि से गुरु या दीर्घ है)।

आ—**वह्** और **सह्** धातुओं का स्वर दीर्घ न होकर ओ में परिवर्तित होता है। यथा—**वोढभ्, वोढाम्, वोढर्, सोढुम्**। किन्तु प्राचीनतर भाषा में **सह्** से आयुक्त रूप अधिक प्रयुक्त हैं, यथा **साढ, अषाढ** (उत्तर काल में भी), **साढर्**। **तृंह्** धातु अपने गण-चिह्न के स्वर को दीर्घ करने के बजाय ए में परिवर्तित कर देती है। इस प्रकार, **तृणेढि, तृणेढु, अतृणेत्** (वैयाकरणों के अनुसार **तृणेह्मि** और **तृणेक्षि** भी मान्य हैं, किन्तु ऐसे रूप अनुद्धरणीय हैं, और यदि कभी वास्तविक प्रयोग में हों, तो अन्य रूपों के मिथ्या सादृश्य के आधार पर ही बने होंगे)।

इ—इन असंगत् स्वर-परिवर्तनों का तथ्य इसमें निहित लगता है कि इनसे युक्त रूप केवल वे होते हैं जहाँ ह् के प्रतिनिधि-रूप मूर्धन्यीकृत सोष्मसिन्से पूर्व परिवर्तक स्वर (१८०) को छोड़कर अन्य स्वर आता है।

ई—स्पष्ट है कि विषमीकरण के चलते वह् का अन्त्य अनियमित समस्तपद **अनड्वह्** में द् की जगह ड् में परिवर्तित होता है। द्रष्टव्य ४०४।

मूर्धन्य सोष्मध्वनि ष्

२२५—चूंकि मूर्धन्य सोष्म ध्वनि अपने सामान्य और नियमित प्रयोग में कुछ परिवर्तक ध्वनियों से परे स् के मूर्धन्यीकरण के परिणामस्वरूप (१८२) होती है, हम ऐसी अपेक्षा कर सकते हैं कि धातुमूलक अन्त्य ष्, जब (विरल अवस्थाओं में) इसकी स्थिति ऐसी होती है कि वहाँ ष्-ध्वनि अपने आप सुरक्षित रह सकती, अपने मूल में प्रत्यावर्तित हो जाय, और इसकी प्रक्रिया वैसी ही हो जैसी समान परिस्थितियों में स् की होती है। किन्तु ऐसी वस्तुस्थिति बहुत कम स्थलों में होती है।

अ—यथा, पूर्व-प्रत्यय **दुस्** (स्पष्टतः √**दुष्** के समरूप) में; **साजूस्** (√**जुष्** से क्रियाविशेषण की तरह प्रयुक्त होनेवाला सविभक्ति-रूप) में; √**विष** से (ऋ० वे०) **विवेस्** और **अविवेस्**, √**ईष्** से ऋ० वे० **ऐचेस्**, और √**शास्** के तद्धित रूप जैसे **शिष्** से **आशीस्** में। प्रथम दो को छोड़कर अन्य सब-के-सब अल्पाधिक मात्रा में सन्देहास्पद हैं।

२२६—सामान्यतया अन्त्य मूर्धन्य ष् अन्तरंग संयोग में उसी रूप से गृहीत है जैसा कि तालव्य श्। इस प्रकार,

अ—यह त् और थ् से पूर्व अपरिवर्तित बना रहता है, और परवर्ती त् और थ् समीकृत हो जाते हैं। उदाहरण-स्वरूप—**द्विष्टस्, द्विष्ठस्, द्वेष्टुम्**।

यह एक साधारण और सर्वथा स्वाभाविक संयोग है।

आ—ध, भ् और सु से पूर्व यह बहिरंग संयोग में भी (१४५) मूर्धन्य स्पर्श हो जाता है, और इसके बाद ध् मूर्धन्य बना दिया जाता है। यथा—**पिण्ड्ढि, विड्ढि, विविड्ढि, द्विढ्वम्, द्विड्भिस्, द्विट्सु, भिन्नविट्क**।

इ—मध्यम० बहु० आत्मनेपद तिङ्-चिह्न ध्वम् का ध् भी काल-मूल के अन्त्य ष् के बाद ढ् हो जाता है, चाहे इसके पूर्व ष् को लुप्त माना जाय या ड् में परिवर्तित (हस्तलेखों में केवल ढ्व लिखा जाता है, ड्ढव् नहीं; किन्तु यह संदिग्ध है, देखिए २३२)। इस प्रकार स्-लुङ् मूलों (८८१ अ) के ष् के बाद **अस्तोढ्वम्, अवृढ्वम्, च्योढ्वम्** (मात्र उद्धरणीय प्रयोग) **अस्तोष् + ध्वम्**, प्रभृति से; किन्तु **अरास् + ध्वम्** से **अराध्वम्**। पुनः इष्-लुङ्-मूलों (९०१ अ) के ष् के बाद **ऐन्धिड्वम्, अर्तिढ्वम्, अजनिढ्वम्, वेपिढ्वम्** (मात्र उद्धरणीय प्रयोग), **अजनिष् + ध्वम्** प्रभृति से। इसी प्रकार **भविषीढ्वम्** जैसे आशीर्लिङ् रूप (९२४) में, यदि—जैसा कि संभव है—आशीर्लिङ् चिह्न स् (ष्) के रूप में स्थित माना जाय (दुर्भाग्य से इस पुरुष का कोई भी उदाहरण साहित्य के किसी अंश से उद्धरणीय नहीं है)। किन्तु भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार इष्-लुङ् और आशीर्लिङ् में ढ् का ध् प्रयोग इसपर निर्भर करता है कि इष् के या इषी के पूर्व में "कोई अन्तःस्थ अथवा ह्" है या नहीं—जो स्वतः निरर्थक प्रतीत होता है और सभी उद्धरणीय रूपों के साक्ष्य के प्रतिकूल पड़ता है। पुनः उन्हीं वैयाकरणों के प्राप्ति के उसी निषेध के अन्तर्गत, लिट् आत्मनेपदी तिङन्त चिह्न ध्वे में भी, ध् का परिवर्तन ढ् में माना है—यहाँ भी कोई तर्क-संगत कारण नहीं जँचता; और मध्यम बहु० लिट् में ढ्वे का कोई उदाहरण साहित्य में निर्दिष्टे नहीं है।

ई—भ् और सु से पूर्व और अन्त्य के रूपवाले ष् का परिणमन ट् (या ड्) में वैसा ही होता है जिस प्रकार श् का, और **मृज्** और **रुह्** धातु कोटियों का, तथा संभवतः जिस प्रकार त् में स् का कादाचित्क परिवर्तन (१६७–१६८)। इस प्रकार का प्रयोग बहुत विरल है, (**षष्** के ग्रहण से संभावित को छोड़कर) केवल एक बार ऋ० वे० में और एक ही बार अ० वे० में (—**द्विट्** और—**प्रुट्**) आया है, यद्यपि उन संहिताओं में ष् अन्तवाली धातुओं की संख्या चालीस से ऊपर है; पुनः ब्राह्मणों में भी केवल—**प्रुट्** और **विट्** (श० ब्रा०) और—

श्लिट् (का०) देखे गये हैं। ऋ० वे० में **पिष्** से अनियमित रूप **पिणक्** (मध्यम० और अन्यपुरुष एक० **पिनष्-स्** और **पिनष्-त्** के लिए) मिलता है।

उ—अन्तरंग संयोग में यह स् से पूर्व (सप्तमी बहु० के सु को छोड़कर) क् हो जाता है। यथा—**द्रंक्षि, द्रक्ष्यामि, अद्रिक्षम्**।

ऊ—यह परिवर्तन असंगत ध्वनिशास्त्रीय लक्षण लेकर है, और इसकी व्याख्या कठिन है। प्रयोग की दृष्टि से भी यह वस्तुतः बहुत विरल है। (ऊपर दिये गये **पिणक्** को छोड़कर) ऋ० वे० में √ **विष्** से **विवेक्षि** और √ **रिष्** से सन्नन्तमूल **रिरिक्ष** केवल दो ही उदाहरण प्राप्त होते हैं; अ० वे० में केवल **द्विक्षत्** और √ **श्लिष्** से सन्नंत-मूल **शिश्लिक्ष** हैं। अन्य उदाहरण √ **कृष्, पिष्** और **विष्** (श० ब्रा० प्रभृति) और शिष् (श० ब्रा०) से उद्धरणीय हैं; लगभग आधे दर्जन की अन्य धातुओं से इनका विधान भारतीय वैयाकरण करते हैं।

विस्तरण और संक्षेपण

२२७—सामान्य नियम के आधार पर किसी स्वर के बाद छ् स्वतः प्राप्त रूप में वैयाकरणों के मतानुसार नहीं रखा जा सकता है, किन्तु उनका द्विगुणीभाव अपेक्षित है जिससे वह च्छ् हो जाता है (जो हस्तलेखों में कभी-कभी छ्छ् जैसा लिखा जाता है)।

अ—इस द्विगुणीभाव को लेकर विस्तृत विवेचन में विभिन्न वैयाकरण एक दूसरे से असहमत हैं। पाणिनि के अनुसार छ् पदमध्य में दीर्घ अथवा ह्रस्व स्वर के बाद द्विगुणित होता है; आदि में ह्रस्व स्वर के बाद तथा, आ और मा निपातों के बाद नित्यरूप से, तथा सर्वत्र दीर्घ स्वर के बाद वैकल्पिक रूप से। ऋ० वे० में आदि छ् केवल आ के दीर्घ स्वर के बाद द्विगुणित हुआ है, और ह्रस्व स्वर के बाद कुछ विशिष्ट प्रयोग अपवादीभूत हैं। अन्य वैदिक संहिताओं के मान्य प्रयोग के लिए उनके विभिन्न प्रातिशाख्यों को देखिये। काठक में मूल छ् (त् या न् के साथ श् के संयोग से प्राप्त छ् नहीं) स्वर के बाद सर्वत्र श्छ् से लिखा जाता है। हस्तलेखों में सामान्यतः एकल छ् ही लिपीकृत है।

आ—यह द्विगुणीभाव कहाँ तक व्युत्पत्तिमूलक है और कहाँ तक यह इस तथ्य का ही प्रतीक है कि ह्रस्व स्वर के बाद भी छ् ("स्थान" लेकर, ७९) आक्षरिक गुरुता ला देता है, इन प्रश्नों को लेकर मत और भी विभिन्न हैं। चूँकि द्विगुणीभाव अधिकांश यूरोपीय विद्वानों द्वारा आदृत और प्रयुक्त है, प्रस्तुत पुस्तक में भी पदों और वाक्यों में (धातुओं और मूलों में नहीं) यह रखा गया है।

२२८—र् के बाद किसी व्यंजन (स्वर के पूर्ववर्ती सोष्म को छोड़कर) का द्विगुणीभाव (महाप्राण में तद्रूपी अल्पप्राण का पूर्व योग करके, १५४) वैयाकरणों द्वारा या तो नित्य या वैकल्पिक रूप से मान्य है । इस प्रकार

अर्क या अर्क्क; कार्य या कार्य्य;
अर्थ या अर्त्थ, दीर्घ या दीर्ग्घ ।

अ—वैयाकरणों में से कुछ इस नियम के अन्तर्गत ह् या ल् या व् को या इनमें एक से अधिक को सम्मिलित करते हैं ।

आ—र् के बाद द्विगुणित व्यंजन पाण्डुलिपियों और शिलालेखों में बहुत सामान्य हैं, साथ ही देशी ग्रन्थ-सम्पादनों और यूरोपीय विद्वानों द्वारा तैयार किये गये पूर्वतर संस्करणों में—उत्तरकालिक संस्करणों में द्वित्व सर्वत्र छोड़ दिया गया है ।

इ—दूसरी और पाण्डुलिपियों में र् के बाद एकल व्यंजन बहुधा लिखित है जहाँ द्विगुणितरूप व्युत्पत्ति की दृष्टि से अपेक्षित है । यथा—**कार्त्तिकेय, वार्त्तिक** के लिए **कार्तिकेय, वार्तिक ।**

२२९—संयुक्त के प्रथम व्यंजन को, चाहे वह पद के मध्य में हो अथवा अनुगत शब्द के स्वर के बाद आदि में—वैयाकरणों के मतानुसार नित्य अथवा वैकल्पिक भाव से होता है ।

आ—पाणिनि ने इस द्वित्व को वैकल्पिक माना है, और प्रातिशाख्यों ने नित्य—दोनों में उन निर्देशकों का उल्लेख है जिनसे इसका सर्वथा निराकरण होता है । कुछ अपवादों के लिए प्रातिशाख्यों को देखिये; सम्पूर्ण विषय का तत्त्व इतना अस्पष्ट है कि यहाँ विस्तार से उल्लेख प्रस्तुत करना असंगत है ।

२३०—संयुक्त व्यंजनों के विस्तरण के अन्य प्रकार, जिनको व्याकरण-शास्त्रों में से कुछ नित्य मानते हैं, निम्नलिखित हैं :—

अ—निरनुनासिक और अनुनासिक व्यंजनों के बीच तथा-कथित यमों (जुड़वों) या अनुनासिक प्रतिरूपों का अन्तर्निदेश प्रतिशाख्यों में उल्लिखित है (और पाणिनि की व्याख्या में गृहीत है) : द्रष्टव्य अ० प्रा० १-९९, टिप्पणी ।

आ—ह् और परवर्ती अनुनासिक स्पर्श के बीच प्रातिशाख्य नासिक्य-ध्वनि के आगम का विधान करते हैं । दे० अ० आ० १-१०० टिप्पणी ।

इ—र् और परवर्ती व्यंजन के बीच प्रातिशाख्य **स्वर-भक्ति** या **स्वर-खण्ड** के अन्तर्निदेश का विधान करते हैं । दे० अ० प्रा० १-१०२,-२, टिप्पणी ।

ई—कुछ वैयाकरण इस अन्तर्निदेश को केवल सोष्म ध्वनि से पूर्व मानते हैं; अन्य सोष्म के पूर्व इसे किसी दूसरे व्यंजन के पूर्ववाले से द्विगुण दीर्घत्व प्रदान

करते हैं, अर्थात् आधी या चौथाई मात्रा पहले में, तो चौथाई या एक-आठवीं दूसरे में। एक (वा० प्रा०) इसे र् की तरह ल् के बाद में भी मानता है। यह स्वर अ के या ऋ (या लृ) के खण्ड-जैसा विभिन्न रूप से वर्णित है।

उ—ऋ० प्रा० सघोष व्यंजन और परवर्ती स्पर्श या सोष्म के मध्य भी **स्वर-भक्ति** का विधान करता है; और अ० प्रा० कण्ठ्य और अन्य वर्ग के अनुगत स्पर्श के बीच **स्फोटन** (भेदक) नामक एक अंश की योजना करता है।

ऊ—इनसे भी अधिक संदिग्ध सारता वाले एक या दो अन्य प्रकारों के लिए प्रातिशाख्यों को देखिये।

२३१—अनुनासिक के बाद दो निरनुनासिक स्पर्शों में से एक लुप्त हो सकता है, चाहे वह केवल अनुनासिक का समरूप हो या दोनों का। इस प्रकार **युङ्ग्धि** के लिए **युङ्धि**, **युङ्ग्ध्वम्** के लिए **युङ्ध्वम्**, **अङ्क्तम्** के लिए **अङ्तम्**, **पङ्क्ति** के लिए **पङ्ति**, **छिन्त्ताम्** के लिए **छिन्ताम्**, **भिन्त्थ** के लिए **भिन्थ**, **इन्द्धे** के लिए **इन्धे**।

अ—यह संक्षेपण, जो पाणिनि द्वारा वैकल्पिक माना गया है, अ० प्रा० के अनुसार नित्य है (अन्य प्रातिशाख्य इसका उल्लेख नहीं करते हैं)। ऐसा पाण्डु-लिपियों का अधिक साधारण प्रचलन है, यद्यपि पूर्ण संयुक्त भी बहुधा लिखा जाता है।

२३२—सामान्यतया द्वि-व्यंजन (अल्पप्राण के पूर्वयोग से द्विगुणित महाप्राण को लेकर) अन्य किसी व्यंजन में संयोग में एकल की तरह पाण्डुलिपियों में लिखा जाता है।

अ—या यों कहें, उन संयुक्तों के, जहाँ ध्वनि-जन्य द्वित्व ऊपर दिये गये नियमों (२२८, २२९) के अनुसार विहित है, और उनके, जहाँ द्वित्व व्युत्पत्ति-मूलक है, बीच किसी तरह का भेद पाण्डुलिपियों की सामान्य पद्धति में उपलब्ध नहीं होता है। चूँकि स्वर के बाद प्रत्येक त्व् यथार्थतः त्त्व् जैसा भी लिखा जा सकता है, **दत्त्वा** और **तत्त्वं दत्वा** और **तत्वं**-जैसे लिखे जा सकते हैं, और प्रायः नित्य लिखे जाते हैं। चूँकि **कर्त्तन** शुद्ध रूप में **कर्तन** भी है, (**कृत्ति**) से **कार्त्तिक कार्तिक**-जैसा लिखा जाता है। इसलिए रूप-विधान में हमें, उदाहरण स्वरूप **मज्जन्** से सब समय **मज्ञा** प्रभृति प्राप्त होते हैं, **मज्ज्ञा** नहीं। समास और वाक्य-संस्थिति में भी उसी प्रकार के संक्षेपण होते हैं, यथा **हृद्द्योत** की जगह **हृद्योत**, **छिनत्त्यस्य** के लिए **छिनत्यस्य** अतः लिखित प्रयोग के साक्ष्य से निश्चित करना असंभव है कि हम (√**आस्** से) हम मध्यम० बहु० रूप

आध्वम् को मानें या **आद्ध्वम्** को, (√**द्विष्** से) **अद्विढ्वम्** को या **अ॑द्विड्ढ्वम्** को।

२३३—क्रमशः य् या व् के पूर्व इ या उ के प्रत्यक्ष लोप (संभवतः अन्तःस्थ में परिवर्तन के अन्तर) के उदाहरण कभी-कभी मिलते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणों में परवर्ती **वैँ** प्रभृति के साथ **तु॑** और **नु॑** बहुधा **त्वैँ**, **न्वैँ** (**त्वा॑व**, **अन्वै** भी) बनाते हैं; और प्राचीनतर भाषा से अन्य उदाहरण हैं :—**अन्वर्त्** (अनु + √**वर्त्**); **पर्यन्**, **पर्यन्ति**, **पर्यायात्**, **परायण**, (**परि + यन्**, प्रभृति), **अभ्य॑र्ति** (**अभि + इयर्ति**); **अन्तर्यात्** (**अन्तर + इयात्**); **चार्वाच्**, **चार्वाक**, **चार्वदन** (**चारु + वाच**, प्रभृति); **कियन्त्** के लिए **क॑यन्त**; **द्व्योग** (**द्वि + योग**); **अन्वा**, **अन्वासन** (**अनु + वा**, प्रभृति); संभवतः **वियुनोति** (ऋ० वे०) के लिए **व्युनोति**, **उर्वशी** (**उरु — वशी**), **शिंश्वरी शिशु–वरी** (ऋ० वे०) के लिए, **व्याम॑** (**वि + याम**); और उत्तरकालिक **स्वर्ण सुवर्ण** के लिए। अपेक्षाकृत अधिक असंगत संक्षेपण **तृच॑** (**त्रि + ऋच**), **द्वृच** (**द्वि + ऋच**, सू०) और **त्रेणी** (**त्रि + एनीः** आपस्त०) जैसे सामान्य प्रयोग है।

इनके अतिरिक्त सिन्-ध्वनि के लोप के कुछ प्रयोगों का विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

आ—भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार स्–लुङ् का स् ह्रस्व स्वर के बाद मध्यम० और अन्य० आत्मनेपदी एक० में लुप्त हो जाता है। यथा—**अदिधास्** और **अदित** (उतम० एक० **अदिषि**), **अकृथस्** और **अकृत** (उत्तम० ए० **अकृषि**)। तथापि यह संभव है कि ये प्रयोग विभिन्न ढंग से व्याख्येय हों : दे० ८३४ अ।

इ—**उद्** उपसर्ग से युक्त **स्था** और **स्तम्भ** धातुओं के सभी संयोगों में स्पर्शों के मध्य का स् लुप्त हो जाता है यथा—**उ॑त्थुस्**, **उ॑त्थित**, **उ॑त्थापय**, **उ॑त्तब्ध** इत्यादि।

ई—इसी प्रकार की अन्य अवस्थाओं में भी वैसा लोप यदा-कदा देखा जाता है। उदाहरणार्थ, **चित् क॑म्भनेन** (**स्क॑म्भ**-के लिए, ऋ० वे०); **तस्मात् तुते** (**स्तुते** के लिए) और **पुरोरुक् तुत** (**स्तुत** के लिए, काठ) सामासिक **ऋक्था** (**ऋक् + स्था**, पंचविंश ब्रा०) और **उत्फुलिङ्ग**; व्युत्पादित शब्द **उत्फाल** (√**स्फाल्**)। दूसरी ओर **विद्यु॑त् स्तनयन्ती** (ऋ० वे०), **उत्स्थल**, **ककुत्स्थ**, प्रभृति हमें प्राप्त हैं।

उ—इसी प्रकार धातु के अन्त्य व्यंजन के बाद स्-लुङ् का काल-चिह्न तिङ् प्रत्यय के आदि व्यंजन के पूर्व लुप्त हो जाता है। यथा—**अछान्त** (और इसके लिए, २३१ द्वारा, **अछान्त**) **अछान्त्स्त** के लिए, **शाप्त शाप्स्त** के लिए, **ताप्ताम् ताप्स्ताम्** के लिए, **अभाक्त अभाक्स्त** के लिए, **अमौक्तम् अमौक्स्तम्** के लिए। ये मात्र उद्धरणीय प्रयोग हैं, तुलनीय ८८३।

ऊ—कुछ स्थलों में धातु या काल-मूल का अन्त्य स् सघोष महाप्राण के बाद लुप्त हो जाता है, और स्पर्शों का संयोग तब इस प्रकार होता है जैसा कि मध्य में कोई सिन्-ध्वनि कभी नहीं थी। यथा, √**घस्** धातु से, प्रथमतः स्वर के और तदनन्तर अन्त्य स् के लोप होने पर रूप **ग्ध** (**घ्स्-त** के लिए, अन्य० एक० आत्मने०), कृदन्त क्रिया रूप—**ग्ध** (**अग्धाद्** में), और व्युत्पन्न शब्द **ग्धि** (**घ्स्-ति**; **सग्धि** में) हमें मिलते हैं; और पुनः हम √**जक्ष्** या उसी धातु के साभ्यास रूप से **जग्ध, जग्धुम्, जग्ध्वा, जग्धि,** (**जघ्स-त्** प्रभृति से) पाते हैं; साथ ही, इसी प्रकार **भस्** के अभ्यास **बप्स्** से रूप **बब्धाम्** (**बभ्स्-ताम्** के लिए) भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार धातु की अन्त्य सघोष महाप्राण-ध्वनि के बाद लुङ् चिह्न स् का तथाविध सर्वथा लोप त् या थ् से आरम्भ होनेवाले तिङ्-प्रत्यय से पूर्व होता है। यथा—**रुध्** के परस्मै० अरौत्स् और आत्मने० अरुत्स् स् लुङ् मूल से परस्मै० द्वि० और बहु० **अरौद्धम्** और **अरौद्धाम्** और **अरौद्ध,** तथा आत्मने० एकव० पुरुष रूप **अरुधास्** और **अरुद्ध** जैसे रूप निष्पन्न होते हैं। किन्तु परस्मै० रूपों में से कोई भी प्राचीन अथवा अर्वाचीन साहित्य में प्रयुक्त नहीं मिलता है; और आत्मने० रूपों के लिए भी एक भिन्न व्याख्या संभव है। देखिए ८३४, ८८३।

सबलीकरण और दुर्बलीकरण प्रक्रियाएँ

२३४—इस शीर्ष के अन्तर्गत हम प्रथमतः उन परिवर्तनों को प्रस्तुत करेंगे जो स्वरों को प्रभावित करते हैं, और तदनन्तर उनको, जो व्यंजनों को प्रभावित करते हैं, साथ ही, सुविधा के लिए प्रत्येक अवस्था में स्वर और व्यंजन तत्त्वों का संक्षिप्त विवेचन किया जायेगा, जो संयोजकों की प्रत्यक्ष प्रकृति लेकर आये हैं।

गुण और वृद्धि

२३५—गुण और वृद्धि संज्ञावाले परिवर्तन स्वर-परिवर्तनों में सर्वाधिक प्रयुक्त और सामान्य हैं, रूप-विधान और प्रत्ययविधान दोनों में इनकी प्राप्ति निरन्तर होती है।

अ—**गुण-स्वर** (**गुण**-अनुषंगी गुण) अनुरूपी सरल स्वर से पूर्वाश्लिष्ट अ-अंश को लेकर भिन्न होता है, जो सामान्य नियमों के अनुसार अन्य से संयुक्त रहता है, **वृद्धि स्वर** (**वृद्धि,** प्रौढता, वर्धन) गुण-स्वर में अ के विशेष पूर्वयोग से प्राप्त हैं। यथा—इ या ई का अनुरूपी गुण (अ + ई =) ए होता है; तदनुरूपी वृद्धि (अ + ए =) ऐ। किन्तु सभी गुण-प्रक्रियाओं में अ अपरिवर्तित बना रहता है—अथवा, जैसा कि कभी कहा जाता है, अ इसका निजी गुण है, वस्तुतः आ गुण और वृद्धि दोनों में अपरिवर्तित रहता है।

२३६—इसलिए तदनुरूपी स्थितियों की श्रेणियाँ निम्नलिखित होती हैं :—

सरल स्वर	अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ऌ
गुण	अ	आ	ए		ओ		अर्	अल्
वृद्धि		आ	ऐ		औ		आर्	

अ—कहीं भी ॠ का प्रयोग ऐसी स्थिति में नहीं मिलता जहाँ गुण या वृद्धि परिवर्तन हुआ हो। ऌ (२६) में भी वृद्धि विषयक परिवर्तन कभी प्राप्त नहीं है। सिद्धान्ततः ॠ में भी ऋ के तुल्य ही परिवर्तन होना चाहिए; और ऌ की वृद्धि आल् होगी।

आ—तद्धित प्रत्ययान्तों में जहाँ प्रथम अक्षर की वृद्धि अपेक्षित है (१२०४), गो का ओ (३६१ इ) गौ जैसा सबलीकृतरूप प्राप्त करता है। यथा—**गौमत, गौष्ठिक**।

२३७—प्रत्येक स्वर-श्रेणी के अवयवों के ऐतिहासिक संबंध अभी तक मत-भेद के विषय बने हुए हैं। संस्कृत के विशिष्ट दृष्टिकोण से सरल स्वर साधारणतः मूल या स्वतंत्र स्वरों के लक्षण सम्पन्न लगते हैं, और दो विभिन्न स्थितियों में अन्य अपने वर्धन या सबलीकरण के परिणाम-स्वरूप—फलतः निर्माण के नियमों के अनुसार विशिष्ट अवस्थाओं में अ, इ, उ, ऋ, ऌ क्रमशः गुण या वृद्धि में प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु ऋ का विकास पूर्वतर अर् (या र) से संक्षेपण या दुर्वली-करण के चलते स्पष्टतः चिरकाल से प्राप्त है, इसलिए बहुत-से यूरोपीय व्याकरण-शास्त्री गुणरूपों को मूल और अन्यरूपों को व्युत्पन्न मानने के पक्ष में हैं। इस प्रकार, उदाहरण-स्वरूप, **भृ** और **वध्** को धातुओं के रूप में लेने, और उस नियम के अनुसार जिससे **भू** और **नी** के तथा **बुध्** और **चित्** के **भवति** और **नयति, बोधति** और **चेतति, भूत** और **नीत, बुद्ध** और **चित** रूप होते हैं, **भरति** और **वर्धति,** तथा **भृत** और **वृद्ध** रूप बनाने के बजाय, वे **भर्** और **वर्ध्** को ही धातु मानते हैं, और इनके लिए रूप-निर्माण के नियम व्यतिक्रमित

विधि से देते हैं। इस ग्रन्थ में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है (१०४ उ), ऋ रूप ही मान्य है।

२३८—गुण-विकार भारत-यूरोपीय तत्त्व है, और बहुत अवस्थाओं में यह वर्धित अक्षर के स्वराघात से संबद्ध होकर आता है। इसकी प्राप्ति होती है :—

अ—धात्वक्षरों में; या तो रूपविधान में, यथा—√द्विष् से द्वेष्टि, √दुह् से दोह्मि, या प्रत्यय-विधान में, यथा—द्वेष दोहस्, द्वेष्टुम् दोग्धुम्।

आ—रूपात्मक अवयवों में; क्रियारूप के गणचिह्न, यथा—तनु से तनोमि, अथवा व्युत्पत्तिप्रत्यय, रूपविधान में या विशेष व्युत्पत्ति-विधान में, यथा—मति से मतये, भानु से भानवस्, पितृ (या पितर) से पितरम्, हन्तु से हन्तव्य।

२३९—वृद्धि-विकार भारतीय वैशिष्ट्य है, और इसका प्रयोग, अपेक्षाकृत कम सामान्य और नियमित है। यह प्राप्त होता है :—

अ—धातु और प्रत्ययाक्षरों में, गुण की जगह—यथा, √स्तु से स्तौति, सखि से सखायम्, √नी से अनैषम्, √कृ (या कर्) से अकार्षम् और कारयति और कार्य, दातृ (या दातर्) से दातारम्।

आ—विशेष रूप से बहुधा तद्धित प्रत्यय-विधान में आदि अक्षरों में, यथा मनस् से मानस, विद्युत् से वैद्युत, भूमि से भौम, पृथिवी से पार्थिव (१२०४)। किन्तु—

२४०—व्यंजनान्त गुरु अक्षर में गुण-विकार सामान्यतया नहीं होता है, अर्थात् प्रत्यय-विधान और रूप-विधान की प्रक्रियाओं में गुण विधायक नियम "स्थान लेकर दीर्घ" होने वाले ह्रस्व स्वर में अथवा अपदान्त दीर्घ स्वर में लागू नहीं होते हैं। यथा, √चित् से चेतति, किन्तु √निन्द् से निन्दति, √नी से नयति, किन्तु √जीव् से जीवति।

अ—वृद्धि-विकार के लिए यह प्रतिबन्ध नहीं है।

आ—नियम के अपवाद यदा-कदा प्राप्त होते हैं—यथा, √ईह् से एह, एहस्, √ह्रीड् से हेडयामि, हेडस्, प्रभृति; √चूष् से चोष, प्रभृति; √ऊह् मानना से ओहते; विशेषतः ईव् अन्तवाली धातुओं से—√दीव् से दिदेव, देविष्यति; देवन, आदि; √ष्ठीव् से तिष्ठेव; √स्रीव् से स्रेवयामि, स्रेवुक—

निस्संदेह यही कारण है कि भारतीय वैयाकरण इन धातुओं को इव् (**दिव्** प्रभृति) से लिखते हैं, यद्यपि क्रियारूपों या साधितरूपों में से कहीं इनमें ह्रस्व इ नहीं पाया जाता।

इ—कुछ स्थलों में वर्धन की बजाय दीर्घता प्राप्त है, यथा, **दुष्** से **दूषयति**, **गुह्** से **गूहति**।

ई—१ ऋ (अपेक्षाकृत अधिक मौलिक अर् या र) के परिवर्तन इतने विभिन्न होते हैं कि इनका विशेष वर्णन अपेक्षित हो जाता है।

२७१—ऋ के वर्धन कभी-कभी अर् और आर् के स्थान में र् और रा होते हैं; यथा, विशेष रूप से जहाँ इस प्रकार के उत्क्रमण से व्यंजनों के क्लिष्ट संयोग का परिहार किया जाता है। यथा, √**दृश्** से **द्रक्ष्या॑मि** और **अ॑द्राक्षम्**; साथ ही **पृथु॑** और **प्रथ्**, **पृछ्** और **प्रछ्**, **कृपा॑** और **अ॑क्रपिष्ट**।

२४२—ॠ अन्त वाली अनेक धातुओं (प्रायः एक दर्जन उद्धरणीय) में ॠ का प्रत्यावर्तन अर् और अपेक्षाकृत विशेष अनियमित ढंग से इर्, दोनों में अथवा उर् में भी (विशेषतः ओष्ठ्य ध्वनि से परे **पॄ**, **मॄ**, **वॄ**, में, विकीर्ण रूप से अन्य धातुओं में) होता है, ये इर् और उर् पुनः ईर् और ऊर् में दीर्घत्व प्राप्त करते हैं। उदाहरणार्थ, इस प्रकार **तॄ** (अथवा **तर्**) से **तरति**, **तितर्ति**, **ततार**, **अतारिषम्** हमें नियमित विधियों से मिलते हैं, किन्तु **तिरति**, **तीर्यति**, **तीर्त्वा**, **तीर्य**, **तीर्ण** और साथ ही (वे०) तुर्यामि, तुतुर्यात्, तर्तुराण भी उपलब्ध हैं। ऐसी धातुओं के विकास का वर्णन प्रत्येक रूप-निर्माण के प्रसंग के अपेक्षित है।

अ—विकास के इस वैशिष्ट्य को कृत्रिम रूप से निर्दिष्ट करने के उद्देश्य के लिए भारतीय वैयाकरण उन धातुओं को दीर्घ ॠ से अथवा ऋ और ॠ दोनों से लिखते हैं—वस्तुतः उनके रूपों में कहीं ॠ नहीं आता है।

आ—(उद्धरणीय) ॠ अन्त वाली धातुएँ होती हैं—२ **कॄ** बिखेरना, १ **गॄ** गाना, २ **गॄ** निगलना, १ **जॄ** जर्जर होना, **तॄ**, १ **शॄ** कुचलना।

इ—(उद्धरणीय) ऋ और ॠ अन्त वाली धातुएँ हैं—१ **दॄ** छेदना, १ **पॄ** भरना, १ **मॄ** मरना, २ **वॄ** चुनना, **स्तॄ**, **ह्वॄ**।

ई—इनके तुल्य रूप कभी-कभी अन्य धातुओं से भी निर्मित होते हैं। यथा—√**चर्** से **चीर्ण**, **चीर्त्वा**, **चर्चूर्य**; √**स्पृध्** से **स्पूर्धन्** और **स्पूर्धसे**।

२४३—कुछ प्रयोगों में अर् और र से भिन्न अन्य अक्षरों के संकोच से ऋ प्राप्त होता है। यथा **रि** से, **तृत** और **तृतीय** में; **रु** से, **शृणु** में, **रू** से, **भृकूटि** में।

स्वर-दीर्घीकरण

२४४—स्वर-दीर्घीकरण विशेषतः इ और उ से संबद्ध है, क्योंकि अ का दीर्घीकरण आंशिक रूप में (इ और उ के दीर्घ रूप के स्पष्ट सादृश्य के आधार पर प्राप्त स्थलों को छोड़कर) अपने वृद्धिविकार से अभिन्न है, और ऋ केवल ऋकारान्त प्रातिपदिकों (अथवा अर् अन्त वालों, ३६९ मु० वि०) के कुछ बहुवचन विभक्तिरूपों में ही दीर्घ होता है। दीर्घीकरण वृद्धि की अपेक्षा अत्यधिक अनियमित और विकीर्ण परिवर्तन है, और इसकी अवस्थाएँ रूपविधान और प्रत्यय-विधान की प्रक्रियाओं के प्रसंग में सामान्यतः उल्लिखित होंगी। यहाँ इनमें से कुछ की चर्चा की जायगी।

२४५—अ—य् से पूर्व धातुमूलक अन्त्य इ और उ विशेष रूप से दीर्घ बन जाते हैं : यथा, कर्मवाच्य और भाववाच्य में तथा पूर्वकालिक क्रियारूप में और अन्यत्र।

आ—पुरुषवाची प्रत्ययों के व्यंजनों को छोड़कर अन्य सभी व्यंजनों से पूर्व धातुमूलक अन्त्य इर् और उर् (परिवर्तनशील ऋदन्त धातुओं से, २४२) दीर्घ हो जाते हैं, अर्थात् य् और त्वा और न से पूर्व :—और शब्द-रूप में भ् और स् (३९२) से पूर्व। धातुमूलक इस् का भी तुल्य दीर्घत्व शब्द-रूप में प्राप्त है (३९२)।

२४६—पूरक दीर्घ-रूप या स्वर द्वारा परवर्ती लुप्त व्यंजन के काल का निर्देश सर्वथा असाधारण है। इसके कुछ उदाहरण ऊपर (१७९, १९८ इ, ई, १९९ ई, २२२ आ) दिये गये हैं। संभवतः **पितर्स्** के लिए **पिता** (३७१ अ) और **धनिन्स्** के लिए **धनी** (४३९) दोनों प्रयोग यहाँ इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

२४७—समास के पूर्वपद का अन्त्य स्वर बहुधा, विशेष रूप से वेद में, दीर्घ बना दिया जाता है। अन्त्य अ के, और व् के पूर्ववर्ती के, दीर्घीकरण अत्यधिक प्राप्त हैं, किन्तु प्रत्येक प्रकार की अवस्थाएँ उपलब्ध होती हैं। उदाहरण हैं—**देवावी, वयुनाविद्, प्रावृष, ऋतावसु, इन्द्रावन्त्, सदनासद्, शतामघ, विश्वानर, एकादश; अपीजू, परीणह्, वीरुध्, तुवीमघ, त्विषीमन्त्, शक्तीवन्त्; वसूजू, अनूरुध्, सूमय, पुरूवसु।**

२४८—वेद में शब्द का अन्त्य स्वर—सामान्यतः अ, अपेक्षाकृत बहुत कम समय इ और उ—प्रयोगों की एक बड़ी संख्या में दीर्घीकृत है। साधारणतः दीर्घीकरण छन्द के अनुरोध से होता है, किन्तु यदा-कदा उस स्थल में भी, जहाँ

छन्द परिवर्तन के प्रतिकूल पड़ता है (विस्तार के लिए, विभिन्न प्रातिशाख्यों को देखिए) ।

जिन शब्दों का अन्त्य इस प्रकार विकसित है, वे हैं :—

अ—अव्यय, यथा—अ॑था, अ॑धा, एवा॑, उता॑, घा॑, हा, इहा॑, इवा॑, चा॑, स्मा, ना॑, अङ्गा॑, कि॑ला, अ॑ला, य॑त्रा, त॑त्रा, कु॑त्रा, अन्य॑त्रा, उभय॑त्रा, अद्या॑, अ॑च्छा, अ॑पा, प्रा॑; अ॑ती, नी॑, य॑दी, नही॑, अभी॑, वी॑; ऊ, तू॑, नू॑, सू॑, मक्षू॑ ।

आ—विभक्ति-रूप—विशेषत: तृ० एक० यथा—एना॑, ते॑ना, ये॑ना, स्वे॑ना, इत्यादि; विरलभाव से षष्ठी एक०, यथा— अस्या, हरिणस्या । इनको छोड़कर अन्य विभक्त-प्रयोग बहुत कम हैं, यथा सि॑मा, वृषमा, हरियोजना (संबो०) तन्वी॑ (सप्तमी०), और उरू॑ तथा (विरले नहीं) पुरू॑ ।

इ—अ-अन्तवाले क्रिया-रूप बहुसंख्यक और विविध—यथा (प्रायः इनके तुलनात्मक पुनरावर्तन के क्रम में), मध्यम० एक० लोट परस्मै० जैसे—**पिवा, स्या, गमया, धार॑या,**—मध्यम० बहु० परस्मै०त और थ में, जैसे **स्था, अत्ता, बिभृता, जयता, शृणुता, अनदता, नयथा, जीवयथा** (और एक या दो तन में—**अविष्टना, हन्तना**);—उ० बहु० परस्मै० म्र में, जैसे—**विद्मा, रिषामा, ऋध्यामा, रुहेमा, वनुयामा, चकृमा, ममृंज्मा;**—मध्यम० एक० लोट् आत्मने० स्व में, जैसे—**युक्ष्वा, इडिष्वा, दधिस्वा वहस्वा;**—उ० और अन्य० एक० लिट् परस्मै० जैसे—**वेदा, विवेशा, जग्रभा;**—मध्यम० एक० लिट् परस्मै० य **वेत्था;**—मध्यम० बहु० लिट् परस्मै० **अनजा, चक्रा ।** इ में अन्त होने वाले क्रिया-रूपों में केवल मध्यम० एक० लोट् परस्मै० यथा—**कृधी, कृणुही॑, क्षिधी॑, श्रुधी, शृणुधी, शृणुही, दीदिही, जही ।**

ई—य अन्त वाले पूर्वकालिक रूप को (९९३ अ) इनमें सम्मिलित किया जा सकता है, यथा—**अभिगू॑र्या, आ॑च्या** ।

स्वर-लघूकरण

२४९—भाषा की रूपनिर्माण-विधियों में ऋ या अर् अन्त वाली धातुओं को छोड़कर (यथा ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है) अन्यत्र इ या उ स्वर में ह्रस्व अ का परिवर्तन केवल एक विकीर्ण तत्त्व है ।

२५०—किन्तु दीर्घ आ का लघूकरण विशेषत: इ-स्वर में (यथा इसका लोप भी) एक सामान्य विधि है, अन्य कोई स्वर इतना अस्थिर नहीं है ।

अ—(धातुओं के **क्री**-गण के, ७१७ मु० वि०) गण चिह्न ना का आ दुर्बल रूपों में ई का रूप धारण कर लेता है, और स्वर-तिङ्-प्रत्ययों से पूर्व यह

पूर्णतः लुप्त हो जाता है। कुछ धातुओं के अन्त्य आ का विकास इसी प्रकार होता है, यथा—**मा, हा,** प्रभृति (६६२-६)। पुनः कुछ धातुओं में आ–और ई–या इ–रूप इस प्रकार परस्पर बदल जाते हैं कि इनका वर्गीकरण अथवा धातु के वास्तविक लक्षण का निर्धारण करना कठिन है।

आ—कुछ क्रियारूपों में धातुमूलक आ संयोजन-स्वर के अनुरूप दुर्बलीकृत हो जाता है, यथा—**√दा** प्रभृति से लिट् **ददिम** (७९४ क); **√धा** प्रभृति से लुङ् **अधिथास्** (८३४), **√हा** प्रभृति से लट् **जहिमस्** (६६५)।

इ—कतिपय साभ्यास रूपों में धातुमूलक आ मूल अ के अनुरूप ह्रस्वीकृत है, यथा—**तिष्ठ, पिब, दद,** प्रभृति (द्रष्टव्य ६७१–४), साथ ही कुछ लुङ् रूपों में जैसे—**अ॑ह्वम्** , **अ॑ख्यम्** , इत्यादि, देखिए ८४७।

ई—धातुमूलक आ कभी-कभी, विशेष रूप से य् के पूर्व, ए में परिवर्तित हो जाता है। यथा—**स्थेयासम्** , **देय।**

२५१—कुछ धातुओं को भारतीय वैयाकरणों ने ए या ऐ या ओ अन्त वाली धातुओं के रूप में दिया है, क्योंकि उनमें, विशेष रूप से उनके वर्तमान-मूल के निर्माण में, ई और इ रूपों के साथ विशेष विनिमय प्राप्त है। इस प्रकार २ **धा** (**धे**) स्तनपान करना से लट् **ध॑यति** और कृदन्त क्रियारूप और पूर्वकालिक क्रियारूप **धीत॑ धीत्वा॑** निष्पन्न हैं; **धा** के अन्य रूप जैसे **दधुस्** , **अधात्** , **धास्यति, धा॑तवे, धापयति** बनते हैं। २ **गा** गाना (गै) से लट् **गा॑यति,** कृदन्त-क्रियारूप और पूर्वकालिक रूप **गीत॑** और **गीत्वा॑**, और कर्म-भाववाच्य रूप **गीय॑ते** और **गा** के अन्य रूप होते हैं। ३ दा (दो) काटना से लट् **द्य॑ति** और कालवाची कृदन्त क्रियारूप **दित॑** या **दिन॑** और दा के अन्य रूप आते हैं। इन धातुओं की अनियमितताओं का उल्लेख नीचे विभिन्न रूप-निर्माणों में होगा (दे० विशेष रूप से ७६१ मु० वि०)।

२५२—ऋ में अर् या र के संक्षेपण के मुख्यतः तुल्य संक्षेपण की विधि द्वारा अनेक धातुओं का (सामान्यतया आदि) व उ हो जाता है, और अपेक्षाकृत खूब कम धातुओं का य इ हो जाता है। यथा—**वच्** से **उवा॑च, उच्या॑सम्** , **उक्त्वा॑, उक्त॑, उ॑क्ति, उक्थ॑,** इत्यादि होते हैं, **यज्** से **इया॑ज, इज्या॑सम्** , **इष्ट्वा॑, इष्ट॑, इ॑ष्टि,** आदि रूप प्राप्त होते हैं। नीचे देखिए, विभिन्न रूप निर्माणों के अन्तर्गत।

अ—इस परिवर्तन के लिए यूरोपीय विद्वान् देशी व्याकरण में प्रयुक्त पद के अनुकूलन पर संप्रसारण नाम देते हैं।

२५३—धातु का अथवा अन्त-प्रत्यय का ह्रस्व अ दुर्बलीकृत अक्षरों में व्यंजनों के बीच बहुधा लुप्त हो जाता है। यथा क्रिया-रूपों में—घ्नन्ति, अपप्तन्, जग्मुस्, अज्ञत; संज्ञा रूपों में—सज्ञे, राज्ञि।

२५४—संयोजन-स्वर—कुछ अवस्थाओं में सभी सरल स्वर पद-विधान अथवा प्रत्ययान्त शब्दविधान के अन्त्य प्रत्यय और धातु या मूल के बीच अन्तर्निदेशों या संयोजन-स्वरों के स्वरूप का ग्रहण करते हैं।

अ—यह लक्षण अत्यधिक समय इ में प्राप्त होता है, जिसका प्रयोग बहुत व्यापक है (१) लुङ्, लृट् और सन्नंत मूलों के स् से पूर्व, यथा—अजीविषन्, जीविष्यामि, जिजीविषमि; (२) काल-रूपविधान में, विशेषतः लिट् में, यथा—जिज्ञीविम, यदा-कदा लट् में भी, यथा—अनिति, रोदिति; (३) प्रत्यय विधान में, यथा—जीवित, खनितुम्, जनितृ, रोचिष्णु, इत्यादि।

आ—कभी-कभी ह्रस्व के स्थान में दीर्घ ई प्रयुक्त होता है। यथा—अग्रहीषम्, ग्रहीष्यामि; ब्रवीति, वावदीति; तरीतृ, सवीतृ; क्रियाओं के मध्यम० और अन्य० एकवचन के स् और त् के पूर्व भी यह बहुधा रखा जाता है—यथा, आसीस्, आसीत्।

इ—इनके सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिए, और इस प्रकार के स्वरूप में उ और अ-स्वरों के अपेक्षाकृत अधिक अनियमित और विकीर्ण प्रयोगों के लिए, दे० नीचे।

नासिक्य वृद्धि

२५५—धातुओं और प्रत्ययों—दोनों में परवर्ती व्यंजन के पूर्व अनुनासिक स्पर्श अथवा अनुस्वार, नासिक्य तत्त्व की उपस्थिति या अनुपस्थिति को लेकर सबलतर और दुर्बलतर रूपों का भेद बहुधा किया जाता है। सामान्यतया सबलतर रूप निश्चित रूप से अधिक मौलिक होता है, किन्तु भाषा की वर्तमान स्थिति में रूपात्मक और प्रत्ययात्मक विधियों में अवस्था-विशेष के चलते प्रयुक्त वास्तविक सबल विधायक तत्त्व की प्रतीति नासिक्य से ही बहुत अंशों में होती है, और कुछ अंशों में नासिक्य का वैसा प्रयोग भी हुआ है।

उदाहरण होते हैं :—धातुओं के, अच्, और अञ्च्, ग्रथ् और ग्रन्थ्, विद् और विन्द्, दश् और दंश्, स्रस् और स्रंस्, दृह् और दृंह्। प्रत्ययों के, भरन्तम् और भरता, मनसी और मनांसि।

२५६—जहाँ दुर्बलतर रूप अपेक्षित है, वहाँ अन्त्य न्, चाहे वह प्रातिपदिक का हो या धातु का, अन्य किसी व्यंजन की अपेक्षा अधिक अस्थिर होता है।

यथा—**राजन्** से **राजा** और **राजभिस्**, और समास में **राज; धनिन्** से **धनी** और **धनिभिस्** और **धनि;** √**हन्** से **हथ** और **हत**, इत्यादि। धातुमूलक अन्त्य म् का विकास इसी तरह देखा जाता है। यथा—√**गम्** से **गहि, गतम्, गत, गति**।

२५७—आगम न्—दूसरी ओर स्वरों के मध्य में आने वाले संयोजन-व्यंजन के रूप में अनुनासिक न् का प्रयोग अत्यधिक हुआ है, और यह प्रयोग भाषा के उत्तर काल में बढ़ता ही गया है। यथा—**अग्नि** से **अग्निना** और **अग्नीनाम्, मधु** से **मधुनस्, मधुनो, मधूनि; शिव** से **शिवेन, शिवानि, शिवानाम्**।

२५८—आगमरूप य्। अ—धातु के अन्त्य आ के बाद य् स्पष्टतः संयोजन-व्यंजन मात्र के रूप में अन्य स्वर से पूर्व बहुधा आता है। यथा, रूप विधान में **अधायि**, प्रभृति, (८४४), **शाययति**, प्रभृति (१०४२), **शिवायास्**; प्रभृति (३६३ इ), **गायति**, इत्यादि (७६१ उ); पुनः प्रत्यय-विधान में,—गाय,—यायम्, दायक, प्रभृति;—स्थायिक; **पायन**,—गायन; **धायस्**,—हायस्; स्थायिन् प्रभृति (अनेक प्रयोग);—हितायिन्,—ततायिन्; स्थायुक।

आ—आगम रूप य् के अन्य अधिक विकीर्ण प्रयोग—यथा सर्वनाम-रूपों में अयम्, इयम्, वयम्, यूयम्, स्वयम्; और विधिलिङ् रूपविधान में स्वर से आरम्भ होने वाले तिङ् प्रत्यय से पूर्व (५६५)—नीचे अपने प्रसंग में निर्दिष्ट होंगे।

द्वित्व

२५९—जातु का द्वित्व (निस्संदेह अपनी पूर्ण आवृत्ति से ही उत्पन्न होने वाला) विभिन्न रूप-प्रक्रियाओं में धातुमूलक वृद्धि अथवा सबलीकरण की विधि बनकर आता है। यथा—

अ—लट्मूल के निर्माण में (६४२ मु० वि०)—यथा, **ददामि, बिभर्मि;**

आ—लिट्-मूल के निर्माण में, प्रायः नित्य रूप से (७८२ मु० वि०)—यथा, **ततान, दधौ, चकार, रिरेच, लुलोप;**

इ—लुङ् मूल के निर्माण में (८५६ मु० वि०), यथा **अदीधरम्, अचुच्यवम्;**

ई—यङ् प्रत्ययान्त और सन् प्रत्ययान्त के मूल-निर्माण में सर्वत्र (१००० मु० वि०, १०२६ मु० वि०), यथा—**जङ्घन्ति, जोहवीति, मर्मृज्यते; पिपासति, जिघांसति;**

उ—प्रत्ययान्त संज्ञाप्रातिपदिकों के निर्माण में (११४३ उ), यथा—**पप्रि, चर्चर, सासहि, चिकितु, मलिम्लुच**।

ऊ—इन विभिन्न प्रकारों के द्वित्व का विवेचन निजी प्रसंग में नीचे दिया जायगा।

२६०—चूँकि ऊपर निर्दिष्ट सबलीकरण और दुर्बलीकरण के परिवर्तनों के चलते एक ही धातु अथवा प्रातिपदिक रूप-विधान और प्रत्यय-विधान की प्रक्रियाओं में सबलतर और दुर्बलतर रूप के वैशिष्ट्यों को रखता है, इन वैशिष्ट्यों का भेद तथा वर्णन आगे के विवेच्य विषयों का महत्त्वपूर्ण अंश होता है।

अध्याय—४

शब्द-रूप

२६१—शब्द-रूप के सामान्य विषय में संज्ञा, विशेषण और सर्वनाम आते हैं, इन सबों का रूप-विधान मुख्यतः एक ही ढंग से होता है। किन्तु संज्ञाओं और विशेषणों की अनुरूपता इतनी घनिष्ठ है कि इन्हें विवेचन के लिए (अध्याय—५) पृथक् नहीं किया जा सकता है; सर्वनाम, जिनके बहुत से वैशिष्ट्य देखे जाते हैं, स्वतन्त्र अध्याय (७) में समीचीन रूप से वर्णित होंगे; और अंक अथवा संख्या-वाची शब्द भी एक विशिष्ट वर्ग का निर्माण करते हैं, इसलिए इनका स्वतन्त्र निरूपण (अध्याय ६) में अपेक्षित हो जाता है।

२६२— शब्द-रूपों में मुख्यतः कारक और वचन प्राप्त होते हैं; साथ ही उनमें लिंग परिलक्षित होता है—क्योंकि लिंगभेद आंशिक रूप से प्रातिपदिक में ही होते हैं, ये रूप-विधान के परिवर्तनों में पर्याप्त प्राप्त हैं।

२६३—**लिंग**। अन्य प्राचीन भारत-यूरोपीय भाषाओं की तरह यहाँ भी लिंग तीन होते हैं, यथा—पुंलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग; और इनमें ग्रीक और लैटिन के-जैसे विभाजन-नियमों का पालन सामान्य रूप से होता है।

अ—उत्तम और मध्यम पुरुषवाची सर्वनाम (४९१) और चार से ऊपर संख्यावाचक शब्द (४८३) ही ऐसे शब्द हैं जिनमें लिंगभेद का कोई चिह्न नहीं देखा जाता है।

२६४—**वचन**। वचन तीन हैं—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन।

अ—कुछ शब्द केवल बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं; यथा—**दारास्** पत्नी, **आपस्** जल; संख्यावाची द्वि दो केवल द्विवचन होता है; तथा अन्य भाषाओं की तरह यहाँ भी बहुत से शब्द अपने प्रयोग की दृष्टि से केवल एकवचन में प्रयुक्त पाये जाते हैं।

२६५—वचनों के प्रयोगों के विषय में यह उल्लेख करना ही अपेक्षित है कि द्विवचन (अति विरल और विकीर्ण अपवादों के साथ) ठीक उन स्थलों में ही प्रयुक्त हुआ है जहाँ दो वस्तुओं का बोध तर्क संगति लेकर, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से अथवा दो सत्ताओं के मेल से, होता है। यथा—**शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्**—स्वर्ग और पृथ्वी दोनों तुम्हारे लिए मंगलप्रद हों। **दैवं च मानुषं च होतारौ वृत्त्वा**—दिव्य और मानवीय दोनों होताओं का वरण करके; **पथोर्देवयानस्य पितृयानस्य च**—उन दोनों मार्गों का, जो क्रमशः देवों और पितरों की ओर जाते हैं।

अ—द्विवचन का प्रयोग (द्वि दो के बिना) यथार्थतः वहीं होता है जहाँ निर्दिष्ट वस्तुओं का द्वित्व स्पष्टतः जाना जाता है। यथा—**अश्विनौ** दो अश्विन्; **इन्द्रस्य हरी** इन्द्र के दो कुम्नैद घोड़े; किन्तु **तस्य द्वावश्वौ स्तः** उसके दो घोड़े हैं। किन्तु द्विवचन का प्रयोग यदा-कदा विस्तृत रूप में होता है; यथा—**वेदं वेदौ वेदान्** वा एक अथवा दो से अधिक वेदों को; **एकषष्टे शते** दो सौ एकसठ।

२६६—**कारक।** कारक (संबोधन को सम्मिलित कर लेने से) आठ होते हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और सम्बोधन।

अ—यहाँ जिस क्रम में उल्लिखित हुए हैं, वह क्रम भारतीय वैयाकरणों द्वारा इनके लिए मान्य है, तथा पाश्चात्य विद्वान् इनका अनुमोदन करते हैं। कारकों के भारतीय नाम इस क्रम में रखे गये हैं—कर्ता को **प्रथमा** (पहली), कर्म को **द्वितीया** (दूसरी), सम्बन्ध को **षष्ठी** (छठी विभक्ति, विभाग, अथवा कारक) प्रभृति कहते हैं। इस क्रम का उद्देश्य केवल यही है कि वे कारक जो एक या अन्य वचन में अल्पाधिक मात्रा से समान रूप लेकर होते हैं, उन्हें एक दूसरे के बाद रखा जाय; और प्रधान कारक के रूप में कर्ता के प्रथमतः रख देने के बाद इसके अतिरिक्त दूसरा कोई क्रम सम्भव नहीं है जिससे यह उद्देश्य प्राप्त हो सके। सम्बोधन को देशी वैयाकरण दूसरों की तरह विभक्तिरूप नहीं मानते हैं और तथाविध नामकरण नहीं करते हैं; इसको विभक्ति-श्रेणी के अन्त में एकवचन के साथ (जहाँ केवल यह प्रथमा विभक्ति से स्वराघात के अतिरिक्त पृथक् होता है) रखा जायगा।

विभक्तियों के प्रयोगों का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित परिच्छेदों में दिया जाता है:

२६७—**प्रथमा-विभक्ति के प्रयोग।** प्रथमा वाक्य के कर्ता की विभक्ति होती है, अथवा अन्य किसी शब्द की, जो सन्निहित होकर या विधेय बनकर विशेषण के रूप में कर्ता की विशेषता प्रकट करता है।

२६८—एक या दो विशिष्ट रचनाएँ उल्लेखनीय हैं :—

अ—अपने आपको मानने या जताने के अर्थ वाले आत्मनेपदी क्रियारूपों के साथ कर्ता-विधेय द्वितीया विभक्ति रूप कर्म-विधेय के लिए प्रयुक्त होता है। यथा—**सोमम् मन्यते पपिवान्** (ऋ० वे०) वह मानता है कि वह सोमपान करता रहा है; **स मन्येत पुराणवित्** (अ० वे०) वह अपने आपको पुराणों का वेत्ता मान लें; **दुर्गाद् वा आहर्ताऽवोचथाः** (मै० सं०) तूने विपत्ति का उद्धारक बनने का अधिकार किया है; **इन्द्रो ब्राह्मणो ब्रुवाणः** (त० सं०) अपने आपको ब्राह्मण बतलाने वाला इन्द्र; **कत्थसे सत्यवादी** (रामा०) तू अपने को सत्यवादी मानता है। इसी प्रकार "**रूपं कृ**" वाक्यांश के साथ : यथा, **कृष्णो रूपं कृत्वा** (तै० सं०) कृष्णरूप बनाकर (अर्थात् अपने लिए रूप को इस प्रकार बनाकर जैसा कि वह कृष्ण है)।

आ—इति (११०२) के साथ शब्द में, जो वस्तुतः कर्म का विधेय है, साधारणतया प्रथमा विभक्ति होती है। यथा—**स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति** (अ० वे०) जिसको वे स्वर्ग लोक कहते हैं; **तमग्निष्टोम इत्याचक्षते** (ऐ० ब्रा०) इसको लोग अग्निष्टोम कहते हैं; **विदर्भराजतनयां दमयन्तीति विद्धि माम्** (महा० भा०) मुझे दमयन्ती नाम वाली विदर्भ-राजकन्या समझो। **अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्** (मनु०) क्योंकि अज्ञानी को "बाल" कहते हैं, किन्तु मन्त्र देने वाले को "पिता";—इसमें दोनों प्रकार की रचनाएँ सम्मिलित हैं।

इ—द्वितीय संबोधन के स्थान में **च** और लगाकर संबोधन में कर्ताकारक होता है। यथा—**इन्द्रश्च सोमम् पिबतम् बृहस्पते** (ऋ० वे०) हे बृहस्पति, इन्द्र के साथ-साथ तुम दोनों सोमपान करो; **विश्वे देवा यजमानश्च सीदत** (तै० सं०), हे विश्वेदेव और यजमान, आसन ग्रहण करो।

२६९—**द्वितीयाविभक्ति के प्रयोग**। द्वितीया विशेषतः सकर्मक क्रिया के मुख्य कर्म की विभक्ति होती है, अथवा अन्य किसी शब्द की, जो उस कर्म की विशेषता गुणक अथवा समानाधिकरण या कर्मरूप विधेय बनकर द्योतित करता है। कालवाची कृदन्तरूपों और तुमर्थक प्रत्ययान्तों द्वारा वस्तुतः क्रिया की रचना प्राप्त होती है, किन्तु साथ ही, अल्पाधिक मात्रा में कालवाची कृत् प्रत्ययान्तों और तुमर्थ प्रत्ययान्तों के लक्षण वाले अन्य कतिपय प्रत्ययान्त शब्द तथा कभी-कभी संज्ञा और विशेषण भी संस्कृत में इस प्रकार के होते हैं। कुछ उपसर्गों के रहने से द्वितीया होती है। अपेक्षाकृत न्यून कर्म अथवा गति या कार्य के लक्ष्य के रूप में गत्यर्थक और भाषणार्थक क्रियाओं के साथ विशेष रूप से द्वितीया विभक्ति आती है। स्थान, काल या प्रकार के अनुबन्ध के

रूप में यह क्रियाविशेषणवत् अधिक प्रयुक्त होती है, और बहुत-से अव्यय रूप की दृष्टि से द्वितीया विभक्ति वाले होते हैं। एक ही क्रिया के कर्मों के रूप में दो द्वितीया विभक्तियाँ बहुधा प्राप्त होती हैं।

२७०—सकर्मक क्रिया के तथा उसके तुमर्थक प्रत्ययान्तों और कालवाची **कृत्** प्रत्ययान्तों के मुख्य कर्म में प्रयुक्त होने वाली द्वितीया-विभक्ति के निर्देशन की आवश्यकता शायद ही है। एक या दो उदाहरण हैं : **अग्निमीडे** अग्नि को पूजता हूँ; **नमो भरन्त** स्तुति करते हुए; **भूयो दातुमर्हसि** तू और दे सकता है। कर्म की विशेषता बतलाने वाले विधेय शब्दों का उदाहरण होता है : **तम उग्रं कृणोमि तम् ब्रह्माणम्** (ऋ० वे०) उसे मैं उग्र बनाता हूँ, उसे ब्राह्मण बनाता हूँ।

२७१—क्रिया-व्युत्पन्नों, जिनमें क्रियार्थ का स्वरूप कालवाची कृदन्तक्रिया-रूपों की प्रयोगिता लेकर होता है, के अनेक प्रकार प्राप्त होते हैं। यथा :

अ—सन्नन्त मूलों (१०३८) से बने 'उ' अन्त वाले व्युत्पन्न सर्वांशतः वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूपों के लक्षण लिये हुए हैं। यथा—**दमयन्तीमभीप्सवः** (महा०) दमयन्ती को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले; **दिदृक्षुर्जनकात्मजाम्** (रामा०) जनक की पुत्री को देखने का इच्छुक। इसी प्रकार की धातु से आ—अन्त वाली क्रिया-संज्ञा भी कभी-कभी प्राप्त है : यथा—**स्वर्गमभिकाङ्क्षया** (रामा०) स्वर्ग की आकांक्षा से।

आ—इन् अन्त वाले तथाकथित कृदन्तों का भी समान लक्षण प्राप्त होता है : यथा—**माम् कामिनी** (अ० वे०) मुझे प्यार करने वाली; **एनम् अभिभाषिणी** (महा०) इसको पुकारती हुई। श० ब्रा० में स्पष्टतः तद्धित प्रत्ययान्त गर्भिन के साथ ऐसी रचना प्राप्त होती है : यथा—**सर्वाणि भूतानि गर्भ्यभवत्** सब प्राणियों को उसने गर्भ में धारण किया।

इ—उत्तरकालिक भाषा में अक अन्त वाले व्युत्पन्न : यथा—**भवन्तमभिवादकः** (महा०) आपको प्रणाम करने वाला; **मिथिलामवरोधकः** (रामा०) मिथिला को घेरने वाला।

ई—प्राचीनतर भाषा में अधिक समय तृ अन्त वाली संज्ञाएँ, और उत्तरकाल में यौगिक भविष्यद् रूप (९४२ मु० वि०) : यथा—**हन्ता यो वृत्रं सनितो त वाजम् दाता मघानि** (ऋ० वे०) जिसने वृत्र को मारा, अन्न को जीता, धन-सम्पत्तियाँ दीं; **तौ हीदं सर्वं हर्तारौ** (जै० ब्रा०) क्योंकि वे इस समग्र का धारण करते हैं; **त्यक्तारः संयुगे प्राणान्** (महा०) संग्राम में प्राण देने वाले।

उ—प्राचीनतर भाषा में स्वतः धातु सामासिक पद के अन्त में वर्तमान-कालिक कृदन्त के अर्थ के साथ प्रयुक्त है : यथा—यं यज्ञं परिभूरसि (ऋ० वे०) जिस यज्ञ को घेरकर तू रहता है (रक्षा करता है); अहिमपः परिष्ठाम् (ऋ० वे०) जल को चारों तरफ से घेरने वाले सर्प को। क्रिया-मूल का तमबन्त रूप भी (४६८, ४७१) : यथा—त्वं वसु देवयते वनिष्ठः (ऋ० वे०) पुण्यात्मा के लिए तुम धन के सर्वोत्तम जेता हो; ता सोमं सोमपातमा (ऋ० वे०) वे दोनों सोम के सर्वश्रेष्ठ पान करने वाले हैं।

ऊ—प्राचीनतर भाषा में धातु (विशेषतः द्वित्व वाली) से बना इ अन्त-वाला व्युत्पन्न शब्द : यथा—बभ्रिर्वज्रम् पपिः सोमं ददिर्गाः (ऋ० वे०) वज्र का धारण करने वाला, सोम पीने वाला, गायों का दाता; यज्ञमातनिः (ऋ० वे०) यज्ञ का विस्तारक।

ए—उ क अन्त वाले शब्द, अधिक बहुतायत से ब्राह्मण भाषा में; यथा—वत्सांश्च घातुको वृकः (अ० वे०), और वृक उसके बछड़ों को मार डालता है; वेदुको वासो भवति (तै० सं०) वह वस्त्र को जीत लेता है; कामुका एनं स्त्रियो भवन्ति (मै० सं०) स्त्रियाँ इससे प्रेम करती हैं।

ऐ—अन्य प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक विकीर्ण रूप में मिलते हैं : इस प्रकार अ० अन्त वाले शब्द: यथा—इन्द्रो दृढा चिद् आरुजः (ऋ० वे०) जो दृढ है, उसे भी इन्द्र तोड़ डालता है; नैवार्हः पैतृकं रिक्थम् (मनु०) पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी कथमपि नहीं होता है;—अत्नु अन्त वाले; यथा—वीडु चिद् आरुजत्नुभिः (ऋ० वे०) जो कुछ दृढ है, उसके ध्वंसकों के साथ;—अथ अन्त वाले; यथा—यजथाय देवान् (ऋ० वे०) देवों के यजन के लिए; अन अन्त वाले; यथा—तं निवारणे (महा०) उसको रोकने में; स्वमांसमिव भोजने (रामा०) जैसा कि अपने मांस के भक्षण में; अनि अन्त वाले; यथा—समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् (ऋ० वे०) संग्रामों में शत्रुओं को जीतने वाला;—ति अन्त वाले; यथा—न तं धूर्तिः (ऋ० वे०) उसे किसी प्रकार का आघात नहीं है; वन् अन्तवाले; यथा—अपश्चाद्दघ्वाऽन्नम् भवति (मै० सं०) उसे अन्न की कमी नहीं होती है—स्नु अन्त वाले; यथा—स्थिरा चिन् नमयिष्णवः (ऋ० वे०) स्थिरों को भी झुकाने वाला।

२७२—साधारण संज्ञा अथवा विशेषण के साथ द्वितीया-विभक्ति के उदाहरण केवल यदा-कदा मिलते हैं। अनुव्रत विश्वस्त, प्रतिरूप समान, अभिधृष्णु स्पर्धा करने का साहस करता हुआ, प्रत्यञ्च् विपरीत जैसे शब्दों में प्राप्त उपसर्ग के प्रभाव से द्वितीया-विभक्ति का ग्रहण माना जाता है; साथ ही अनुक् यथा—

अनुक्रा देवा वरुणम् (मै० सं०) दूसरे देव वरुण के नीचे होते हैं। ऋ० वे० में **तम् अन्तर्वतीः** उसको गर्भ में धारण करने वाली; और अ० वे० में **मां कामेन** मुझे प्यार करने से प्राप्त होता है।

२७३—उपसर्गों के साथ कारकों का प्रत्यक्ष प्रयोग संस्कृत में तुलनात्मक ढंग से सीमित (११२३ मु० वि०) होता है। द्वितीया विभक्ति के साथ सर्वाधिक समय ये उपसर्ग प्राप्त होते हैं—**प्रति** विपरीत, संबद्ध आदि; साथ ही **अनु** बाद, और **अन्तर्** या **अन्तरा** बीच में; विरल भाव से **अति** परे, **अभि** विपरीत, और, तथा दूसरे (११२९)। सविभक्तिक रूप भी, जिनने उपसर्ग भाव ग्रहण कर लिया है, बहुधा द्वितीया-विभक्ति के साथ प्रयुक्त होते हैं, यथा— **अन्तरेण, उत्तरेण, दक्षिणेन, अवरेण, ऊर्ध्वम्, ऋते।**

२७४—द्वितीया विभक्ति अधिक समय ऐसी क्रियाओं के कर्म के रूप में भी प्राप्त होती है, जो सजातीय भाषाओं में सकर्मक नहीं हैं।

अ—जाना, लाना, भेजना, तथा इसी प्रकार की क्रियाओं के साथ यह विशेषतः गति के लक्ष्य के रूप में आती है। यथा **विदर्भान् अगमन्** (महा०) वे विदर्भ गये; **दिवं ययुः** (महा०) वे स्वर्ग गये; **वनगुल्मान् धावन्तः** (महा०) जंगलों और झाड़ियों की ओर दौड़ते हुए; **अपो दिवम् उद्वहन्ति** (अ० वे०) वे आकाश की ओर जल ले जाते हैं; **देवान् यजे** (अ० वे०) मैं देवों को आहुति देता हूँ।

आ—गमनार्थक धातुओं के साथ यह अत्यन्त सामान्य प्रक्रिया है; और भाव-वाचक संज्ञा के साथ उस प्रकार की क्रिया का प्रयोग 'होना' के विशिष्ट वाक्यांशों को प्रस्तुत करता है। यथा—**समतामेति** वह समत्व को प्राप्त करता है (अर्थात् समान होता है); **स गच्छेद् वध्यताम् मम** (महा०) वह मेरे द्वारा वध्य होगा; **स पंचत्वमागतः** (हितो०) वह पाँचतत्त्वों में विघटित हो गया (विलयन को प्राप्त हुआ, मर गया)।

इ—भाषणार्थक क्रियाओं के साथ यही नियम लागू होता है। यथा— **तमब्रवीत्** उससे कहा, **प्राक्रोशदुच्चैर्नैषधम्** (महा०) नैषध को जोर से पुकारा; **यस्त्वोवाच** (अ० वे०) जिसने तुम्हें कहा।

ई—संस्कृत में द्वितीया-विभक्तिक कर्म की प्राप्ति अत्यन्त सहज है, और क्रिया अथवा वाक्यांश द्वारा, जिसका स्वरूप बिल्कुल अकर्मक वाला है, उस प्रकार का कर्म बहुधा गृहीत होता है। यथा—**सहसा प्रास्यन्यान्** (ऋ० वे०) बल में तू अन्य सबों से आगे बढ़ जाता है (शब्दार्थ, मूर्धन्य है); **देवा वै ब्रह्म समवदन्त** (मै० सं०) देव ब्रह्म के विषय में विवेचन कर रहे थे

(शब्दार्थ—आपस में बातचीत कर रहे थे); **अन्तर्वै मा यज्ञाद् यन्ति** (मै० सं०) निस्संदेह, मुझे वे यज्ञ से निकालते हैं (शब्दार्थ—बीच में जाते हैं); **तां सम् बभूव** (श० ब्रा०) उसके साथ उसने संभोग किया है।

२७५ – सजातीय द्वितीया-विभक्ति या अन्तर्निहित कर्म की द्वितीया-विभक्ति के उदाहरण विरल नहीं हैं; यथा—**तपस् तप्यामहे** (अ० वे०) हम तपस्या करते हैं; **ते हैताम् एधतुम् एधां चक्रिरे** (श० ब्रा०) उस समृद्धि से वे समृद्ध हुए; **उषित्वा सुखवासम्** (रामा०) सुख से वास करके।

२७६—स्पष्टतः क्रियाविशेषणीभूत प्रयोगों में द्वितीया-विभक्ति बहुधा प्रयुक्त होती है। इस प्रकार :

अ—यदा-कदा स्थान की सीमा को सूचित करने के लिए; यथा—**योजन-शतं गन्तुम्** (महा०) सौ योजन तक जाने के लिए; **षड्उच्छ्रितो योजनानि** (महा०) छः योजन ऊपर।

आ—अपेक्षाकृत स्थलों में काल की अवधि अथवा माप को सूचित करने के लिए; यथा—**स संवत्सरम् ऊर्ध्वोऽतिष्ठत्** (अ० वे०) वह एक वर्ष तक ऊपर उठा रहा; **तिस्रो रात्रीर्दीक्षितः स्यात्** (तै० सं०) तीन रातें उसे दीक्षित होने दो; **गत्वा त्रीनहोरात्रान्** (महा०) पूरे तीन दिनों तक चलकर।

इ—यदा-कदा स्थान के, या अपेक्षाकृत अधिक समय काल के विन्दु को सूचित करने के लिए; यथा—**याम् अस्य दिशं दस्युः स्यात्** (श० ब्रा०) जिस किसी दिशा में उसका शत्रु रहें; **तनैतां रात्रिं सहाऽऽजगाम** (श० ब्रा०) उसके साथ वह उस रात पहुँचा; **इमां रजनीं व्युष्टाम्** (महा०) इस उपस्थित रात में।

ई—बहुत समय प्रकार अथवा सहवर्ती स्थिति को सूचित करने के लिए इस प्रकार अनेक सरल अथवा समस्त विशेषणों की नपुंसक द्वितीया-विभक्ति क्रियाविशेषणवत् (११११) प्रयुक्त होती है, जब कि समासों के कुछ रूप इस प्रकार इतनी मात्रा में प्रयुक्त हैं कि भारतीय वैयाकरणों ने उनसे एक विशिष्ट अव्ययवर्ग (१३१३) बनाया है।

उ—यदा-कदा विशिष्ट अवस्थाएँ उपलब्ध होती हैं; यथा—**ब्रह्मचर्यमुवास** (श० ब्रा०) उसने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया; **फलम् पच्यन्ते** (मै० सं०) वे अपना फल तैयार करते हैं; **गां दीव्यध्वम्** (मै० सं०, सू०) गाय के लिए जुआ खेलो।

२७७—वस्तुतः, अन्य विभक्तियों के साथ एक ही धातु को अर्थ की विवक्षा से सीमित करने के लिए द्वितीया विभक्ति सहज प्रयुक्त होती है। फिर जहाँ

कहीं यह क्रिया के साथ दो विभिन्न रचना-रूपों में प्रयुक्त है, क्रिया दो द्वितीया विभक्तियों, प्रत्येक रूप में एक, का ग्रहण कर सकती है—और ऐसे संयोग संस्कृत में अत्यन्त प्रचलित हैं। इस प्रकार, माँगना, पूछना, शरणापन्न होना आदि क्रियाओं के साथ; यथा—**अपो याचामि भेषजम्** (ऋ० वे०) औषधि के लिए जल माँगता हूँ; **त्वामहं सत्यमिच्छामि** (रामा०) में तुमसे सत्य चाहता हूँ; **त्वां वयं शरणं गताः** (महा०) हम लोग तुम्हारी शरण में पहुँचे हैं—लाना, भेजना, पीछा करना, शिक्षा देना, कहना अर्थवाली क्रियाओं के साथ; यथा—**गुरुत्वं नरं नयन्ति** (हितो०) वे मनुष्य में गुरुत्व लाते हैं; **सीता चाऽन्वेतु मां वनम्** (रामा०) और सीता वन जाने के लिए मेरा पीछा करें; **सुपेशसम् माऽव सृजन्त्यस्तम्** (ऋ० वे०) वे मुझे सुसज्जित कर आश्रय को भेजते हैं; **तामिदमब्रवीत्** (महा०) उससे उसने यह कहा;—और अन्य कुछ अपेक्षाकृत न्यून सामान्य अवस्थाओं में : यथा—**वृक्षम् पक्वम् फलं धूनुहि** (ऋ० वे०) वृक्ष से पके फल को गिरा दो; **तां विषमेवाऽधोक्** (अ० वे०) उसने उससे विष निकाला; **जित्वा राज्यं नलम्** (महाभा०) नल से राज्य जीतकर; **अमुष्णीतम् पणिं गाः** (ऋ० वे०) तू ने पणियों से गायें छीन लीं; **द्रष्टुमिच्छावः पुत्रम् पश्चिमदर्शनम्** (रामा०) हम (दोनों) पुत्र के अन्तिम दर्शन प्राप्त करना चाहते हैं।

अ—सकर्मक क्रिया के णिजन्त रूप के साथ नियमतः दो द्वितीय-विभक्ति-कर्म आते हैं : यथा—**देवाँ उशतः पायया हविः** (ऋ० वे०) इच्छुक देवों को सोम पान कराओ; **ओषधीरेव फलं ग्राहयति** (मै० सं०) वह ओषधियों को फलयुक्त करता है; **वणिजो दापयेत् करान्** (मनु०) उसे वणिजों से कर दिलवाना चाहिए। किन्तु कभी-कभी णिजन्त के साथ गौण द्वितीया-विभक्ति के स्थान में तृतीया विभक्ति होती है; द्रष्टव्य २८२ आ।

२७८—**तृतीया विभक्ति के प्रयोग**-तृतीया मूलतः से विभक्ति है : यह संलग्नता सहावस्थान, साहचर्य को सूचित करती है—समान अर्थपरिवर्तन से जो कि अंग्रेजी के विथ और बाइ में देखा जाता है, यह साधन और कारण के अर्थ ग्रहण कर लेती है।

अ—इस विभक्ति के प्रायः सभी प्रयोग इसी मौलिक अर्थ से सहज अनुमेय हैं, और कुछ भी असंगत अथवा दुर्बोध नहीं रह जाता।

२७९—तृतीया-विभक्ति सहावस्थान को द्योतित करने के लिए बहुधा प्रयुक्त होती है; यथा—**अग्निर्देवेभिरागमत्** (ऋ० वे०) देवों के साथ अग्नि यहाँ आवें; **मरुद्भी रुद्रं हुवेय** (ऋ० वे०) मरुतों के साथ रुद्र को हम लोग

बुलावे; **द्वापरेण सहायेन क्व यास्यसि** (महा०) द्वापर के साथ कहाँ जाओगे ? **कथयन् नैषधेन** (महा०) नैषध के साथ बातचीत करता हुआ। किन्तु अधिक समय सरल सहावस्थान का अर्थ (सह प्रभृति, २८४) अव्ययों द्वारा अधिक सहज भाव में व्यक्त हो जाता है।

२८०—साधन या करण अथवा कर्ता की तृतीया-विभक्ति और भी अधिक मिलती हैं, यथा—**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम** (ऋ० वे०) कानों से हम मंगल सुनें; **शस्त्रेण निधनम्** (महा०) शस्त्र द्वारा मृत्यु; **केचित् पद्भ्यां हता गजैः** (महा०) हाथियों से पाँवों द्वारा कुछ मारे गये; **पृथक् पाणिभ्यां दर्भ-तरुणकैर्नवनीतेनाऽङ्गुष्ठोपकनिष्ठिकाभ्यामक्षिणी आज्य** (आ० गृ० स०) नवनीत से, दर्भ-समूह से, अंगुष्ठ और उपकनिष्ठ अंगुलि से, यथाक्रम दोनों हाथों से अपने नेत्रों का अभिषेक कर। पुनः यह परिस्थिति या कारण (जिसमें कि पाँचवीं विभक्ति अधिक प्राप्त है) को व्यक्त करने में सहज आ जाती है; यथा—**कृपया** अनुकम्पा से; तेन **सत्येन** इस सत्य के कारण।

२८१—विशिष्ट प्रयोगों में निम्नलिखित द्रष्टव्य हैं :—

अ—संवेधन, समता, सदृशता तथा इसी प्रकार के अन्य अर्थ; यथा—**समं ज्योतिः सूर्येण** (अ० वे०) सूर्य के समान तेज; **येषामहं न पादरजसा तुल्यः** (महा०) जिसकी पद-धूलि के तुल्य मैं नहीं हूँ।

आ—मूल्य (जिसके द्वारा प्राप्त होता है); यथा—**दशभिः क्रीणाति धेनुभिः** (ऋ० वे०) दश गायों में खरीदता हूँ; **गवां शतसहस्रेण दीयतां शबला मम** (रामा०) शतसहस्र धेनुओं के बदले मुझे शबला मिले; **स तेऽक्षहृदयं दाता राजा, अश्वहृदयेन वै** (महा०) राजा तुझे अश्वविद्या के बदले अक्ष-विद्या देगा।

इ—माध्यम, और इसी से स्थान, दूरी या मार्ग भी जो अतिवाहित होता है :—यथा **उद्नां न नावमनयन्त** (ऋ० वे०) जल में नाव की तरह वे (उसे) ले आये; **एह यातम् पथिभिर्देवयानैः** (ऋ० वे०) देवमार्गों से यहाँ आओ; **जग्मुर्विहायसा** (महा०) आकाश होकर वे चले गये।

ई—काल, जिसमें क्रिया सम्पादित हो अथवा जिसके बीतने पर कार्य की प्राप्ति हो; यथा—**विदर्भान् यातुमिच्छाम्येकाह्ना** (महा०) मैं एक दिन में विदर्भ जाना चाहता हूँ; **ते च कालेन महता यौवनं प्रतिपेदिरे** (रामा०) और उन्होंने दीर्घ काल में यौवन प्राप्त किया; **तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः** (मनु०) वहाँ समय पर दीर्घायु पुरुष उत्पन्न होते हैं। तृतीया-विभक्ति का यह प्रयोग सप्तमी और पंचमी के निकट पड़ता है।

उ—शरीराङ्ग, जिसपर (या जिसके द्वारा) कोई वस्तु ढोयी जाती है, के साथ तृतीया विभक्ति साधारणतः आती है—यथा **कुक्कुरः स्कन्धेनोह्यते** (हितो०) कन्धे पर कुत्ता ढोया जाता है; और **तुलया कृतम्** (हितो०) तराजू पर रखा (अर्थात्, जैसा कि तराजू द्वारा ढोया गया हो) जैसे स्थलों में ऐसी रचना की प्राप्ति होती है।

ऊ—**बहुना किं प्रलापेन** (रामा०) अधिक प्रलाप की आवश्यकता ही (अर्थात् उससे उपलब्ध) क्या ? **को नु मे जीवितेनार्थः ?** (महा०) मेरे लिए जीवन का क्या प्रयोजन ? **नीरुजस्तु किमौषधैः ?** (हितो०) किन्तु स्वस्थ व्यक्तियों को औषधि की क्या आवश्यकता ?—जैसे उपवाक्य असामान्य नहीं हैं।

ए—सहावस्थान सूचक तृतीया विभक्ति प्रायः अथवा नित्य भावलक्षणार्थ तृतीया की प्रयोगिता के साथ कभी-कभी होती है यथा—**न त्वयात्र मयाऽवस्थितेन कापि चिन्ता कार्या** (पञ्च०) मेरे रहते तुम्हें इस विषय में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होनी चाहिए।

२८२—कर्मवाच्य क्रिया (अथवा कालवाची कृदन्तक्रिया) की रचना **कर्तरि तृतीया** के साथ पूर्वतम काल से ही सामान्य है और परवर्ती काल में यह और भी निश्चित रूप से अधिक आती है, तृतीया विभक्तिरूप के साथ कर्मवाच्य कृदन्तक्रियारूप अपने कर्ता के साथ **कर्तरि प्रयोग** वाली क्रिया का स्थान अधिकांशतः ग्रहण कर लेता है। यथा—**यमेन दत्तः** (ऋ० वे०) यम से दिया हुआ; **ऋषिभिरीड्यः** (ऋ० वे०) ऋषियों द्वारा पूज्य; **व्याधेन जालं विस्तीर्णम्** (हितो०) शिकारी से जाल फैलाया गया, **तच्छ्रुत्वा जरद्गवेनोक्तम्** (हितो०) यह सुनकर जरद्गव ने कहा; **मयागन्तव्यम्** (हितो०) मैं जाऊँगा। वस्तुतः ऐसे वाक्य के तृतीयाविभक्त्यन्त कर्ता का विधेय भी तृतीया में होता है। यथा—**अधुना तवाऽनुचरेण मया सर्वथा भवितव्यम्** (हितो०) अब मैं तुम्हारा अनुचर सब समय बना रहूँगा; **अवहितैर्भवितव्यम् भवद्भिः** (विक्र०) आपको सावधान होना चाहिए।

आ—कभी-कभी णिजन्त क्रिया के साथ गौण कर्म की द्वितीया के स्थान में तृतीया-विभक्ति होती है; यथा—**तां श्वभिः खादयेद् राजा** (मनु०) राजा उसे कुत्तों द्वारा खिला दे, **तां वरुणेनाऽग्राहयत्** (मै० सं०) उसने उन्हें वरुण द्वारा पकड़वा दिया।

२८३—अनेक ऐसे तृतीया-प्रयोग हैं जिनके अनुवाद में **विथ** या **बाई** से भिन्न अन्य पूर्वसर्गों की अपेक्षा हो जाती है, तो भी, तृतीया का यथार्थ संबन्ध

सामान्यतया गम्य है, विशेषतः यदि पदों के व्युत्पत्तिमूल अर्थ को अच्छी तरह ध्यान में रखा जाय।

अ—किन्तु अपेक्षाकृत अधिक असंगत तब होता है जब कि विश्लेषार्थक शब्दों में तृतीया पंचमी के साथ विकल्प से प्रयुक्त होती है। यथा—**वत्सैं-र्वियुताः** (ऋ० वे०) बछड़ों से वियुक्त, **माहमात्मना विराधिषि** (अ० वे०) मैं प्राण से वियुक्त न होऊँ; **स तया व्ययुज्यत** (महा०) वह उससे वियुक्त कर दिया गया, **पाप्मनैवैनम् विं पुनन्ति** (मै० सं०) वे उसे पाप से शुद्ध करते हैं (अंग्रेजी **पार्टेड्विथ** तुलनीय)। इसी प्रकार का अर्थ उस प्रयोग में भी प्राप्त हो सकता है, जब कि **सह** से युक्त हो। यथा—**भर्त्रा सह वियोगः** (महा०) अपने पति का वियोग।

२८४—जिन पूर्व-सर्गों के साथ (११२७) तृतीया विभक्ति आती है, वे **विथ** प्रभृति के अर्थ को द्योतित करने वाले होते हैं; यथा—**सह** और **स** खण्ड वाले अव्यय शब्द **साकम्, सार्धम्, सरथम्;** और सामान्यतया **स, सम्, सह** से समस्तपद में इसके नियमित और सहज पूरक की तरह तृतीया विभक्ति होती है। किन्तु पूर्वसर्ग **विना** रहित के साथ भी कभी-कभी तृतीया विभक्ति होती है। (तु० २८३ अ०)।

२८५—**चतुर्थी-विभक्ति के प्रयोग**। चतुर्थी गौण कर्म की विभक्ति है, जिसको लेकर, जिसकी ओर, जिसके निमित्त या जिसके लिए कोई वस्तु होती है अथवा की जाती है (या तो अकर्मक क्रिया के रूप में या गौण कर्म से सम्बद्ध होकर)।

अ—अपेक्षाकृत अधिक स्थूल सम्बन्धों मे चतुर्थी विभक्ति के प्रयोग द्वितीया-विभक्ति (अधिक संगत रूप से को-विभक्ति) वालों के समीप पड़ते हैं, और ये दोनों कभी-कभी एक दूसरे में परिवर्तनीय होते हैं; किन्तु 'को' या 'के लिए' की विभक्ति में चतुर्थी की सामान्य प्रयोगिता प्रायः सर्वत्र स्पष्ट रूप से परिलक्षणीय होती है।

२८६—इस प्रकार, चतुर्थी निम्नलिखित के साथ प्रयुक्त होती हैं :—

अ—देना, बाँट देना, निर्धारण करना प्रभृति अर्थ के सूचक शब्द : यथा—**यो न ददाति सख्ये** (ऋ० वे०) जो मित्र को नहीं देता; **यच्छाऽस्मै शर्म** (ऋ० वे०) उसे मंगल करो।

आ—दिखाना, घोषणा करना, प्रतिज्ञा करना तथा इस प्रकार के अन्य अर्थ द्योतित करने वाले शब्द : यथा—**धनुर्दर्शय रामाय** (रामा०) राम को धनुष दिखलाओ; **आविरेभ्यो अभवत् सूर्यः** (ऋ० वे०) इनके लिए सूर्य प्रकट

हुआ; **ऋतुपर्णम् भीमाय प्रत्यवेदयन्** (महा०) भीम के सामने उन्होंने ऋतुपर्ण की घोषणा की : **तेभ्यः प्रतिज्ञाय** (महा०) उनसे प्रतिज्ञा करके ।

इ—ध्यान देना, आदर अथवा भाव रखना, आशा करना प्रभृति अर्थ वाले शब्द : यथा—**निवेशाय मनो दधुः** (महा०) डेरा डालने की इच्छा उन्होंने की; **मातेव पुत्रेभ्यो मृड** (अ० वे०) सदय बनो जिस प्रकार माँ अपने पुत्रों के लिए होती है; **किमस्मभ्यं हृणीषे** (ऋ० वे०) क्यों तुम हमसे क्रुद्ध हो ? **कामाय स्पृहयत्यात्मा** (इण्डी० स्प्रु०) आत्मा प्यार चाहती है ।

ई—रुचना, अच्छा लगना, उत्पन्न करना आदि अर्थ के द्योतक शब्द : यथा—**यद् यद् रोचते विप्रेभ्यः** (मनु०) जो कुछ ब्राह्मणों को अच्छा लगे; **तदानन्त्याय कल्पते** (के० उ०) यह अमरत्व प्रदान करता है ।

उ—प्रवृत्ति, प्रणति, प्रभृति अर्थ वाले शब्द : यथा—**मह्यं नमन्ताम् प्रदिशश्चतस्रः** (ऋ० वे०) चारों दिशाएँ मेरे सामने झुक जायँ; **देवेभ्यो नमस्कृत्य** (महा०) देवताओं को प्रणाम करके ।

ऊ—झटक कर उछालना या फेंकना अर्थ को द्योतित करने वाले शब्द : यथा—**येन दूडाशे अस्यसि** (अ० वे०) जिससे तुम पापी पर प्रहार करते हो ।

ए—इन रचनाओं में से कुछ में षष्ठी और सप्तमी भी प्रयुक्त होती हैं : देखिए नीचे ।

२८७—के लिए, प्रयोजन लेकर; प्रसंग में, आदि बताने के लिए अपने अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट अर्थ में चतुर्थी निर्बाध और अति विभिन्न रचनाओं के साथ प्रयुक्त होती हैं । पुनः यह प्रयोग उद्देश्य अथवा निमित्तार्थ चतुर्थी विभक्ति का बन जाता है, जो कि अत्यधिक सामान्य है । यथा—**इषुं कृण्वाना असनाय** (अ० वे०) निक्षेप के लिए तीर बनाकर; **गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्** (ऋ० वे०) सौभाग्य के लिए तेरा हाथ पकड़ता हूँ; **राष्ट्राय मह्यम् बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे** (अ० वे०) मेरे आधिपत्य के लिए, मेरे शत्रुओं के विनाश के लिए आबद्ध हो जाय ।

अ—परिणत होना, किसी लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होना, साथ ही किसी के लिए अभिप्रेत होना, और इसी तरह बाध्य होना, या सम्भावित होना, तथा इसीसे, सक्षम होना के अर्थ में विधेय रूप से (और अधिक समय लुप्त संयोजक के साथ) इस प्रकार की चतुर्थी-विभक्ति अधिक प्रयुक्त होती है : यथा—**उपदेशो हि मूर्खाणाम् प्रकोपाय न शान्तये** (हितो०) मूर्खों में उपदेश प्रकोप के लिए होता है, शान्ति के लिए नहीं; **स च तस्याः संतोषाय नाऽभवत्** (हितो०) वह

उसके सन्तोष के योग्य नहीं हुआ; **सुगोपा असि न दभाय** (ऋ० वे०) तुम सुगोप हो, ठगने के (ठगे जाने के) योग्य नहीं।

आ—चतुर्थी विभक्ति के ये प्रयोग प्राचीनतर भाषा में विशेषतः चतुर्थ्यन्त तुमर्थक रूपों द्वारा निर्दिष्ट हैं, जिनके लिए दे० ९८२।

२८८—पूर्वसर्गों (११२४) के साथ चतुर्थी-विभक्ति नहीं आती है।

२८९—**पंचमी विभक्ति के प्रयोग।** पंचमी से-विभक्ति है, इस पूर्वसर्ग के विभिन्न अर्थों में यह प्राप्त है; अपसारण, विश्लेष, वैशिष्ट्य, प्रकृति-प्रभव, प्रभृति को व्यक्त करने के लिए यह प्रयुक्त होती है।

२९०—बहिष्करण, अपसारण, विशिष्टीकरण, मोचन, वारण तथा अन्य सजातीय भाव जहाँ द्योतित होता है, वहाँ पंचमी प्रयुक्त होती है। इस प्रकार—**ते सेधन्ति पथो वृकम्** (अ० वे०) वे रास्ते से भेड़िये को भगाते हैं; **मा प्रगाम पथः** (ऋ० वे०) हम मार्ग से विचलित न हो जायँ; **एति वा एष यज्ञमुखात्** (मै० सं०) वह यज्ञमुख से ही निकलता है; **आरे अस्मदस्तु हेतिः** (अ० वे०) तुम्हारा क्षेपास्त्र हम लोगों से दूर रहे; **पातं नो वृकात्** (ऋ० वे०) वृक से हमारी रक्षा करो; **अस्तभ्नाद् द्याम् अवस्रसः** (ऋ० वे०) उसने आकाश को गिरने से बचाया (शाब्दिक अर्थ—स्थिर रखा)।

२९१—जिस किसी प्रकृति अथवा प्रकाश-स्थान से किसी की उत्पत्ति अथवा निर्गमन द्योतित हो, वहाँ पंचमी होती है। यथा—**शुक्रा कृष्णाद् अजनिष्ट** (ऋ० वे०) कृष्ण से शुक्र उत्पन्न हुआ; **लोभात् क्रोधः प्रभवति** (महा०) लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है; **वातात् ते प्राणमविदम्** (अ० वे०) वायु से तेरे प्राण को मैंने जीत लिया है; **ये प्राच्या दिशो अभिदासन्त्यस्मान्** (अ० वे०) जो पूर्व दिशा से हमपर आक्रमण करते हैं; **तच्छ्रुत्वा सखिगणात्** (महा०) मित्रगण से इसको सुनकर; **वायुरन्तरिक्षादभाषत** (महा०) आकाश से वायु ने शब्द किया।

अ—इसी से ऐसी क्रियाविधि, जो हेतु या आवश्यकता से उत्पन्न हो, के अर्थ में पंचमी-विभक्ति होती है; यह उत्तरकालिक भाषा में विशेष रूप से अधिक आती है, और पारिभाषिक भाषासारणी में यह नियत रचना है, यह तृतीया-विभक्ति से मिलती-जुलती है। यथा—**वज्रस्य शुष्णाद् ददार** (ऋ० वे०) वज्र के बल से (कारण) उसने नष्ट कर दिया; **यस्य दण्डभयात् सर्वे धर्ममनुरुध्यन्ति** (महा०) जिसके दण्ड के डर से सब धर्म में लगे रहते हैं; **अकारमिश्रितत्वाद् एकारस्य** (त्रिभा०) क्योंकि ए में अ-तत्त्व प्राप्त होता है।

आ—खूब विरल भाव से पंचमी-विभक्ति में अनन्तर का अर्थ मिलता है : यथा—**अगच्छन्नहोरात्रात् तीर्थम्** (महा०) एक अहोरात्र के बाद वे तीर्थ-स्थान चले गये; **टकारात् सकारे तकारेण** (प्राति०) ट् के बाद और स् के पूर्व त् का आगम होता है।

२९२—पंचमी-विभक्ति-रचना के एक या दो विशिष्ट प्रयोग द्रष्टव्य हैं :

अ—भय उत्पन्न करने वाले (जिससे भीत होकर प्रतिक्षेप) शब्दों के साथ पंचमी विभक्ति होती है। उदाहरणार्थ, **तस्या जातायाः सर्वम् अबिभेत्** (अ० वे०) उसके जन्म लेते ही उससे सब भयभीत हो गये; **यस्माद् रेजन्त कृष्टयः** (ऋ० वे०) जिससे सब आदमी काँपते हैं; **युष्मद् भिया** (ऋ०वे०) तुम्हारे भय से; **यस्मान् नोद्विजते लोकः** (भ० गी०) जिससे संसार डरता नहीं है।

आ—तुलनार्थ (जिससे वैशिष्ट्य) की पंचमी : यथा—**प्रिरिचे दिव इन्द्रः पृथिव्याः** (ऋ० वे०) स्वर्ग और पृथ्वी से महान् इन्द्र है। तुलनार्थ के बोधक तथा उसी प्रकार से प्रयुक्त अन्य शब्द के साथ पंचमी नियमित और प्रायः नित्य प्रयोग वाली होती है। इस प्रकार **स्वादोः स्वादीयः** (ऋ० वे०) मधुर से भी मधुरतर; **किं तस्माद् दुःखतरम्** (महा०) इससे अधिक दुःख और क्या ? **को मित्रादन्यः** (हितो०) मित्र को छोड़कर और कौन ? **गा अवृणीथा मत्** (ऐ० ब्रा०) मुझको छोड़कर गाय को तूने चुना है; **अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः** (मनु०) अज्ञों से बढ़कर ग्रन्थी होते हैं, और ग्रन्थियों से अच्छे ग्रन्थों के जानने वाले; **तद् अन्यत्र त्वन्निदध्मसि** (अ०वे०) तुझसे (अलग) अन्यत्र इसको हम रखते हैं; **पूर्वा विश्वस्माद् भुवनात्** (ऋ० वे०) सब प्राणियों से पूर्व।

इ—कभी-कभी, तुलनार्थ बोधक के साथ सम्भवतः स्वस्वामित्व वाली षष्ठी प्रयुक्त होती है; अथवा तृतीया (समता वाली तुलना में जैसी)। यथा—**नास्ति धन्यतरो मम** (रामा०) मुझसे बढ़कर अधिक भाग्यवान् (अर्थात्, भाग्य में मुझसे बड़ा) कोई नहीं है; **पुत्रं मम प्राणैर्गरीयसम्** (महा०) प्राण से भी अधिक मेरे प्रिय पुत्र को।

ई—विभक्तीय षष्ठी के स्थान में पंचमी यदा-कदा प्रयुक्त होती है। यथा—**मिथुनादेकं जघान** (रामा०) युग्म में से एक को मारा; **तेभ्य एकम्** (क० स० सा०) उनमें से एक को।

२९३—विभिन्न प्रकार के उपसर्गों और अन्य उपसर्जनीय स्वरूप वाले शब्दों (११२८) के साथ पंचमी आती है; किन्तु इन सबों में अन्य किसी

स्पष्ट विशेषणात्मकता के बजाय से-संबन्ध को परिसीमित और परिपुष्ट करने-वाला क्रिया-विशेषण तत्त्व ही प्राप्त है। यहाँ हम उल्लेख कर सकते हैं :—

अ—वेद में **अधि** और **परि** पंचमी-विभक्ति के साथ निर्देशन और पोषक अनुबन्ध के रूप में अधिक प्रयुक्त हैं; यथा—**जातो हिमवतस्परि** (अ० वे०) हिमालय से (होकर) उत्पन्न; **समुद्राद् अधिजज्ञिषे** (अ० वे०) समुद्र से तुम उत्पन्न हो; **चरन्तम् परि तस्थुषः** (ऋ० वे०) स्थिर से निकलकर।

आ—साथ ही, 'आगे की ओर से' के अर्थ में, और इसीसे पहले के अर्थ में **पुरा** (और **पुरस्**) भी : यथा—**पुरा जरसः** (ऋ० वे०) वृद्धावस्था से पूर्व, और इसीलिए रक्षण प्रभृति वाले शब्दों के साथ 'से' के अर्थ में : जैसे—**शशमानः पुरा निदः** (ऋ० वे०) दुश्चिन्ता से बचाते हुए।

इ—साथ ही **'आ'** यहाँ से, 'इतनी दूर से' के अर्थ में; यथा—**आ मूलादनु शुष्यतु** (अ० वे०) यह जड़ से एकदम सूख जाय; **तस्माद् आ नद्यो नाम स्थ** (अ० वे०) उस समय से तुम्हें नदियाँ कहते हैं। किन्तु सामान्यतया और विशेषतया उत्तरकालिक भाषा में **आ** द्वारा व्यक्त मर्यादावचन दिशा में प्रत्यावर्तित हो जाता है, और प्रयोग पर्यन्त, तक के अर्थ में आता है। जैसे—**यती गिरिभ्य आ समुद्रात्** (ऋ० वे०) पर्वतों से समुद्र को जाती हुई; **आऽस्य यज्ञस्योऽदृचः** (वा० सं०) इस यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त; **आ षोडशात्** (मनु०) सोलहवें वर्ष तक; **आ प्रदानात्** (शाकु०) उसके विवाह तक।

२९४—**षष्ठी विभक्ति के प्रयोग।** अ—षष्ठी की वास्तविक प्रयोगिता विशेषणवत् होती है; यह संज्ञा से संबद्ध होती है या उसकी विशेषता प्रकट करती है, उससे संबद्ध किसी वस्तु को इस ढंग से निर्दिष्ट करती है कि स्थिति का स्वरूप या सम्बन्ध बहुत कुछ निर्धारित हो जाता है। विशेषण या क्रिया या पूर्वसर्गों के साथ षष्ठी के अन्य प्रयोग अल्पाधिक मात्रा में स्पष्ट परिलक्षणीय सम्बन्ध द्वारा इससे निष्पन्न देखे जाते हैं।

आ—विशेषण में संज्ञा-स्वरूप की प्रतीति से अथवा गर्भित क्रिया रूप से षष्ठी का प्रयोग, विशेषतः उत्तरकालिक भाषा में, बहुत व्यापक हो गया है, जहाँ यह चतुर्थी, तृतीया, पंचमी, सप्तमी जैसी अन्य विभक्तियों की स्थानापन्नता के स्वरूप को ग्रहण कर लेती है।

२९५—संज्ञा या सर्वनाम के साथ अपने विशेषण-रूप प्रयोग में षष्ठी सामान्य प्रकारों के वर्गों में रखी जा सकती हैं : यथा—सम्बन्ध षष्ठी अथवा उपाबंध षष्ठी, विवक्षित सम्बन्ध के पूरक वाली के साथ—यह अन्यत्र की तरह

सर्वाधिक सामान्य हैं; तथाकथित विभक्तीय षष्ठी, कर्तृरूप और कर्मरूप षष्ठियाँ; इत्यादि। समानाधिकरण अथवा समतुल्यता (**सिटी ऑफ रोम**) षष्ठियाँ और संलक्षण वाली षष्ठियाँ (**मेन ऑफ ऑनर**) उपलब्ध नहीं होती हैं, और वस्तुनिर्माण की षष्ठी (**हाउस ऑफ वूड**) प्रायः ही प्राप्त है। उदाहरण होते हैं—**इन्द्रस्य वज्रः** इन्द्र का वज्र; **पिता पुत्राणाम्** पुत्रों का पिता, **पुत्रः पितुः** पिता का पुत्र; **पितुः कामः पुत्रस्य** पुत्र के लिए पिता का प्रेम, **के नः** हममें से कौन; **शतं दासीनाम्** सौ दासियाँ।

अ—सर्वनामों में सम्बन्ध प्रभृति का भाव प्रायः सर्वत्र षष्ठी विभक्ति द्वारा व्यक्त किया जाता है, यौगिक विशेषण द्वारा नहीं (५१६)।

अ—**नगरस्य मार्गः** नगर की ओर जाने वाला रास्ता निर्देश (**ल शमें द पारी**), **यस्याहं दूत ईप्सितः** (महा०) जिसे दूत के रूप में मेरी आवश्यकता है—जैसे असामान्य प्रयोग यदा-कदा प्राप्त होते हैं।

२९६—षष्ठी विशेषण पर निर्भर करती है :—

अ—तमबन्त अथवा इस प्रकार के समृद्धि अर्थ वाले अन्य शब्द के साथ तथाकथित विभक्तीय षष्ठी; यथा—**श्रेष्ठं वीराणाम्** वीरों में श्रेष्ठ; **वीरुधां वीर्यवती** (अ० वे०) पौधों में एक सबल (बलिष्ठ)।

आ—अत्यधिक समय संज्ञा से विशेषण में सम्बन्ध षष्ठी के अन्तरण के कारण विशेषण संज्ञा-प्रकृतिक–जैसा हो जाता है। यथा—**तस्य समः** या **अनुरूपः** या **सदृशः**, उसके समान (अर्थात् उसका अनुरूपी); **तस्य प्रिया** उसको प्यारी (उसकी प्रिया); **तस्याऽविदितम्** उससे अजाना (उसका अज्ञात विषय); **हव्यश्चर्षणीनाम्** (ऋ० वे०) मनुष्यों द्वारा हवनीय (उनके हवन की सामग्री); **ईप्सितो नरनारीणाम्** (महा०) नर-नारियों का अभीष्ट (उनकी इच्छा का विषय); **यस्य कस्य प्रसूतः** (हितो०) जिस–किससे उत्पन्न (उसका पुत्र); **हन्तव्योऽस्मि न ते** (महा०) तुमसे मैं मारने योग्य नहीं हूँ; **किमर्थिनां वंचितव्यमस्ति** (हितो०) भिक्षुकों की वंचना क्यों हो ?

इ—अंशतः, सम्बन्ध कर्म वाली क्रियाओं के सदृश प्रयोग में; यथा—**अभिज्ञा राजधर्माणाम्** (रामा०) राजा के कर्तव्यों का जानना।

२९७—क्रिया के कर्म जैसी षष्ठी प्राप्त होती है :—

अ—देना, शिक्षा देना, कथन करना प्रभृति क्रियाओं के साथ विवक्षा-प्रयोग के चलते प्रतिग्राहक में सम्बन्ध-षष्ठी; यथा—**वरान् प्रदायाऽस्य** (महा०) उसे वरों को देकर (दान द्वारा उन्हें अपने बनाकर); **राज्ञो निवेदितम्** (हितो०) राजा से निवेदित कर (निवेदन द्वारा उसका बनाकर); **यदन्यस्य**

प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते दूसरे को वचन देकर यदि वह फिर किसी अन्य को दी जाय। यह प्रयोग, जहाँ चतुर्थी या सप्तमी की जगह षष्ठी प्रतिस्थापित होती है, उत्तरकालिक भाषा में बहुतायत से प्राप्त होता है, और कभी-कभी संदिग्ध और दुर्बोध अवस्थाओं में विस्तारित होता है।

आ—(संभवतः सर्वाधिक अवस्थाओं में) द्वितीया-विभक्ति की अपेक्षा कम पूर्ण या कम नियत कर्म के रूप में विभक्तीय षष्ठी; यथा—ग्रहण करना (खाना, पीना; प्रभृति अर्थ वाली क्रियाओं के साथ) उदाहरणार्थ—**पिब सुतस्य** (अ० वे०) सोम का पान करो; **मध्वः पायय** (ऋ० वे०) मधुर रस पिलाओ;—(दी जाने वाली वस्तु के) दान प्रभृति अर्थ वाली क्रियाओं के साथ; जैसे—**ददात नो अमृतस्य** (ऋ० वे०) हमें अमरत्व दो;—आनन्द लेना, प्रसन्न होना या परिपूर्ण होना अर्थ वाली क्रियाओं के साथ; जैसे—**मत्स्यन्धसः** (ऋ० वे०) रस का आनन्द अवश्य ग्रहण करो; **आज्यस्य पूरयन्ति** (सू०) आज्य से वे भरते हैं; विभिन्न प्रकारों के भाव के साथ जानना, ग्रहण करना, ध्यान देना, समझना अर्थ वाली क्रियाओं के साथ; जैसे—**वशिष्ठस्य स्तुवत इन्द्रो अश्रोत्** (ऋ० वे०) इन्द्र ने स्तुति करते हुए वशिष्ठ को सुना; **यथा मम स्मरात्** (अ० वे०) जिससे वह मुझे समझे; **तस्य चुकोप** (महा०) उसपर वह क्रुद्ध हुआ।

इ—स्वामी होना या प्रभुत्व रखना अर्थ वाली क्रियाओं के साथ अपेक्षाकृत अधिक संदिग्ध प्रकृति वाली षष्ठी; यथा—**त्वमीशिषे वसूनाम्** (ऋ० वे०) तुम सम्पत्तियों के स्वामी होते हो; **यथाहमेषां विराजानि** (अ० वे०) जिससे उनपर मैं अधिकार कर सकूँ; **कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदाम्** (मनु०) वेदों और शास्त्रों के ज्ञाताओं पर मृत्यु प्रभुत्व कैसे रख सकती ?

ई—किसी प्रकार की प्राप्ति (श्रवण यहाँ समाविष्ट है) अर्थ वाली क्रिया और भयार्थक क्रिया के साथ कभी-कभी पंचमी के स्थान में षष्ठी प्राप्त होती है, यथा—**यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्य** (मनु०) जो कोई लोभी राजा से दान लेता है; **शृणु मे** (महा०) मुझसे सीखो; **बिभीमस्तव** (महा०) तुमसे हम डरते हैं।

२९८—अपने सामान्य सम्बन्ध अर्थ में षष्ठी बहुधा विधेय रूप में प्राप्त होती है, और अविरले संयोजक पद लुप्त रहता है। यथा—**यथा सो मम केवलः** (अ० वे०) जिससे कि तुम केवल मेरे रहो; **सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्** (हितो०) जिसका मन संतुष्ट है, उसे सारी सम्पत्तियाँ

उपलब्ध हैं;—कर्मरूप विधेय में; **भर्तुः पुत्रं विजानन्ति** (मनु०) लोग पुत्र को स्वामी—जैसा मानते हैं।

२९९—अ—षष्ठी के पूर्वसर्गवत् प्रयोग अधिकांश रूप में उन पूर्वसर्गों को लेकर होते हैं जो वस्तुतः संज्ञारूप हैं, अथवा समान लक्षण वाले होते हैं। यथा—**अग्रे, अर्थे, कृते** प्रभृति पुनः, अन्य पूर्वसर्गात्मक शब्दों के साथ, जो षष्ठी प्रयोग के सामान्य शैथिल्य के कारण इनसे समीकृत हो गये हैं। अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ थोड़े-से पूर्वसर्गों के साथ षष्ठी प्राप्त होती है, या तो नित्य रूप से यथा **उपरि** ऊपर, या वैकल्पिक रूप से यथा—**अधस्, अन्तर्, अति**।

आ—प्राचीनतर भाषा में स्थान या कालवाची अव्यय के साथ कभी-कभी षष्ठी होती है, यथा—**यत्र क्व च कुरुक्षेत्रस्य** (श० ब्रा०) कुरुक्षेत्र के जिस किसी भाग में; **यत्र तु भूमेर्जायेत** (मै० सं०) पृथ्वी के जिस भाग में वह उत्पन्न हो; **इदानीम् अह्नः** (ऋ० वे०) दिन के इस समय में; **यस्या रात्र्या प्रातः** (मै० सं०) जिस रात के सबेरे; **द्विः संवत्सरस्य** (का०) वर्ष में दो बार। अन्तिम कोटि के ऐसे प्रयोग उत्तरकालिक भाषा में भी आते हैं।

३००—अ—अव्यय की तरह षष्ठी बहुत कम प्रयुक्त होती है, प्राचीनतर भाषा में कालवाची षष्ठियाँ कुछ प्राप्त होती हैं; यथा—**अक्तोस्** रात में; **वस्तोस्** दिन में; और **कस्यचित् कालस्य** (शाकु०) कुछ समय के बाद; **ततः कालस्य महतः प्रययौ** (रामा०) तब बहुत समय के बाद वह चला गया, जैसे प्रयोग आगे चलकर मिलते हैं।

आ—उत्तरकालिक भाषा में (पूर्वतरकाल में ऐसा प्रयोग अज्ञात) संगत कालवाची कृदन्तक्रियापद के साथ अथवा बहुत कम स्थलों में विशेषण के साथ अथवा बहुत कम स्थलों में विशेषण के साथ षष्ठी विभक्ति, जो मूलतः संबंधवाची थी, एक सामान्य विषय में सन्निविष्ट होकर भावलक्षणार्थक प्रयोग में आ जाती है। इस प्रकार के निम्नलिखित प्रयोगों से—**पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलैर्भक्षिताः सुताः** (हितो०) मूर्ख बगुले के, जब कि वह देखता रहा, बच्चे नेवलों से खाये गये; या **गतोऽर्धरात्रः कथाः कथयतो मम** (क० स० सा०) मेरी आधी रात कहानियों के कहने में बीत गयी; या **कर्तव्यस्य कर्मणः क्षिप्रम् अक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्** (हितो०) अचिर कर्तव्य कर्म के असम्पादित रहने पर काल उसके रस को चाट लेता है—अन्य तुल्य प्रयोग षष्ठी के वर्धमान स्वातन्त्र्य के चलते व्यवहार में आते हैं; यथा—**दिवं जगाम मुनीनां पश्यतां तदा** (रामा०) तब वह स्वर्ग चला गया, मुनि देखते

रहे; **एवं लालपतस्तस्य देवदूतस्तदाभ्येत्य वाक्यमाह** (महा०) जब वह इस प्रकार विलाप कर रहा था, देवदूत ने आकर उसे ऐसा कहा; **इति वादिन एवाऽस्य धेनुरावबृते वनात्** (रघु०) जब उसने ऐसा कहा, गाय जंगल से निकली। षष्ठी विभक्ति सजीव कर्ता को सर्वदा सूचित करती है, और कृदन्त-क्रियारूप सामान्यतया देखने, सुनने या बोलने—विशेष रूप से प्रथम—के भाव वाला होता है। भारतीय वैयाकरणों के अनुसार प्रयोग में अनादर या अपमान का अर्थ प्रकट होता है, और ऐसा बहुधा परिलक्षित होता है, किन्तु नित्य रूप से नहीं।

३०१—अ—**सप्तमी विभक्ति के प्रयोग।** अ—सप्तमी वस्तुतः 'में'—विभक्ति है, ऐसी विभक्ति जो स्थिति अथवा आधार की द्योतक होती है; किन्तु इसके प्रयोग का क्षेत्र यत्किंचित् विस्तृत हो गया है जिससे यह अन्य विभक्तियों की सीमाओं का स्पर्श और अंश-छादन कर देती है और जिनका प्रतिस्थापित रूप यह प्रतीत होता है।

आ—'में' अर्थ के अप्रधान भेद मध्य में या अन्दर, ऊपर और पर वाले होते हैं। वस्तुतः, काल और स्थान में स्थिति भी इस विभक्ति के द्वारा प्रकट होती है, और यह विभक्ति अपेक्षाकृत न्यून भौतिक संबंधों में, कार्य, भाव और ज्ञान के क्षेत्र में, वस्तुओं की अवस्था में, संलग्न परिस्थिति में प्रयुक्त होती है; पुनः इस अन्तिम से भावलक्षण के रूप में सप्तमी का प्रचुर प्रयोग उत्पन्न होता है।

इ—पुनः विवक्षा-प्रयोग के अनुसार सप्तमी-विभक्ति विराम अथवा कार्य या गति की विश्रान्ति के स्थान के लिए (in या on के स्थान में into या onto, में या पर की जगह अन्दर या ऊपर, सम्प्रदान की जगह कर्म रूप जर्मन in, तुलनीय अंग्रेजी there और thither) प्रयुक्त होती है।

३०२—स्थानगत अधिकरण की सप्तमी विभक्ति का निदर्शन प्रायः अपेक्षित नहीं है। एक या दो उदाहरण होते हैं—**ये॑ दे॒वा दि॒वि स्थ** (अ० वे०) तुम से जो देव स्वर्ग में स्थित हैं; **न देवेषु न यक्षेषु तादृक्** (महा०) न देवों और न यक्षों में वैसा कोई है; **पर्व॑तस्य पृ॒ष्ठे** (ऋ० वे०) पर्वत के पृष्ठ पर; **वि॒दथे॑ दे॒वाः** (ऋ० वे०) सभा में देवता रहें; **दशमे पदे** (महा०) दशम पद पर।

आ—कालवाची सप्तमी विभक्ति से काल का वह निर्धारण सूचित होता है जहाँ कोई कार्य होता है। यथा—**अ॒स्या उ॒षसो॒ व्यु॑ष्टौ** (ऋ० वे०) इस उषा के निकलने पर; **एतस्मिन्नेव काले** (महा०) इसी समय में; **द्वादशे**

वर्षे (महा०) बारहवें वर्ष में। इस अर्थ में द्वितीया-विभक्ति कभी-कभी होती है, इसका उल्लेख ऊपर (२७६ इ) हो चुका है।

इ—आधार-रूप स्थल की जगह वह व्यक्ति, जिसके साथ कुछ होता है, सप्तमी विभक्ति को प्राप्त होता है; यथा—**तिष्ठन्त्यस्मिन् पशवः** (मै० सं०) इसके साथ पशु रहते हैं; **गुरौ वसन्** (मनु०) गुरु के साथ रहकर; और विवक्षावश, **तावत् त्वयि भविष्यामि** (महा०) तब तक तुमसे चिपककर रहूँगा।

३०३—कार्य, अवस्था या परिस्थिति वाली सप्तमी प्रचुर प्रयोग लेकर होती है, यथा—**मदे अहिमिन्द्रो जघान** (ऋ० वे०) क्रोध में इन्द्र ने अहि को मारा; **मित्रस्य सुमतौ स्याम** (ऋ० वे०) मित्र के अनुग्रह में हम रहें; **ते वचने रतम्** (महा०) तुम्हारे वचन से तुष्ट।

अ—एक ओर, प्रस्तुत विषय अथवा ऐसी स्थिति या इस प्रसंग में वाले अर्थ को लेकर यह प्रयोग सामान्य बन गया है, और उत्तरकालिक भाषा में संबंध और सम्प्रदान को समाहित कर व्यापक प्रसार पा लेता है। यथा—**एमम् भज ग्रामे अश्वेषु गोषु** (अ० वे०) गोष्ठियों, घोड़ों और गायों में उसके लिए उदार बनो; **तमित् सखित्व ईमहे** (ऋ० वे०) मैत्री के लिए उसे हम चाहते हैं; **उपायोऽयं मया दृष्ट आनयने तव** (महा०) तुम्हें लाने के लिए (प्रसंग में) मैंने यह उपाय निकाला; **सतीत्वे कारणं स्त्रियाः** (हितो०) नारी के सतीत्व का कारण (के प्रसंग में); **न शक्तोऽभवन् निवारणे** (महा०) रोकने में वह समर्थ न हुआ।

आ—दूसरी ओर, जिस स्थिति में कोई कार्य होता है, उस स्थिति की अथवा प्रतिबन्धित या सहगमित परिस्थिति की सप्तमी-विभक्ति का प्रयोग स्पष्ट भावलक्षणार्थ रचना में चला आता है, जो भाषा की पूर्वतम अवस्था में भी प्राप्त है, किन्तु आगे चलकर अपेक्षाकृत अधिक सामान्य हो जाता है। संक्रामी उदाहरण हैं : **हुवे त्वा सूर उदिते हुवे मध्यंदिने दिवः** (ऋ० वे०) सूर्य के उदित होने पर (जब कि सूर्य उदित हुआ है) मैं तुम्हारा आह्वान करता हूँ, दिन के मध्यकाल में मैं बुलाता हूँ; **अपराधे कृतेऽपि च न मे कोपः** (महा०) और अपराध होने पर भी मुझे क्रोध नहीं होता है।

इ—भावलक्षणार्थक रचना की सामान्य स्थिति संज्ञा से संलग्न कृदन्तक्रिया-रूप के साथ होती है। यथा—**स्तीर्णे बर्हिषि समिधाने अग्नौ** (ऋ० वे०) जब कि कुश फैला दिया जाता और अग्नि प्रज्वलित की जाती है; **काले शुभे प्राप्ते** (महा०) शुभ समय के आने पर; **अवसन्नायां रात्रावस्ताचलचूडाव-**

लम्बिनि चन्द्रमसि (हितो०) रात के बीत जाने पर और अस्ताचल के शिखर पर चन्द्रमा के चले जाने पर।

ई—किन्तु संज्ञापद लुप्त रह सकता है, अथवा उसकी जगह अव्ययात्मक प्रतिस्थापक (यथा **एवम्, तथा, इति**) रखे जा सकते हैं। यथा—**वर्षति** जब वर्षा हो रही है; **(सूर्ये) अस्तमिते** सूर्य के डूब जाने पर; **आदित्यस्य दृश्यमाने** (सू०) जब कि सूर्य (का कोई भाग) देखा जाय; **इत्यर्धोक्ते** (शाकु०) इन शब्दों के अर्ध उच्चारित होने पर; **अस्माभिः समनुज्ञाते** (महा०) हमसे इसके पूरी तरह मान्य हो जाने पर; **एवमुक्ते कलिना** (महा०) इस प्रकार कलि के कहने पर; **तथानुष्ठिते** (हितो०) इस प्रकार किये जाने पर, इसी प्रकार कृदन्तक्रियारूप लुप्त हो सकता है (**सति** अथवा इसी प्रकार अन्य संयोजक का अध्याहार अपेक्षित होता है); यथा—**दूरे भये** भय-कारण के दूर रहने पर; किन्तु दूसरी ओर कभी-कभी **सति** प्रभृति कृदन्तक्रियारूप अन्य कृदन्तक्रियारूपों के साथ व्यर्थ ही युक्त किये जाते हैं; यथा—**तथा कृते सति** इसके इस प्रकार किये जाने पर।

उ—सप्तमी विभक्ति बहुधा अव्यय अथवा पूर्वसर्ग (१११६) की तरह प्रयुक्त होती है। यथा—**अर्थे** या **कृते** विषय में, इसके लिए; **अग्रे** सामने, **ऋते** बिना, **समीपे** निकट।

३०४—ऐसी प्रसारी रचना जहाँ सप्तमी विभक्ति उत्पन्न भाव या क्रिया या गति के प्रयोजन अथवा लक्ष्य को व्यक्त करती है, पूर्वतम काल से ही असामान्य नहीं है। साधारण रचना से इसका स्पष्ट भेदक कथमपि संभव नहीं है; मध्यवर्ती संदिग्ध क्षेत्र के साथ दोनों एक दूसरी में चली आती हैं। इसकी प्राप्ति होती है :

अ—विशेष रूप से पहुँचना, भेजना, रखना, कहना, देना अन्य कतिपय क्रियाओं के साथ उन अवस्थाओं में जहाँ द्वितीया-विभक्ति या चतुर्थी-विभक्ति (अथवा षष्ठी-विभक्ति, २९७ अ) वैकल्पिक रूप से अपेक्षित होती है, और इनसे विनिमेय है। यथा—**स इद् देवेषु गच्छति** (ऋ० वे०) वस्तुतः वह देवों को (उनके बीच) जाता है; **इमं नो यज्ञममृतेषु धेहि** (ऋ० वे०) हमारे इस यज्ञ को देवताओं के बीच रखो; **य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु** (अ० वे०) जो औषधियों में रस प्रदान करता है (या रस जो औषधियों में प्राप्त है); **मा प्रयच्छेश्वरे धनम्** (हितो०) धनवान् को धन नहीं दो, **पपात मेदिन्याम्** (महा०) वह पृथ्वी पर (जिससे कि पृथ्वी पर हो) गिर गया;

स्कन्धे कृत्वा (हितो०) कन्धे पर रखकर, **संश्रुत्य पूर्वमस्मासु** (महा०) पहले हमें प्रतिज्ञा करके ।

आ—उस प्रकार की रचनाओं में संज्ञाओं और विशेषणों के साथ भी बहुधा (ऊपर ३०३ अ, 'इस प्रसंग में' अर्थ वाली सप्तमी विभक्ति के उदाहरणों से इनको पृथक् करना सब समय सहज नहीं होता) यथा—**दया सर्वभूतेषु** सभी प्राणियों के प्रति दया, **अनुरागं नैषधे** (महा०) नैषध के लिए अनुराग; **राजा सम्यग् वृतः सदा त्वयि** (महा०) राजा ने तुम्हारे प्रति सदा सद्-व्यवहार किया है ।

३०५—सप्तमी-विभक्ति के साथ रखे गये पूर्वसर्ग (११२६) इसके साथ क्रियाविशेषणीभूत तत्त्वों के संबन्ध में आते हैं, जो कि इसके अर्थ को दृढ़ और नियमित करते हैं ।

३०६—पद-विधान के प्रातिपदिक या मूल में विभक्ति-चिह्नों को जोड़कर नामिक पद बनाये जाते हैं ।

अ—किन्तु बहुत से शब्दों और शब्द-वर्गों में प्रातिपदिक स्वतः परिवर्तनीय होता है, विशेषतः कुछ अवस्थाओं में सबलतर रूप और अन्यत्र दुर्बलतर रूप ग्रहण करता है ।

आ—पुनः प्रातिपदिक और विभक्ति चिह्न के मध्य में संयोगी तत्त्व भी (अथवा वे जो भाषा की प्राप्त स्थिति में तथाविध लक्षण लेकर होते हैं) कभी-कभी रखे जाते हैं ।

इ—इन सब विषयों को लेकर शब्द-विशेषों में अथवा शब्दों के प्रत्येक वर्ग में प्राप्त प्रक्रिया के विवरण परवर्ती अध्यायों में दिये जायेंगे । तथापि इनका संक्षिप्त सामान्य निर्देश उपस्थित करना यहाँ अपेक्षित है ।

३०७—**विभक्ति-चिह्न : एकवचन** । अ—प्रथमा-विभक्ति में पुं० और स्त्री सामान्य विभक्ति-चिह्न **स् है** जो कि प्रत्ययान्त आ और इ-प्रातिपदिकों में अनुपलब्ध होता है, साथ ही व्यंजनान्त प्रातिपदिकों में भी श्रुत्यात्मकता के चलते (१५०) लुप्त रहता है । नपुंसकों में कोई विभक्ति-चिह्न सामान्यतया नहीं आता है, किन्तु इस स्थिति में प्रातिपदिक मात्र ही प्राप्त होता है; केवल अकारान्त प्रातिपदिकों में **म्** (पुं० द्वितीया में जैसा) युक्त होता है । सर्वनामों में **अम्** अधिक प्रचलित पुं० और स्त्री० विभक्ति-चिह्न है (और द्वि० व० और बहु० में भी प्राप्त होता है); और नपुंसक रूपों में **द्** अन्तवाला रूप देखा जाता है ।

आ—द्वितीया-विभक्ति में **म्** या **अम्** पुं० और स्त्री० विभक्ति-चिह्न है— व्यंजन और ऋ के बाद, और धातुमूलक विभाग में ई और ऊ के बाद **अम्** जोड़ा जाता है, और अन्यत्र स्वरों के बाद **म्** लगता है।

इ—सभी लिंगों में समान रूप से तृतीया-विभक्ति चिह्न **आ** होता है। अन्त्य इ-और उ-स्वरों के साथ **आ** विभिन्न रूप से जोड़ा जाता है, और प्राचीनतर भाषा में यह इनके साथ आकुंचन के चलते कभी-कभी लुप्त हो जाता है। अकारान्त प्रातिपदिकों में विभक्ति **एन** अन्त वाली (कभी-कभी **एना** वे० में) होती है, और आकारान्तों में **अया** अन्त वाली; किन्तु प्राचीन भाषा में अ और आ दोनों के साथ **आ** के अनन्तरित संयोग के उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

ई—चतुर्थी-विभक्ति चिह्न सामान्यतया **ए** होता है; और उसी प्रकार इसके साथ अन्त्य इ और उ के संयोजन की विधियाँ विभिन्न हैं (और प्राचीनतम भाषा में आकुंचनजन्य लोप अज्ञात नहीं है)। इस प्रसंग में अकारान्त प्रातिपदिक सर्वथा अनियमित होते हैं और इसके स्थान **आय** ग्रहण करते हैं— अपवादीभूत सार्वनामिक अंश **स्म** है जो (स्पष्टतः) ए से युक्त होकर **स्मै** हो जाता है। पुरुषबोधक सर्वनामों में **भ्यम्** (या **ह्यम्**) प्राप्त होता है।

उ—परिपूर्ण विभक्ति-चिह्न **ऐ** (ब० पंचमी **आस्** और सप्तमी **आम्** की तरह, देखिए नीचे) केवल स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों में आता है। आ प्रत्ययान्त वालों के एक बड़े वर्ग के साथ-साथ ही ई और (जैसा कि उत्तरकालिक भाषा में प्राप्त) उ-प्रत्ययान्त वाले शब्दों के साथ यह (मध्यागमित य से युक्त) मिलता है। पुनः उत्तरकाल में धातुमूलक ई और ऊ अन्त वाले और इ और उ अन्त वाले स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों के साथ विकल्प से संभव है। अन्तिम कोटि वालों का यह रूप पूर्वतम भाषा में विरले ही प्राप्त होता है। पंचमी-षष्ठी **आस्** में **ऐ** की स्थानापन्नता के लिए, देखिए नीचे ऐ।

ऊ—पंचमी का विशिष्ट विभक्ति-चिह्न **द्** (या **त्**) केवल अकारान्त प्रातिपदिकों में प्राप्त होता है, इसके पूर्व का अ दीर्घ कर दिया जाता है (अपवादस्वरूप उत्तम और मध्यम पुरुष के पुरुषबोधक सर्वनाम होते हैं, जिनके साथ वही विभक्ति-चिह्न **अत्** बहुवचन में और प्राचीन भाषा के द्विवचन में भी मिलता है)। अन्यत्र सब जगह पंचमी षष्ठी के समरूप होती है।

ए—अकारान्त प्रातिपदिकों (और एक उकारान्त सर्वनामिक प्रातिपदिक **अमु**) की षष्ठी में **स्य** जुड़ता है। अन्यत्र पंचमी षष्ठी का सामान्य विभक्ति-चिह्न **अस्** होता है, किन्तु प्रातिपदिकान्त्य के साथ इ संयोजन प्रक्रिया की अनियमितताएँ बहुत होती हैं। इ और उ के साथ यह या तो सीधे (केवल

प्राचीन भाषा में) जोड़ा जाता है, या मध्य-निहित न् के साथ जोड़ा जाता है। ऋ (या अर्) के साथ यह **उर्** (या **उस्**, १६९ आ) बन जाता है।

ऐ—स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों में परिपूर्ण **आस्** ठीक उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार चतुर्थी-विभक्ति में **ऐ** प्राप्त है (दे० ऊपर)। किन्तु ब्राह्मणों और सूत्रों की भाषा में पंचमी और षष्ठी दोनों के **आस्** के स्थान में चतुर्थी-विभक्ति चिह्न **ऐ** नियमित और सामान्य रूप से प्रयुक्त है। द्रष्टव्य ३६५ ई।

ओ—सप्तमी-विभक्ति चिह्न व्यंजन और ऋ और अ अन्त वाले प्रातिपदिकों में (अन्तिम में अ के साथ सायुज्यित होकर ए) **इ** है। इ और उ अन्त वाले मूलों (यदि उनका स्वर मध्यागमित न् द्वारा सुरक्षित न हो) का विभक्त्यन्त **औ** बन जाता है, किन्तु वेद में प्राचीनतर रूपों (अय्-इ (?) और अव्-इ) के कुछ संकेत या अवशेष प्राप्त होते हैं जिनसे यह विकसित प्रतीत होता है। इ-प्रातिपदिकों से वैदिक सप्तमीरूप आ और ई अन्त वाले भी प्राप्त होते हैं। सार्वनामिक अंश **स्म** से सप्तमी-रूप **स्मिन्** बन जाता है। प्राचीनतर भाषा में अन् अन्त वाले प्रातिपदिकों के साथ **इ** बहुधा लुप्त हो जाता है, और सप्तमी-विभक्ति रूप के लिए निर्विभक्तिक प्रातिपदिक प्रयुक्त होता है।

औ—विभक्ति-चिह्न **आम्** सप्तमी में आता है जो चतुर्थी **ऐ** और पंचमी-षष्ठी **आस्** के अनुरूप है, और समान अवस्थाओं में इसकी प्राप्ति होती है : देखिए ऊपर।

क—संबोधन-रूप (उदात्त न होने पर, ३१४) प्रथमा-विभक्ति से केवल एकवचन में भिन्न होता है, और यह भी सब समय नित्य रूप से नहीं। अकारान्त प्रातिपदिकों में यह अपरिवर्तित प्रातिपदिक होता है, और वैसा ही व्यंजनान्त प्रातिपदिकों में; किन्तु अन् और इन् अन्त वाले नपुंसकों का न् लुप्त हो सकता है; और प्राचीनतम भाषा में न्त् और न्स् अन्त वाले प्रातिपदिकों के संबोधन का अन्त कभी-कभी **स्** में प्राप्त है। ऋकारान्त प्रातिपदिक इसे **अर्** में परिवर्तित कर देते हैं। पुं० और स्त्री० इ और उ अन्त वाले प्रातिपदिकों में यह विभक्ति-रूप क्रमशः **ए** और ओ अन्त वाला होता है; नपुंसकों में वैसा ही अथवा **इ** और **उ** अन्तवाला। आकारान्त प्रातिपदिक आ को **ए** में परिवर्तित कर देते हैं; ई और ऊ प्रत्यय ह्रस्व कर दिये जाते हैं; दीर्घ स्वरान्त धातुमूलक प्रातिपदिक प्रथमा विभक्ति-रूप का प्रयोग करते हैं।

३०८—**द्विवचन**। अ—द्विवचन में संबोधन की उस अवस्था को छोड़कर जहाँ वह कभी-कभी प्रथमा और द्वितीया से स्वर-विधान लेकर भिन्न होता है; ३१४—केवल तीन विभक्तिरूप प्राप्त होते हैं : एक प्रथमा, द्वितीया

और संबोधन के लिए; एक तृतीया, चतुर्थी और पंचमी के लिए; और एक षष्ठी और सप्तमी के लिए।

आ—किन्तु प्राचीनतर भाषा में उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष के सर्वनामों में पाँच प्रकार की विभिन्न द्विवचन विभक्तियाँ प्राप्त होती हैं। द्रष्टव्य ४९२ आ।

इ—उत्तरकालिक भाषा में प्रथमा-द्वितीया-संबोधन के लिए सामान्यतया **औ** है; किन्तु इसके स्थान में **आ** व्यापक रूप से वेद में उपलब्ध है। आकारान्त प्रातिपदिकों में यह विभक्ति-चिह्न **ए** होता है। पुं० और स्त्री० इ और उ अन्त वाले प्रातिपदिक इन स्वरों को दीर्घ कर देते हैं; और वेद में ई प्रत्यय नियमित रूप से अपरिवर्तित बना रहता है, यद्यपि उत्तरकाल में इससे **औ** जुड़ता है। नपुं० विभक्ति-चिह्न केवल **ई** है, अन्त्य अ के साथ मिलकर यह **ए** हो जाता है।

ई—तृतीय-चतुर्थी-पंचमी में सार्वत्रिक विभक्ति-चिह्न **भ्याम्** है जिसके पूर्व का अन्त्य अ दीर्घ हो जाता है। वेद में इसे बहुधा द्व्यक्षर, **भिआम्** की तरह पढ़ा जाना अपेक्षित है।

उ—षष्ठी-सप्तमी का सार्वत्रिक विभक्ति-चिह्न **ओस्** है; इसके पूर्व अ और आ दोनों ही **ए (अइ)** हो जाते हैं।

३०९—**बहुवचन**। अ। प्रथमा में पुं० और स्त्री० सामान्य विभक्ति-चिह्न **अस्** है। किन्तु अकारान्त प्रातिपदिकों से प्राचीन भाषा में यह विभक्तिरूप **आस्** के स्थान में **आसस्** से बनता है, और कुछ प्रयोगों में आकारान्त प्रातिपदिकों से भी। ई—प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से **यस्** के स्थान में **ईस्** नियमित और सामान्य वैदिक रूप होता है। सार्वनामिक अकारान्त प्रातिपदिकों से पुं० प्रथमा **ए** में होती है।

आ—नपुंसक विभक्ति-चिह्न (जो द्वितीया विभक्ति का भी है) सामान्यतः इ है; और इसके पूर्व प्रातिपदिक का अन्त्य स्वर के विस्तार द्वारा अथवा अनुनासिक के अन्तर्वेशन द्वारा सहज में दीर्घ हो जाता है। किन्तु वेद में तथाविध पारिणामिक **आनि, ईनि, ऊनि** वाले रूप अधिकांशतः **नि** के लोप से और कभी-कभी पूर्ववर्ती स्वर के पुनः ह्रस्वीकरण से संक्षेपीकृत होते हैं।

इ—हलन्त प्रातिपदिकों में और धातुमूलक विभाग वाले ईदन्त और ऊदन्त प्रातिपदिकों में (और प्राचीन भाषा में अन्यत्र भी) द्वितीया विभक्ति-चिह्न **अस्** है। ह्रस्व स्वरों के अन्त वाले प्रातिपदिक उन स्वरों को दीर्घ कर देते हैं और पुंलिंग में **न्** (**न्स्** के लिए, जिसके प्रचुर अवशेष सुरक्षित हैं) और स्त्रीलिंग में **स्** जोड़ते हैं। नपुंसक में यह विभक्तिरूप पुंलिंग के समान होता है।

ई—तृतीया-विभक्ति में अकारान्त प्रातिपदिकों को छोड़कर सर्वत्र विभक्ति

चिह्न **भिस्** है, अकारान्तों के साथ उत्तरकालिक भाषा में विभक्तिरूप सब समय **ऐस्** अन्त वाला होता है, किन्तु पूर्वतर भाषा में या तो **ऐस्** अन्त वाला या अपेक्षाकृत अधिक नियमित **एभिस्** अन्त वाला (दो पुरुषबोधक सर्वनामों में **आभिस्;** और अकारान्त सार्वनामिक प्रातिपदिक (५०१) से केवल **एभिस्** बनता है)।

उ—चतुर्थी और पंचमी के बहुवचन में **भ्यस्** (वेद में बहुधा **भिअस्**) विभक्ति-चिह्न वाला समानरूप मिलता है, जिसके पूर्व केवल **अ** परिवर्तित होता है और **ए** हो जाता है। किन्तु दो पुरुषबोधक सर्वनामों में दो विभिन्न विभक्ति-रूप उपलब्ध होते हैं, पंचमी बहुवचन में एकवचन विभक्ति-चिह्न (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) और चतुर्थी में एक विशिष्ट चिह्न **भ्यम्** (वेद में **भिअम्** प्रायः कहीं नहीं), जो कि उनके एकवचन में भी लगाया जाता है।

ऊ—षष्ठी विभक्ति का सार्वत्रिक विभक्ति-चिह्न **आम्** है, जो (धातुमूलक ई और ऊ के बाद के वैकल्पिक प्रयोग को और कुछ विकीर्ण वैदिक उदाहरणों को छोड़कर) अन्त्य स्वरों के बाद मध्यागम रूप व्यंजन—सार्वनामिक शब्दरूप में **स्,** अन्यत्र **न्**—का ग्रहण करता है; न् के पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घ कर दिया जाता है और **स्** के पूर्व का **अ ए**। वेद में इसका उच्चारण अधिकांशतः **अ-अम्** जैसे द्व्यक्षर के रूप में अपेक्षित है।

ए—निरपवाद रूप से सप्तमी विभक्ति-चिह्न **सु** है, और इसके पूर्व एक-मात्र परिवर्तन ए में अ का होता है।

ऐ—सम्बोधन, द्विवचन की तरह, प्रथमा विभक्ति से अपने स्वर-विधान लेकर ही भेद रखता है।

३१०—विभक्ति-चिह्नों की नियमित तालिका, जैसा कि देशी वैयाकरणों द्वारा मान्य है (और जिसे सुविधार्थ विशिष्ट विवेचन का आधार माना जा सकता है) इस प्रकार की होती है :

	एकवचन			द्विवचन			बहुवचन		
	पुं०	स्त्री०	नपुं०	पुं०	स्त्री०	नपुं०	पुं०	स्त्री०	नपुं०
प्र०	स्……………			औ		ई	अस्		इ
द्वि०	अम्……………			औ		ई	अस्		इ
तृ०		आ			भ्याम्			भिस्	
च०		ए			भ्याम्			भ्यस्	
पं०		अस्			भ्याम्			भ्यस्	
ष०		अस्			ओस्			आम्	
स०		इ			ओस्			सु	

अ—हलंत प्रातिपदिकों तथा धातुमूलक विभाजन वाले ईकारान्त और ऊकारान्त प्रातिपदिकों में यह सम्पूर्णतः गृहीत हैं; अन्य स्वरान्त प्रातिपदिकों में अल्पाधिक मात्रा में अनेक परिवर्तनों और रूपान्तरणों के साथ। सभी वर्गों के प्रातिपदिकों में जिन विभक्ति-चिह्नों की प्रायः या आपाततः अविच्छिन्न प्राप्ति है; वे हैं : द्विवचन के **भ्याम्** और **ओस्** तथा बहुवचन के **भिस्, भ्यस्, आम्** और **सु**।

३११—**प्रातिपदिक में परिवर्तन**। अ—इस प्रसंग में संभवतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय शब्दों की व्यापक कोटियों (विशेषतः हलन्तों) में सबल और दुर्बल रूपों से संबद्ध भेद है—यह भेद स्वराघात के तत्त्व के साथ स्पष्ट संबंध रखता है। प्रथमा और द्वितीया एक ओर द्विवचन तथा प्रथमा बहुवचन (पाँच विभक्ति-रूप जिनके विभक्ति-चिह्न कभी उदात्त नहीं होते हैं, ३१६ अ) में प्रातिपदिक अन्य विभक्तियों की अपेक्षा बहुधा सबलतर या परिपूर्ण रूप वाला होता है; इस प्रकार, उदाहरण-स्वरूप (४२४), **राजानम्, राजानौ, राजानस्;** जब कि इनके विपरीत **राज्ञा** और **राजभिस्;** अथवा (४५० आ) **महान्तम्** और (४४७) **अदन्तम्,** दूसरी ओर **महता** और **अदता**। अतः इन पाँच को सबल प्रातिपदिक वाले विभक्तिरूप या संक्षेप में सबल विभक्तिरूप कहते हैं; और अवशिष्टों को दुर्बल प्रातिपदिक वाले विभक्तिरूप या दुर्बल विभक्तिरूप। तथा शब्दों की कुछ कोटियों में ये दुर्बल विभक्तिरूप पुनः दुर्बलतम प्रातिपदिक के विभक्तिरूपों या दुर्बलतम विभक्तिरूपों और मध्य प्रातिपदिक के विभक्तिरूपों या मध्य विभक्तिरूपों में विभक्त होते हैं, प्रथम में विभक्ति-चिह्नों का आरम्भ स्वर से होता है (तृतीया, चतुर्थी, पंचमी-षष्ठी, और सप्तमी एक०), दूसरे में व्यंजन से (तृतीया-चतुर्थी-पंचमी द्विव०; तृतीया, चतुर्थी-पंचमी और सप्तमी बहुव०)।

आ—सबल विभक्तिरूपों का विभाग, जैसा ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है, केवल पुंलिंग और स्त्रीलिंग प्रातिपदिकों में प्राप्त है। नपुंसक रूपविधान में सबल-विभक्तिरूप केवल प्रथमा द्वितीया बहुवचन में होते हैं, जब कि जिन प्रातिपदिकों में दुर्बलतम और मध्य रूप का भेद प्राप्त है, वहाँ प्रथमा-द्वितीया द्विव० दुर्बलतम कोटि में आता है और प्रथमा-द्वितीया एकव० मध्य में। इस प्रकार उदाहरणार्थ तुलना कीजिए (४०८) **प्रत्यञ्चि** प्रथमा-द्वितीया बहु० नपुं०, और **प्रत्यञ्चस्,** प्रथमा बहुव० पुं०, **प्रतीची,** प्रथमा-द्वितीया द्विव० नपुं०, और **प्रतीचीस्** षष्ठी सप्तमी द्विव०; **प्रत्यक्,** प्रथमा-द्वितीया एक नपुं०, और **प्रत्यग्भिस्,** तृतीया बहु०।

३१२—अन्य परिवर्तन मुख्यतः प्रातिपदिक के अन्त्य स्वर को लेकर ही होते हैं और इन्हें नीचे विस्तार में विशेष रूप से निर्दिष्ट करने के लिए छोड़ा जा सकता है। विशेष महत्त्व के चलते यहाँ उल्लेखनीय केवल अन्त्य इ या उ का गुण सबलीकरण ही है, जो कि उत्तरकालिक भाषा में प्रथमा बहुव० के अस् और पुं० और स्त्री० में चतुर्थी एक० के **ए** के पूर्व नित्य होता है; वेद में यह नित्य नहीं होता है; न तो नपुं० चतुर्थी एकव० में बाधित ही है; और यह कभी-कभी सप्तमी एकव० में देखा जाता है। अन्त्य ऋ का गुण सबलीकरण सप्तमी एकव० में मिलता है।

३१३—**प्रातिपदिक और विभक्ति-चिह्न के मध्य के आगम।** अजन्त प्रातिपदिकों के बाद युक्त **न्** विभक्ति-चिह्न से पूर्व बहुधा देखा जाता है। नपुं० प्रथमा द्वितीया बहुव० में यह उपांग न्यूनतम संदिग्ध प्रकृतिक होता है, जहाँ प्राचीन भाषा में अन् और इन् अन्त वाले प्रातिपदिकों के रूपों के साथ अ और इ अन्त वाले प्रातिपदिकों के रूपों का विनिमय पूर्ण है; और उकारान्त प्रातिपदिक इनके सादृश्य का पालन करते हैं। अन्यत्र यह षष्ठी बहुव० में सर्वाधिक व्यापक और नियत रूप से प्रतिष्ठित है जहाँ प्रयोगों की एक बड़ी संख्या में, और पूर्वतम काल से ही, स्वर के बाद विभक्ति-चिह्न वस्तुतः **नाम्** है। उत्तरकालिक भाषा के इ और उ अन्त वाले प्रातिपदिकों में पुं० और नपुं० का तृतीया एकवचन रूप इसी की उपस्थिति को लेकर स्त्री० से पृथक् होता है, और यही अन्य दुर्बलतम विभक्तिरूपों में नपुंसकरूपों को पुं० से भिन्न करता है; किन्तु वेद में वस्तुस्थिति बहुत विभिन्न है—वहाँ न् का आगम सर्वत्र कादाचित्क है; नपुंसक में इसके ग्रहण की कोई विशिष्ट प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती है, और यह स्त्रीलिंग से भी बहिर्भूत नहीं है। अकारान्त प्रातिपदिक के **एन** विभक्ति-चिह्न (उत्तरकाल में नित्य रूप से प्राप्त, पूर्वतर काल में प्रबलभाव से) में इसकी उपस्थिति मूल स्वरूप में सर्वाधिक परिवर्तन उत्पन्न करती प्रतीत होती है।

अ—सार्वनामिक अ और आ अन्त वाले प्रातिपदिकों में **स्** षष्ठी बहुवचन आम् के पूर्व **न्** का स्थान ग्रहण करता है।

आ—**ऐ, आस्** और **आम्** विभक्ति-चिह्नों के पूर्व आ के बाद का य् सर्वाधिक संभवतया मध्यागम है, जैसा कि अन्यत्र प्राप्त है (२५८)।

शब्दरूप में स्वराघात

३१४—अ—निरपवाद नियम के रूप में, संबोधन रूप, यदि कहीं वह उदात्त स्वर युक्त होता है, प्रथम अक्षर पर उदात्त बनाये रखता है।

आ—तथा वेद में (ऐसा प्रयोग विरल है) जहाँ कहीं अक्षर एकाक्षर की तरह लिखा रहता है और अन्तःस्थ को स्वर में प्रत्यावर्तित कर द्व्यक्षर की तरह उच्चारित होता है, संबोधन वाला स्वराघात प्रथम-अंश पर ही होता है, और अक्षर जैसा-कि लिखा जाता है, स्वरित होता है (८३-८४) यथा—**द्यौस्** (अर्थात् **दिऔस्**) यदि द्व्यक्षर होता है; किन्तु **द्यौस्** एकाक्षर होने पर **ज्यके** यदि यह जिआके के लिए है ।

इ—किन्तु संबोधनरूप केवल वहीं उदात्त होता है जहाँ यह वाक्य के आरम्भ में आता है—अथवा पद्य में पद्यात्मक विभाग या पाद के प्रारम्भ में भी; अन्यत्र उसमें उदात्त स्वर नहीं आता है या यह उदात्तस्वर रहित होता है। यथा—**अग्ने यं यज्ञं परिभूरसि** (ऋ० वे०) हे अग्नि, जिस यज्ञ की रक्षा तुम करते हो; किन्तु, **उप त्वाग्न एमसि** (ऋ० वे०) तुम्हारे पास, हे अग्नि, हम आते हैं ।

ई—संबोधन की विशेषता बतलाने वाले एक या एकाधिक शब्द—साधारणतया विशेषण अथवा समानाधिकरणी संज्ञा, किन्तु कभी-कभी षष्ठी विभक्ति में विशेषणीभूत संज्ञा (अन्य अवस्था में खूब विरल)—जहाँ तक स्वराघात का प्रश्न है, संबोधन के साथ एकता बनाये रहते हैं । इस प्रकार (सब उदाहरण ऋ० वे० के होते हैं) पाद के प्रारम्भ में संयोग के प्रथमाक्षर पर उदात्त वाले, **इन्द्र भ्रातः** हे भ्रातृरूप इन्द्र; **राजन् सोम** हे राजा सोम; **यविष्ठ दूत** सबसे अधिक युवा दूत; **होतर्यविष्ठ सुक्रतो** हे सर्वाधिक युवा निपुण होता; **ऊर्जो नपात सहस्वन्**, शक्ति के बलवान् पुत्र ! यदि पाद के मध्य में हो, तो बिना उदात्त के यथा—**सोमास इन्द्र गिर्वणः**, सोम, हे गीतप्रिय इन्द्र ! **तावश्विना भद्रहस्ता सुपाणी,** हे कल्याणकारी और सुन्दर हस्त वाले हे अश्विन ! **आ राजाना मह ऋतस्य गोपा** यहाँ, हे ऋत के दो महान् रक्षक, तुम दोनों ।

उ—दूसरी ओर, पाद के आरंभ में दो या अधिक मुख्य स्वतंत्र संबोधन नियमित और सामान्य रूप से एक समान उदात्त होते हैं : यथा—**पितर मातः** हे पिता, हे माता ! **अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः** हे अग्नि ! हे इन्द्र ! हे वरुण ! हे मित्र ! हे देव ! **शतमूते शतक्रतो** हे शत साहाय्य वाले ! हे शतक्रतु वाले । **वशिष्ठ शुक्र दीदिवः पावक,** हे सर्वोत्तम कान्तिमान् प्रकाशमान पूत ! **ऊर्जो न पाद् भद्रशोचे** शक्ति के पुत्र, हे कल्याणशुचि ! किन्तु ग्रन्थों में इसके और इसके पूर्ववर्ती दोनों नियमों के कादाचित्क अनियमित अपवाद मिलते हैं ।

ऊ—संक्षेप के लिए संबोधन द्वि० व० और बहुवचन नीचे रूपनिदर्शन में प्रथमा विभक्ति के साथ रखे जायेंगे। वहाँ प्रत्येक स्थल में इसके निर्देश की आवश्यकता नहीं होगी कि जहाँ कहीं प्रथमा-विभक्ति में प्रथमा अक्षर को छोड़कर उदात्त होगा, वहाँ संबोधन का स्वर भिन्न होगा।

३१५—अन्य विभक्तियों को लेकर उदात्त परिवर्तन के नियम एकाक्षरों से और एक से अधिक अक्षरों वाले उन प्रातिपदिकों से जिनका अन्त्य उदात्त होता है, केवल संबद्ध होते हैं; क्योंकि यदि प्रातिपदिक का उदात्त उपधा पर होता है, अथवा और पीछे किसी अक्षर पर होता है : यथा—**संपन्त्, वारि, भगवन्त्, सुमनस्, सहस्रवाज** में—सम्पूर्ण रूप-विधान में (अपवादरूप संबोधन होता है जैसा कि पूर्ववर्ती कदिका में निर्दिष्ट हो चुका है) उदात्त उसी अक्षर पर बना रहता है।

अ—मात्र अपवाद कुछ संख्यावाची प्रातिपदिक होते हैं, दे० ४८३।

३१६—अन्त्य पर उदात्त वाले प्रातिपदिक (एकाक्षर सम्मिलित हैं) शब्दरूप में स्वर-परिवर्तन के विषय मुख्यतः इस तथ्य को लेकर बनते हैं कि विभक्ति-चिह्नों में से कुछ स्वतः उदात्त ग्रहण की प्रवृत्ति रखते हैं, जब कि अन्य नहीं रखते या अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में रखते हैं। इस प्रकार :

अ—प्रथमा और द्वितीया के एकवचन और द्विवचन के और प्रथमा बहुवचन (अर्थात् सबल विभक्तिरूपों के, ३११) के विभक्ति चिह्नों में प्रातिपदिक से उदात्तत्व के अपहरण की प्रवृत्ति नहीं मिलती है, और इसलिए इनपर तभी उदात्त होता है जबकि प्रातिपदिक का अन्त्य अच् और विभक्ति चिह्न का अच् एक ही अच् में या सन्ध्यच् में एक साथ मिल जाते हैं। यथा—**दत्त** से **दत्तौ** (=**दत्त + औ**) और **दत्तास्** (=**दत्त + अस्**); किन्तु नदी से **नद्यौ** (=**नदी + औ**) और **नदयस्** (=**नदी + अस्**) होते हैं।

आ—अन्य सभी विभक्ति चिह्न कभी-कभी उदात्त स्वरयुक्त होते हैं, किन्तु अच् से आरम्भ होने वाले (अर्थात् दुर्बलतम रूपों के, ३११) हल् से आरम्भ होने वालों (मध्यरूपों के–३११) की अपेक्षा अधिक सहज भाव से ऐसे होते हैं। यथा **नौस्** से **नावा** और **नौभिस्** होते हैं; किन्तु **महन्त्** से **महता**, पर **महद्भिस्**।

फलतः, उदात्तस्वर के सामान्य नियम यों रखे जा सकते हैं :

३१७—एकाक्षरिक प्रातिपदिकों के शब्दरूप में उदात्तस्वर सभी दुर्बल विभक्तियों में (दुर्बलतम और मध्यम का कोई भेद न होता) विभक्ति-चिह्न पर

होता है : यथा—**नावा॑, नौभ्या॑म्, नावा॑म्, नौषु॑; वाचि॑, वाग्भि॑स्, वाचा॑म्, वाक्षु॑** ।

अ—किन्तु कुछ एकाक्षरिक प्रातिपदिक सर्वत्र उदात्त को सुरक्षित रखते हैं : यथा—**गो॑भिस्, ग॑वाम्, गो॑षु** । ऐसे प्रयोगों के लिए दे० नीचे, ३५०, ३६१ इ, ई, ३७२, ३९०, ४२७ । पुनः द्वितीया बहु० में प्रातिपदिक तो अधिक समय विभक्ति-चिह्न की अपेक्षा उदात्तयुक्त होता है, कुछ शब्दों में उदात्तत्व दोनों में से किसी पर संभव है ।

३१८—अनेकाक्षरिक व्यंजनान्त प्रातिपदिकों में से कुछ ही विभक्ति-चिह्न पर उदात्त को स्थानान्तरित होने देते हैं, और वैसा दुर्बलतम (मध्यम नहीं) विभक्तिरूपों में ही । ऐसे हैं :

अ—**अ॑न्त्** या **अ॑त्** वाले वर्तमानकालिक कृदन्त क्रियारूप : उदाहरणार्थ, **तुद॑न्त्** से **तुदता॑** और **तुदतो॑स्** और **तुदता॑म्** ; किन्तु **तुद॑द्भ्याम्** और **तद॑त्सु** ।

आ—इस प्रकार के कृदन्त क्रियारूप वाले कुछ विशेषण; यथा—**महता॑**, **बृहत॑स्** ।

इ—वे प्रातिपदिक, जिनका उदात्तयुक्त अन्त्य मध्यस्वरलोप के कारण आक्षरिक स्वरूप को खो देता है; यथा—**मज्ज्ञा॑, मूर्ध्ने॑, दाम्न॑स्** (**मज्ज॑न्** प्रभृति से, ४२३) ।

ई—अन्य विकीर्ण अवस्थाएँ विभिन्न शब्द-रूपों के अन्तर्गत निर्दिष्ट होंगी ।

उ—क्रिया-विशेषण जैसे प्रयुक्त विभक्ति-रूपों में कभी-कभी परिवर्तित स्वराघात देखा जाता है । दे० १११० मु० वि० ।

३१९—उदात्तयुक्त ह्रस्व अच् में अन्त होने वाले अनेकाक्षरिक प्रातिपदिकों में प्रातिपदिक के अन्त्य का उदात्त सुरक्षित होता है, यदि उसकी आक्षरिक तद्रूपता बनी रहती है । यथा **दत्त॑** से **दत्ते॑न** और **दत्ता॑य; अग्नि॑** से **अग्नि॑ना** और **अग्न॑ये;** और पुनः **दत्ते॑भ्यस्, अग्नि॑भिस्**, इत्यादि । अन्यथा उदात्त विभक्ति-चिह्न पर होता है : और वैसा, चाहे अन्त्य और विभक्ति चिह्न एक में मिल गये हों; उदाहरणार्थ,—**दत्तै॑स्, धेनौ॑, अग्नी॑न्, धेनू॑स्**, इत्यादि । अथवा चाहे अन्त्य विभक्ति-चिह्न से पूर्व अन्तःस्थ में परिवर्तित हो गया हो; यथा—**धेन्वा॑, पित्रा॑, जाम्यो॑स्, बाह्वो॑स्** आदि ।

अ—किन्तु **इ॑, उ॑** और **ऋ॑** अन्त वाले प्रातिपदिकों के षष्ठी बहु० का आम् उदन्त हो सकता है, और प्राचीनतर भाषा में नित्य होता है, यद्यपि यह न् द्वारा प्रातिपदिक से पृथक्कृत रहता है : यथा—**अग्नीना॑म्, धेनूना॑म्, पितृणा॑म्** ।

ऋ० वे० में प्रात्ययिक ईकारान्त प्रातिपदिकों में भी इसी प्रकार का विचलन सामान्यतया देखा जाता है, यथा—**बह्वीनाम्** । अकारान्त प्रातिपदिकों में केवल संख्यावाची (४८३ अ) इस नियम का अनुसरण करते हैं : यथा—**सप्तानाम्**, **दशानाम्** ।

३२०—समासों के उत्तरपदों जैसे ईकारान्त और ऊकारान्त धातु-शब्द सर्वत्र उदात्त को बनाये रहते हैं, विभक्ति चिह्नों में से किसी पर इसे स्थानान्तरित नहीं करते हैं। पुनः प्राचीनतर भाषा में दीर्घ अन्त्य अच् वाले अनेकाक्षरिक शब्द प्राप्त होते हैं जो अन्य विषयों की तरह यहाँ भी धातु-शब्दरूप (नीचे, ३५५ मु० वि०) के सादृश्य का पालन करते हैं। इनके अतिरिक्त प्रात्ययिक दीर्घाच् वाले प्रातिपदिकों की प्रक्रिया स्वरविधान को लेकर वैसी ही होती है जैसी ह्रस्वाच् वालों की—भेद इतना ही होता है कि षष्ठी बहुवचन में स्वर-निक्षेप आगे विभक्ति-चिह्न पर होता है।

अध्याय—५

संज्ञाएँ और विशेषण

३२१—अ—संज्ञा और विशेषण के रूप विधान में साम्य इतना घनिष्ठ है कि विवेचन में दोनों को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है।

आ—विवरण की सुविधा के लिए इन्हें यों विभक्त किया जा सकता है :

१ म अकारान्त शब्द;

२ म इकारान्त और उकारान्त शब्द;

३ य आकारान्त, ईकारान्त और ऊकारान्त शब्द :

अर्थात् अ—धातुमूलक शब्द (और कुछ अन्य जिनके रूप इनके समान चलते हैं);

आ—प्रात्ययिक शब्द;

४ थ—ऋ-(या अर्) कारान्त शब्द;

५ म—व्यंजनान्त शब्द।

इ—इस विभाजन और विन्यास में किसी प्रकार की पूर्णता नहीं है; अन्य की तरह इसमें भी कुछ आपत्तियों की संभावना सहज मानी जा सकती है। संस्कृत शब्दरूपों के क्रम और संख्या को लेकर विद्वानों में किसी प्रकार का

सामान्य ऐकमत्य प्राप्त नहीं हुआ है। यहाँ अकारान्त शब्दों का निरूपण प्रथमतः वर्ग की बड़ी व्यापकता के कारण होता है।

३२२—संज्ञा और विशेषण के बीच विभाजक-रेखा, जो प्राचीन भारत-यूरोपीय भाषा में सब समय अनिश्चित थी, संस्कृत में अन्य किसी की अपेक्षा अधिक ही अस्थिर है। तथापि, ऊपर जैसे विभाजित सभी शब्द रूपों में—केवल यदि हम ऋ या अर् अन्त वाले शब्दों को छोड़ दें—ऐसे शब्द मिलते हैं जो स्पष्टतः विशेषण हैं; और इनके रूप सामान्यतया ठीक उसी प्रकार चलते हैं जिस प्रकार समान अन्त्य वाले संज्ञा-शब्दों के। केवल व्यंजनान्त शब्दों में विशेषणों-शब्दों के कुछ उप-वर्ग प्राप्त हैं जिनमें रूप विधान की ऐसी विशिष्टताएँ हैं जिनका कोई अनुरूप संज्ञाओं में प्राप्त नहीं होता है। किन्तु विशेषण समासों के दो व्यापक वर्ग भी होते हैं जिनका विशिष्ट उल्लेख अपेक्षित है : यथा—

३२३—सामासिक विशेषण जिनका उत्तरपद मात्र क्रियामूलक धातु होता है जहाँ वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप की प्रयोगिता (३८३ अ, मु० वि०) रहती है। यथा—**सु-दृश्** देखने में सुन्दर; **प्र-बुध्** पहले से जानने वाला; **अद्रुह्** घृणा न करने वाला; **वेदविद्** वेद जानने वाला, **वृत्र-हन्** वृत्र को मारने वाला; **उपस्थ-सद्** गोद में बैठने वाला। प्रत्येक धातु इस ढंग से प्रयुक्त हो सकती है, और भाषा के सभी कालों में ऐसे समास विरल नहीं हैं। देखिए समासों के अध्याय को, नीचे (१२६९)।

अ—यह वर्ग मुख्यतः सामासिक-विशेषणों का विशिष्ट वर्ग ही है, क्योंकि पूर्वतम वेद में सरल तथा समस्त धातु कभी-कभी विशेषणवत् प्रयुक्त थी। किन्तु प्रारम्भ से ही सामासिक धातु अपेक्षाकृत अधिक समय प्रयुक्त हुई है, तथा उत्तरकाल में और भी अधिक आत्यन्तिक रूप से, जिसके चलते यह वर्ग वस्तुतः स्वतंत्र और प्रमुख हो जाता है।

३२४—सामासिक विशेषण जिनका उत्तर पद संज्ञा है, किन्तु जो मत्वर्थीय भाव से युक्त होने से अथवा विशेषणों की त रह तीनों लिंगों में रूपायित होने से विशेषणात्मक अर्थ का ग्रहण गौण रूप से करते हैं। यथा—**प्रजाकाम** सन्तान की इच्छा, जिससे विशेषण प्रजाकाम, इसका अर्थ होता है सन्तान का इच्छुक (अर्थात्, इच्छा वाला); **सभार्य (स+भार्या)** साथ में पत्नी वाला; इत्यादि।

अ—कुछ अवस्थाओं में पुनः उत्तरपद की संज्ञा वाक्यार्थ को लेकर पूर्ववर्ती पद (१३०९-१०) का कर्म होती है : यथा—**अतिमात्र** अतिशय (अति मात्रम्-परिमाण से अधिक); **यावयद्द्वेषस्** शत्रुओं को दूर करने वाला।

३२५—फलतः, प्रत्येक शब्दरूप में हमें यह देखना है कि विशेषण-समास के उत्तरपद होने से उस शब्द की धातु या संज्ञा-शब्द का रूपविधान किस ढंग से होता है।

अ—स्वर के प्रसंग में यहाँ इतना ही उल्लेख करना अपेक्षित है कि समास के अन्त में आने वाला धातु-शब्द उदात्त है, किन्तु (३२०) एकाक्षरिक स्वराघात के वैशिष्ट्य को खो देता है, और सुर को आगे विभक्ति-चिह्न पर (कुछ प्राचीन रूपों में **अञ्च्** को छोड़कर, ४१०) नहीं फेंकता है।

शब्दरूप—१ म

अकारान्त (पुंलिंग और नपुंसक) शब्द

३२६—अ—इस शब्द रूप में भाषा के समग्र रूपायित शब्दों की बड़ी संख्या आ जाती है।

आ—इसके विभक्ति-चिह्न अन्य किन्हीं की अपेक्षा अधिक व्यापक ढंग से सामान्य स्थिति से भिन्न होते हैं।

३२७—**विभक्तिचिह्न—एकवचन**। अ। पुं० प्रथमा में सामान्य विभक्ति-चिह्न स् होता है।

आ—(पुं० और नपुं०) द्वितीया में म् (अम् नहीं) जुड़ता है; और यही रूप नपुं० प्रथमा का कार्य भी करता है।

इ—उत्तरकालिक भाषा में तृतीया **अ** को **एन** में नित्य रूप से परिवर्तित करती हैं; और प्राचीनतम वैदिक भाषा में भी यह प्रधान विभक्ति-चिह्न (ऋ० वे० में सभी प्रयोगों के नौ में आठ) है। वैदिक छन्द में इसका अन्त्य बहुधा दीर्घ (**एना**) बना दिया जाता है। किन्तु नियत विभक्ति-चिह्न आ—यथा, **यज्ञा॑, सुहवा, महित्वा॑** (**यज्ञे॑न** प्रभृति के लिए) भी वेद में विरल नहीं हैं।

ई—चतुर्थी में **आय** (जैसे कि **अ** में **अय** जोड़कर) भाषा के सभी कालों में समान रूप से पाया जाता है।

उ—पंचमी में **त्** (या निःसन्देह **द्** —संस्कृत के साक्ष्य पर यह कहना असंभव है कि विभक्ति चिह्न का मूल रूप क्या है प्राप्त है) जिससे पूर्व आ दीर्घ होता है। यह विभक्ति-चिह्न अन्य किसी संज्ञा-शब्द रूप में प्राप्त नहीं है, और अन्यत्र केवल (सभी वचनों के) पुरुषबोधक सर्वनामों में मिलता है।

ऊ—षष्ठी में अन्त्य **अ** के साथ **स्य** जुड़ा है, और यह विभक्ति-चिह्न भी अकार-शब्दों में (सर्वनाम **अमुष्य** के एकमात्र अपवाद-रूप के साथ, ५०१)

सीमित है। वेद में इसका अन्त्य **अ** केवल तीन स्थलों में दीर्घ किया जाता है, और इसका **य्** प्रायः विरल रूप से स्वरीकृत (**असिअ**) है।

ए—सप्तमी के अन्त में निरपवाद रूप से **ए** (जैसा कि शब्द के अन्त्य के साथ नियत विभक्ति-चिह्न **इ** को जोड़कर) पाया जाता है।

ऐ—संबोधन रूप मात्र प्रातिपदिक होता है।

३२८—**द्विवचन**। अ—द्विवचन विभक्ति चिह्न सामान्यतया नियमित है।

आ—उत्तरकालिक भाषा में पुं० प्रथमा, द्वितीया और संबोधन नित्य रूप से **औ** अन्त वाले होते हैं। किन्तु वेद में सामान्य विभक्ति चिह्न शुद्ध **आ** (ऋ० वे० में प्रयोगों के आठ में से सात में) है। नपुं० में ये विभक्तियाँ **ए** अन्त वाली होती हैं जो **ए** नियत विभक्ति चिह्न **ई** के साथ शब्दान्त्य के संमिश्रण के परिणामस्वरूप प्रतीत होता है।

इ—तृतीया, चतुर्थी और पंचमी में **भ्याम्** (केवल एक या दो वैदिक प्रयोगों में **भिआम्** जैसा विघटित) पाया जाता है, इसके पूर्व शब्दान्त्य आ में दीर्घीकृत है।

ई—षष्ठी और सप्तमी में शब्दान्त्य के बाद और **ओस्** के पूर्व **य्** मध्यागम होता है (अथवा जैसा कि **अ ए** में परिवर्तित हो गया हो)। एक या दो (संदिग्ध) वैदिक प्रयोगों में (जैसा कि **एनोस्** और **योस्** सार्वनामिक रूपों में भी) अन्त्य अ की जगह ओस् का आदेश होता है।

३२९—**बहुवचन**। अ—उत्तरकालिक भाषा में पुं० प्रथमा में नियत विभक्ति चिह्न **अस्** है, जो अन्त्य **अ के** साथ मिलकर **आस्** हो जाता है। किन्तु वेद में विभक्ति चिह्न **आसस्** इसके स्थान में अधिकतर (ऋ० वे० में प्रयोगों के तीन में से एक में, अ० वे० के विशिष्ट खण्डों में पचीस में से एक मात्र ही) प्राप्त है।

आ—पुं० द्वितीया-विभक्ति के अन्त में लगने वाला चिह्न **आन्** है (प्राचीनतर **आन्स्** के लिए, जिनके पर्याप्त अवशेष वेद में प्राप्त हैं, और स्पष्ट श्रुतिसंयोजन के प्रच्छन्न रूप में उत्तरकालिक भाषा में भी, देखिए ऊपर, २०८ मु० वि०)।

इ—नपुं० प्रथमा और द्वितीया में नित्य रूप से उत्तरकालिक भाषा में विभक्ति चिह्न **आनि** (अन् अन्त वाले शब्दों की तरह, देखिए ४२१; अथवा जैसे कि नियत **इ** के पूर्व, षष्ठी बहुवचन की तरह, **न्** के साथ) मिलता है। किन्तु वेद में यह विभक्ति-चिह्न सरल **आ** के विकल्प रूप से (जो ऋ० वे० में **आनि** के साथ तीन और दो के अनुपात में होता है, अ० वे० में तीन और चार के अनुपात में) आता है।

ई—उत्तरकाल में तृतीया विभक्त्यन्त नित्य रूप से **ऐस्** होता है; किन्तु वेद में अपेक्षाकृत अधिक नियत रूप **एभिस्** पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है (ऋ० वे० में लगभग **ऐस्** के बराबर; अथर्ववेद में तीन और चार के अनुपात में)।

उ—चतुर्थी और पंचमी में विभक्ति-चिह्न **भ्यस्** मिलता है, इससे पूर्व अन्त्य **अ** के स्थान में **ए** आता है (जैसा कि वैदिक तृतीया **एभिस्** षष्ठी-सप्तमी द्विवचन (?) और तृतीया एकवचन में)। वेद में **एभिअस्** में विघटन विरल नहीं है।

ऊ—षष्ठी का विभक्ति-चिह्न **आनाम्** होता है, जहाँ अन्त्य **अ** दीर्घ हो गया है और नियत विभक्ति-चिह्न से पूर्व **न्** का अन्तर्निवेश हुआ है। विभक्ति-चिह्न के **आ** को अविरले (लगभग प्रयोगों के आधे में) दो अक्षरों-**अअम्**-की तरह पढ़ना अपेक्षित है—यह विघटन ऐतिहासिक है अथवा मात्र छन्द लेकर, इस विषय में विद्वानों के मत विभिन्न हैं। **आनाम्** के स्थान में सरल **आम्** के अति अल्पसंख्यक उदाहरण (लगभग आधे दर्जन के) ऋ० वे० में आते हैं।

ए—सप्तमी-विभक्ति **एषु** से अन्त होती है—अर्थात् नियत विभक्ति-चिह्न के साथ, जिसके पूर्व शब्दान्त्य **ए** में (ष् में स् के परिणामी परिवर्तन के साथ—१८०) परिवर्तित हो जाता है।

ऐ—इस शब्दरूप में स्वर-प्रक्रिया लेकर कुछ भी कहना अपेक्षित नहीं है; शब्द में उदात्त वाला अक्षर अपना स्वर सर्वत्र बनाये रखता है।

३३०—**शब्दरूप के उदाहरण**। अकारान्त शब्दों के रूपविधान के उदाहरणों के लिए **काम** पुं० प्रेम; **देव** पुं० ईश्वर; **आस्य** नपुं० मुँह प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

एकवचन :

प्र०	कामस्	देवस्	आस्यम्
द्वितीо	कामम्	देवम्	आस्यम्
तृ०	कामेन	देवेन	आस्येन
च०	कामाय	देवाय	आस्याय
पं०	कामात्	देवात्	आस्यात्
ष०	कामस्य	देवस्य	आस्यस्य
स०	कामे	देवे	आस्ये
सं०	काम	देव	आस्य

द्विवचन :

प्र० द्विती० सं०	कामौ	देवौ	आस्ये
तृ० च० पं०	कामाभ्याम्	देवाभ्याम्	आस्याभ्याम्
ष० स०	कामयोस्	देवयोस्	आस्ययोस्

बहुवचन :

प्र० सं०	कामास्	देवास्	आस्यानि
द्विती०	कामान्	देवान्	आस्यानि
तृ०	कामैस्	देवैस्	आस्यैस्
च० पं०	कामेभ्यस्	देवेभ्यस्	आस्येभ्यस्
ष०	कामानाम्	देवानाम्	आस्यानाम्
स०	कामेषु	देवेषु	आस्येषु

विशिष्ट वैदिक रूपों के उदाहरण होते हैं :

अ—एक० तृ० रथेना, यज्ञा (अश्वसिआ जैसे षष्ठी-रूप बिल्कुल कादाचित्क हैं)।

आ—द्विवचन—पुं० प्रथमा प्रभृति देवा; ष० स० पस्त्योस् (शब्द पस्त्य)।

इ—बहु०—पुं० प्र० सं० देवासस् ; नपुं०, युगा, तृ० देवेभिस् ; ष० चरथाम् , देवानअम् ।

३३१—संज्ञाओं में इस शब्द रूप को लेकर किसी प्रकार की अनियमितताएँ नहीं होती हैं। अनियमित अ (या अन्) अन्त वाले संख्यावाची शब्दों के लिए देखिए ४८३–४। अकारान्त सर्वनामवाची शब्दों की अनियमितताओं के लिए, जो कि कुछ सार्वनामिक विशेषणों में भी अल्पाधिक मात्रा में प्राप्त होती हैं, देखिए सर्वनामों का अध्याय ४९५ मु० वि०)।

विशेषण

३३२—अकारान्त मूल विशेषण अत्यन्त बृहद् वर्ग वाले होते हैं, सब विशेषणों के बहुसंख्यक। किन्तु अकारान्त शब्द की तरह किसी प्रकार का विषय उपलब्ध नहीं होता है; स्त्रीलिंग के लिए अ आ में परिवर्तित हो जाता है—अथवा बहुधा, यद्यपि अपेक्षाकृत कम, ई में; और तब इसका शब्दरूप सेना या देवी (३६४) की तरह चलता है। अकारान्त विशेषण शब्द के सम्पूर्ण शब्दरूप का उदाहरण तीनों लिंगों में नीचे (३६८) दिया जायगा।

अ—पुं० नपुं० अकारान्त शब्द अपना स्त्रीलिंग रूप **आ** से बनायेगा या **ई** में, यह विषय अधिकांशतः यथार्थ प्रयोग द्वारा ही निर्धारित है, व्याकरणिक नियमों द्वारा नहीं। किन्तु शब्दों के कुछ प्रसिद्ध वर्ग सूचित किये जा सकते हैं जिनसे स्त्रीलिंग के बोध के लिए अपेक्षाकृत अल्प सामान्य अन्त्य-प्रत्यय **ई** गृहीत है। यथा—(१) प्रथम अक्षर की वृद्धि के साथ (बड़ी संख्या में) अ अन्त वाले तद्धितान्त शब्द (१२०४); उदाहरणार्थ, **आमित्र-त्री, मानुष-षी, पावमान-नी, पौर्णमास-सी**; (२) धातुमूलक अक्षर पर उदात्त से युक्त अन अन्त वाले कृदन्तशब्द (११५०) : यथा—**चोदन-नी, संग्रहण-णी, सुभागंकरण-णी**; (३) धातुमूलक अक्षर के सबलीकरण वाले अकारान्त कृदन्त-शब्द, जिनमें अर्धकृदन्तक्रियारूपात्मक अर्थ रहता है; जैसे—**दिवाकर-री, अवक्राम-मी, रथवाह-ही** (किन्तु अनेक अपवाद यहाँ होते हैं;) (४) **मय** (१२२५) और **तन** (१२४५ उ) अन्त वाले तद्धितान्त शब्द; उदाहरणार्थ, **अयस्मय-यी; अद्यतन-नी**; (५) सर्वाधिक क्रमसूचक संख्यावाची शब्द (४८७ ऐ) : यथा—**पञ्चम-मी, नवदश-शी, त्रिंशत्तम-मी**। ऐसे भी शब्द कम नहीं हैं जिनमें स्त्रीलिंग में आ या ई कोई भी लग सकता है : जैसे **केवला** या-**ली**, **उग्रा-ग्री, पापा** या-**पी**, **रामा** या-**मी**; किन्तु साधारणतया इनमें से एक ही नियमित माना जाता है।

३३३—**अ** अन्त वाले क्रियामूलक उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु धातु के अन्त्य **आ** (और विरले अन्त्य **अन्**) के स्थान में कभी-कभी **अ** आदेश होता है, और तब साधारण अकारान्त विशेषण की तरह इसके रूप चलते हैं (देखिए नीचे, ३५४)।

३३४—अ—विशेषण समास के उत्तरपद में रहने पर अकारान्त संज्ञा के रूप अकारान्त मूल विशेषण के समान चलते हैं; इसका स्त्रीलिंग उसी प्रकार **आ** अथवा **ई** लगाकर बनाया जाता है (३६७)।

आ—अधिकांशतः, विशेषण समास का, जिसका उत्तरपद अकारान्त संज्ञा हो, स्त्रीलिंग **आ** से बनता है। किन्तु इसके अनेक अपवाद होते हैं; कुछ संज्ञाओं में सामान्य रूप से अथवा नित्यरूप से यहाँ **ई** गृहीत है। इनमें से कुछ सर्वाधिक प्रयुक्त ये हैं : **अक्ष** आँख (यथा—**लोहिताक्षी, दिव्याक्षी, गवाक्षी**), **पर्ण** पत्ता (यथा—**तिलपर्णी, सप्तपर्णी**; किन्तु **एकपर्णा**), **मुख** मुँह (यथा—**कृष्णमुखी, दुर्मुखी**; किन्तु **त्रिमुखा** इत्यादि), **अङ्ग** अवयव, शरीर (यथा—**अनवद्याङ्गी, सर्वाङ्गी**, किन्तु **चतुरंगा** इत्यादि) **केश** बाल (यथा—**सुकेशी**,

मुक्तकेशी अथवा-**शा**, आदि), **कर्ण** कान (यथा—**महाकर्णी** किन्तु **गोकर्णा** आदि), **उदर** पेट (यथा—**लम्बोदरी**), **मूल** जड़ (यथा—**पंचमूली**, किन्तु अधिकतर **शतमूला**, आदि)। ऐसी संज्ञाओं की बड़ी संख्या (जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट है) शरीरांगों को द्योतित करती है।

इ—दूसरी ओर, आ प्रत्यय में अन्त होने वाली स्त्रीलिंग संज्ञा पुं० और नपुं० प्रातिपदिक बनाने में अपने अन्त्य को अ में ह्रस्व कर देती है, देखिए ३६७ इ।

ई—कतिपय स्थलों में व्यंजनान्त संज्ञाएँ समासों के उत्तर पद में रहने पर आगमित प्रत्यय **अ** (१२०९ अ) अथवा **क** (१२२२) द्वारा अकारान्त शब्द रूप में परिवर्तित हो जाती हैं।

शब्दरूप २ य

(सभी लिंगों के) इकारान्त और उकारान्त शब्द

३३५—इकारान्त और उकारान्त शब्दों के रूप एक दूसरे के साथ इतनी निकट समानता लेकर चलते हैं कि इन्हें दो पृथक् शब्द-रूपों में विभक्त नहीं किया जा सकता है। ये तीनों लिंगों के होते हैं; और सामान्यतया बहु-संख्यक हैं—इकारान्त वाले शब्द उकारान्त वालों की अपेक्षा, विशेषतः स्त्रीलिंग में, बड़ी संख्या में हैं (नपुंसक में इकारान्तों की अपेक्षा उकारान्त अधिक होते हैं)।

अ—इस शब्द रूप के विभक्ति-चिह्न भी नियत से बहुल और व्यापक रूप में भिन्न होते हैं, और प्राचीनतर भाषा में अनियमितताएँ अनेक होती हैं।

३३६—**विभक्ति-चिह्न—एकवचन।** अ—पुं० और स्त्री० प्रथमा में शब्द के साथ नियत चिह्न—**स्** जोड़ा जाता है। नपुं० प्रथमा और द्वितीया प्रातिपदिक मात्र होती है, कोई विभक्ति-चिह्न नहीं लगता है। वेद में कुछ नपुंसकों का अन्त्य उ दीर्घ (२४८ आ) हो जाता है। यथा—**उरू॑**, **पुरू॑**।

आ—पुं० और स्त्री० द्वितीया शब्द के साथ **म्** जोड़ती है। **इअम्** और **उअम्** अन्त वाले और **न्** से युक्त **इनम्** और **उनम्** अन्त वाले वैदिक रूप अत्यधिक विरल और संदिग्ध हैं।

इ—उत्तरकालिक भाषा में स्त्री० तृतीया केवल नियत विभक्ति-चिह्न का ग्रहण करती है, किन्तु पुं० और नपुं० इससे पूर्व न् का अन्तर्निवेश करते हैं जिससे **इना** और **उना** बनाते हैं। किन्तु वेद में **या** और **वा** (अथवा **इआ** और **उवा**) वाले रूप भी पुं० और नपुं० में कम नहीं है। पुनः, स्त्री० **या**

का संकोच बहुधा (प्रयोगों की दो तिहाई में) **ई** में होता है, और यह भी कभी-कभी ह्रस्व **इ** हो जाता है। आधे दर्जन के उकारान्त शब्दों से क्रिया-विशेषणात्मक तृतीयारूप **उया** अन्त वाला प्राप्त होता है।

ई—पुं० और स्त्री० चतुर्थी **ए** विभक्ति-चिह्न से पूर्व शब्दान्त्य को गुणित कर लेती है, इस प्रकार **अये** और **अवे** बनाती है। वेद में भी समान रूप से ये प्रचलित विभक्ति-चिह्न होते हैं, किन्तु अपेक्षाकृत अधिक सामान्य **ये** और **वे** (अथवा **उए**) भी आते हैं; और स्त्री० में इस विभक्ति के साथ, तृतीया की तरह, कभी-कभी **इए** के स्थान में **ई** रूप प्राप्त है। उत्तरकालिक भाषा में यहाँ नपुंसक के साथ अन्य सभी दुर्बलतम रूपों की तरह नियत विभक्ति-चिह्न से पूर्व **न्** का आगम अपेक्षित हैं, किन्तु वेद में इस प्रकार के रूप केवल कादाचित्क हैं; और नपुं० चतुर्थी में भी अन्य लिंगों की तरह **अये, वे, अवे** रूप प्राप्त होते हैं।

उ—पूर्वतर और उत्तर दोनों भाषाओं में पुं० और स्त्री० पंचमी और षष्ठी में इसके पूर्ववर्ती स्वर को गुणित कर विभक्ति-चिह्न **स्** लगता है; इस प्रकार **एस्** और **ओस्** प्राप्त होते हैं; और वेद में नपुं० रूप भी इसी प्रकार बनते हैं; यद्यपि उत्तरकाल में अपेक्षित **उनस्** भी विरल नहीं है (**इनस्** अनुपलब्ध है)। किन्तु पुं० और नपुं० दोनों में नियत रूप **यस्** (या **इअस्**) और **वस्** (या **उअस्**) भी सामान्य हैं। पुं० विभक्ति-चिह्न के रूप में **उनस्** दो बार ऋ० वे० में आता है। असंगत **दिद्योत्** (तथा तै० सं० में; अनुरूपी स्थलों में **विद्योत्** वा० सं०, **दिद्यौत्** काठक० **दिदिवंस्** मै० सं०) संदिग्ध स्वरूप वाला होता है।

ऊ—उत्तरकालिक भाषा में पुं० और स्त्री० सप्तमी के साथ नियमित विभक्ति-चिह्न के रूप में **इ** और **उ**, दोनों अन्त्यों को प्रतिस्थापित कर **औ** आता है। और यह वेद में भी सर्वाधिक विभक्ति-चिह्न है; किन्तु इसके साथ-साथ, इकारान्त शब्द (ऋ० वे० में आधे के लगभग प्रयोग) अपने सप्तमी रूप **इ** अन्त वाले बनाते हैं : यथा—**अग्ना**, और यह नपुंसक में भी एक बार प्राप्त होता है। ऋ० वे० में उकारान्त शब्दों से पुं० और नपुं० सप्तमी रूपों के अनेक उदाहरण **अवि** (सामान्य विभक्ति-चिह्न और इसके पूर्व गुणित **उ**) में मिलते हैं; और इकारान्त शब्दों से तद्रूपी **अयि** के कुछ संदिग्ध सूचक प्राप्त हैं। इकारान्त शब्दों से आधे दर्जन के सप्तमी विभक्तिरूप **ई** में बने हैं (वैदिक वैयाकरणों ने इन्हें **प्रगृह्य** अथवा असंयुज्य माना है, १३८ ई)। उत्तरकालिक

भाषा नपुं० सप्तमी रूपों को इनि और उनि में बनाती है; किन्तु प्रथम प्राचीनतम ग्रन्थों में कभी उपलब्ध नहीं होता है, और द्वितीय खूब विरले ही प्राप्त है।

ए—उत्तरकालिक व्याकरण के अनुसार स्त्री० चतुर्थी, पंचमी-षष्ठी और सप्तमी के रूप दीर्घ-स्वरान्त शब्दों के परिपूर्ण स्त्री० अन्त्य प्रत्ययों—यथा **ऐ**, **आस्** (जिनके लिए ब्राह्मण आदि में **ऐ** का आदेश प्राप्त है, ३०७ ए) और **आम्**—के द्वारा इच्छानुसार बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार के रूप प्राचीनतम भाषा में इकारान्त शब्दों से भी खूब विरल हैं (ऋ० वे० में सब मिलाकर ४० प्रयोगों से भी कम, अ० वे० इनके तिगुने जैसे); और उकारान्त शब्दों से ये प्रायः अज्ञात हैं (ऋ० वे० और अ० वे० में पाँच)।

ऐ—पूर्वतर और उत्तरकालिक भाषाओं में समान रूप से पुं० और स्त्री संबोधन शब्द के अन्त्य को गुणित कर देता है। नपुंसक में आगे चलकर यह या तो तद्रूप बना रह सकता है या अपरिवर्तित शब्द; और प्राचीनतर काल में भी ऐसा प्रयोग सम्भवतः था; इस तथ्य के प्रमाण के लिए उद्धरणीय उदाहरण पर्याप्त नहीं है (अ० वे० में एक बार **उ** प्राप्त हैं, और वा० सं० में एक बार **ओ**)।

३३७—**द्विवचन**। अ—शब्द के अन्त्य को दीर्घ कर पु० और स्त्री० पु० द्विवचन संबोधन विभक्ति रूप बनाने में उत्तरकालिक और पूर्वकालिक दोनों भाषाएँ सहमत हैं। (ऊपर दिये गये नियम के अनुसार) नपुंसक की ये विभक्तियाँ आगे चलकर **इनी** और **उनी** में अन्त होती हैं; किन्तु वेद में ये विभक्ति-चिह्न प्रायः अज्ञात हैं (क्योंकि ये प्रयोग वस्तुतः विरल ही हैं)—अ० वे० में **इनी** दो बार (ऋ० वे० में संभवतः एक बार) मिलता है; वा० सं० में **उनी** एक बार प्राप्त है; ऋ० वे० में एक उकारान्त शब्द से **उनी** पाया जाता है, और एक या दो ईकारान्त शब्दों से **ई**, एक बार ह्रस्वीकृत **इ**, प्राप्त होता है।

आ—सभी लिंगों में तृ० च० पं० का अपरिवर्ती विभक्ति-चिह्न **भ्याम्** है, जो अपरिवर्तित शब्द में जुड़ा रहता है।

इ—सभी कालों की ष० सप्तमी पुं० और स्त्री० में शब्द के साथ ओस् जोड़ती है; नपुं० में उत्तरकालिक भाषा, यथा अन्यत्र दुर्बलतम रूपों में, **न्** को अन्तर्निविष्ट करती है, सम्भवतः पूर्वतर वैदिक में रूप अन्य लिंगों की तरह होगा; किन्तु एकमात्र प्राप्त प्रयोग अ० वे० में **उनोस्** अन्त वाला है।

३३८—**बहुवचन**। अ—पुं० और स्त्री० प्र० सं० में नियत विभक्ति-चिह्न **अस्** गुणित पदान्त्य के साथ जोड़ा जाता है; इस प्रकार यह **अयस्** और **अवस्** बन जाता है। वेद में अपवाद बहुत कम होते हैं—दोनों लिंगों में एक शब्द (**अरि**) के साथ **इअस्** प्राप्त है; और कुछ स्त्री० शब्दों के साथ (ईकारान्त

शब्दों की तरह) **ईस्**; और बहुत कम उकारान्त शब्दों के साथ **उअस्**। आगे चलकर नपुं० प्र० द्विव० रूप **ईनि** और **ऊनि** अन्त वाला होता है (अकारान्त से **आनि** की तरह, ३२९ इ); किन्तु वेद में **ईनि** की अपेक्षा अधिक समय (प्रायः समानता से प्राप्त) **ई** और **इ** प्राप्त है; और **ऊनि** की अपेक्षा आधे से अधिक स्थलों में **ऊ** और (अधिक सामान्य रूप से) **उ**।

आ—प्राचीनतर **ईन्स्** और **ऊन्स्** के लिए—जिनके स्पष्ट सूचक वेद में प्रयोगों के लगभग आधे में सुरक्षित हैं, और उत्तरकालिक भाषा में भी जो ध्वनि-संयोजन (२०८ मु० वि०) के रूप में प्राप्त हैं—**ईन्** और **ऊन्** विभक्ति-चिह्न पुं० द्वितीया के अन्त में लगते हैं। स्त्री० द्वितीया **ईस्** और **ऊस्** अन्त वाली होती है। किन्तु वेद में **इअस्** और **उअस्** अन्त वाले पुं० और स्त्री० दोनों ही रूप अपरिमित मात्रा में प्राप्त हैं।

इ—सभी लिंगों की तृतीया शब्द के साथ **भिस्** जोड़ती है।

ई—सभी लिंगों की च० पंचमी में शब्द से विभक्ति चिह्न **भ्यस्** (वेद में **भिअस्** प्रायः कहीं नहीं) लगता है।

उ—सभी लिंगों की षष्ठी समान ढङ्ग से **ईनाम्** और **ऊनाम्** (जिनका **आ** वेद में बहुधा **अअम्** में विघटनीय है) अन्त में बनायी जाती है। शब्द, जिनका अन्त्य उदात्त होता है, स्वरनिक्षेप आगे विभक्ति-चिह्न पर उत्तरकालिक भाषा में वैकल्पिक रूप से और पूर्वतरकालिक भाषा में नित्य रूप से करते हैं।

ऊ—सभी लिंगों की सप्तमी विभक्ति में **सु** (**षु** की तरह, १८०) शब्दान्त्य के साथ जुड़ता है।

ए—उपर्युक्त सामान्य नियमों के अनुसार स्वर-विधान होता है, और ऐसी अनियमितताएँ नहीं प्राप्त होती हैं जिनका विशेष उल्लेख अपेक्षित हो।

३३९—शब्दरूप के उदाहरण। इकारान्त शब्दों के आदर्शों के रूप में **अग्नि** पुं० आग; **गति** स्त्री० चलने का ढङ्ग; **वारि** नपुं० पानी शब्द लिये जा सकते हैं।

एकवचन :

प्र०	अग्निस्	गतिस्	वारि
द्विती०	अग्निम्	गतिम्	वारि
तृ०	अग्निना	गत्या	वारिणा
च०	अग्नये	गतये, गत्यै	वारिणे
पं० ष०	अग्नेस्	गतेस्, गत्यास्	वारिणस्
स०	अग्नौ	गतौ, गत्याम्	वारिणि
सं०	अग्ने	गते	वारि, वारे

द्विवचन :

प्र०द्विती०सं०	अग्नी	गती	वारिणी
तृ०च०पं०	अग्निभ्याम्	गतिभ्याम्	वारिभ्याम्
ष० स०	अग्न्योस्	गत्योस्	वारिणोस्

बहुवचन :

प्र० सं०	अग्नयस	गतयस्	वारीणि
द्विती०	अग्नीन्	गतीस्	वारीणि
तृ०	अग्निभिस्	गतिभिस्	वारिभिस्
च० पं०	अग्निभ्यस्	गतिभ्यस्	वारिभ्यस्
ष०	अग्नीनाम्	गतीनाम्	वारीणाम्
सं०	अग्निषु	गतिषु	वारिषु

३४०—वैदिक भाषा में रूपों के कुछ, जो कि उत्तरकाल में सामान्य हैं, के अभाव को अधिक स्पष्ट ढङ्ग से अंकित करने के लिए वैदिक प्रयोग के सभी रूप नीचे दिये जाते हैं, और ये अपने पुनरावर्तन के क्रम में हैं।

अ—एकवचन—प्र० अग्निस् प्रभृति, ऊपर जैसे।

आ—पुं० द्विती०, अग्निम्, यर्यिअम्, ऊर्मिणम् (?); स्त्री० और नपुं० ऊपर की तरह।

इ—पुं० तृ०; अग्निना, रय्या और ऊर्मिआ; स्त्री० अचित्ती, ऊतिआ, मत्या, सुवृक्ति, धासिना; नपुं० अनुपलब्ध।

ई—पुं० च०, अग्नये, स्त्री० तुजये, ऊती, तुयै; नपुं० शुचये।

उ—पुं० पं० और ष०, अग्नेस्, अव्यस्, अरिअस्; स्त्री० अदितेस्, हेत्यास् और भूमिआस्; नपुं० भूरेस्।

ऊ—पुं० स०, अग्नौ, अग्ना, आजयि (?) स्त्री० आगतौ, उदिता, धनसातयि (?), वेदी, भूम्याम्; नपुं० अप्रता, सप्तरश्मौ।

ए—सं० ऊपर जैसा (नपुं० अप्राप्त)।

ऐ—द्विवचन। पुं० प्र० द्विवचन सं०, हरी; स्त्री० युवती; नपुं० शुची, महि, हरिणी (?)

आ—तृ० च०-पं० ऊपर जैसे।

ओ—पुं० ष० स०, हरिओस्; स्त्री० युवत्योस् और जामिओस्; नपुं० अप्राप्त।

क—बहुवचन। पुं० प्र०, अग्नयस्; स्त्री० मतयस्, भूमीस्; नपुं० शुची, भूरि, भूरीणि।

ख—पुं० द्विवचन अग्नीन्; स्त्री० क्षितीस्; शुचयस् (?)

ग—तृ०, च०-पं० और स०, ऊपर जैसे।

घ—पुं० स्त्री० ष०, कवीनाम्, ऋषीणअम्, प्रभृति (नपुं० अप्राप्त)।

३४१—उकारान्त शब्दों के आदर्शों के रूप में शत्रु पुं० दुश्मन, धेनु स्त्री० गाय; मधु नपुं० शहद लिये जा सकते हैं।

एकवचन :

प्र०	शत्रुस्	धेनुस्	मधु
द्विती०	शत्रुम्	धेनुम्	मधु
तृ०	शत्रुणा	धेन्वा	मधुना
च०	शत्रवे	धेनवे, धेन्वै	मधुने
पं० ष०	शत्रोस्	धेनोस्, धेन्वास्	मधुनस्
स०	शत्रौ	धेनौ, धेन्वाम्	मधुनि
सं०	शत्रो	धेनो	मधु, मधो

द्विवचन :

प्र०द्विती०सं०	शत्रू	धेनू	मधुनी
तृ० च० पं०	शत्रुभ्याम्	धेनुभ्याम्	मधुभ्याम्
ष० स०	शत्र्वोस्	धेन्वोस्	मधुनोस्

बहुवचन :

प्र० सं०	शत्रवस्	धेनवस्	मधूनि
द्विती०	शत्रून्	धेनूस्	मधूनि
तृ०	शत्रुभिस्	धेनुभिस्	मधुभिस्
च० पं०	शत्रुभ्यस्	धेनुभ्यस्	मधुभ्यस्
ष०	शत्रूणाम्	धेनूनाम्	मधूनाम्
स०	शत्रुषु	धेनुषु	मधुषु

३४२—वैदिक प्रयोग के रूप यहाँ उसी पद्धति में रखे जाते हैं जिसमें ऊपर इकारान्त शब्दों के रूप।

अ—**एकवचन**। पुं० और स्त्री० प्र० ऊपर जैसे, नपुं० उरु, उरू।

आ—पुं० द्वि० केतुम्, अभीरुअम्, सुचेतुनम् (?); स्त्री० धेनुम्।

इ—पुं० तृ०, **केतुना, पश्वा** और **क्रतुआ**; स्त्री० **अधेनुआ** और **पन्वा, आशुया**; नपुं० **मधुना, मध्वा** ।

ई—पुं० च०, **केतवे, शिश्वे**; स्त्री० **शरवे, इष्वै**; नपुं० **पश्वे** (?) **उरवे, मधुने** ।

उ—पुं० पं०-ष०, **मन्योस्, पित्वस्, चारुणस्**; स्त्री० **सिन्धोस्, इष्वास्**; नपुं० **मध्वस्** और **मधुअस्, मधोस्, मधुनस्** ।

ऊ—पुं० सं०, **पूरौ, सूनवि**; स्त्री० **सिन्धौ, रज्जवाम्**; नपुं० **सानौ, सानवि, सानो, सानुनि** ।

ए—सं०, ऊपर जैसे ।

ऐ—**द्विवचन** पुं० और स्त्री० प्र० द्विती० सं०, ऊपर जैसे; नपुं० **उर्वी, जानुनी** ।

ओ—तृ० च०-पं०, ऊपर जैसे ।

औ—ष० स०, ऊपर जैसे (किन्तु **वोस्** या **उओस्**) ।

क—**बहुवचन** । पुं० प्र०, **ऋभवस्, मधुअस्** और **मध्वस्**; स्त्री० **धेनवस्, शतक्रत्वस्**; नपुं० **पुरूणि, पुरु, पुरू** ।

ख—पुं० द्विती०, **ऋतून्, पश्वस्**; स्त्री० **इषूस्, मध्वस्** ।

ग—तृ०, च०-पं० और स०, ऊपर जैसे, षष्ठी भी (किन्तु अंशतः **ऊनअम्** विघटन के साथ) ।

३४३—**अनियमित शब्दरूप** । उकारान्त शब्द अनियमित नहीं होते हैं, और बहुत कम ही इकारान्त शब्द अनियमित हैं ।

अ—**सखि** पुं० मित्र की पाँच विभक्तियों में विशिष्ट रूप से सबलीकृत (वृद्धिप्राप्त) प्रकृति, यथा **सखाय्** होती है, जो प्र० एक० में (बिना किसी विभक्ति-चिह्न के) **सखा** में क्षयित हो जाती है और अन्य विभक्तियों में नियत विभक्ति-चिह्नों का ग्रहण करती है । तृ० और च० एकवचन में केवल नियत विभक्ति-चिह्न लगते हैं, न तो न् का आगम होता है और न गुण; पं०-ष० एकवचन में **उस्** विभक्ति-चिह्न जुड़ता है, और स० एक० में **औ** । अवशिष्ट रूप **अग्नि** के समान होते हैं । यथा :

एकवचन—**सखा, सखायम्, सख्या, सख्ये, सख्युस्, सख्यौ, सखे**; द्विवचन—**सखायौ, सखिभ्याम्, सख्योस्**; बहुवचन—**सखायस्, सखीन्**, इत्यादि ।

आ—वेद में द्विवचनरूप **सखाया** सामान्यतया प्राप्त होता है, और **सखिआ, सखिउस्**, प्रभृति में य् बहुधा इ में विघटित होता है । यदि

(१३१५ अ) सख का आदेश प्राप्त नहीं हो, तो सामासिक पदों के रूप साधारणतया सरल शब्द की तरह चलते हैं।

इ—तदनुरूपी स्त्री० शब्द **सखी** होता है (**देवी** की तरह रूप वाला, ३६४), किन्तु **सखि** के रूप भी यदा कदा स्त्री० के अर्थ में प्रयुक्त पाये जाते हैं।

ई—समास होने पर **पति** का रूप विधान नियमित होता है, और तब इसका अर्थ प्रभु, मालिक होता है; किन्तु जब असमस्त रहता है और जब इसका अर्थ पति होता है, तब तृ०, च०, पं०-ष० और स० एकवचन में इसके रूप **सखि** के समान चलते हैं, जिससे **पत्या, पत्ये, पत्युस्, पत्यौ** रूप होते हैं। रूपों की दो कोटियों की गड़बड़ी के उदाहरण यदा-कदा मिलते हैं।

उ—'स्वस्वामित्व' बोधक समास के उत्तरपद वाले पति के लिए पत्नी का आदेश स्त्रीलिंग में नित्य और सामान्यतया होता है। यथा, **जीवपत्नी** जीवित पति वाली, **दासपत्नी** जिसका मालिक चाण्डाल है।

ऊ—वेद में **जनि** स्त्री० **पत्नी** का षष्ठी एकवचन रूप **जन्युस्** है।

ए—वेद में **अरि** उत्सुक, लोभी, विरोधी से पुं० और स्त्री० प्र० और द्विती० बहुवचन में **अर्यस्** प्राप्त है। इसका द्विती० एकवचन **अरिम्** या **अर्यम्** होता है।

ऐ—ऋ० वे० में **वि** पक्षी का प्रथमा विभक्तिरूप **वेस्** (साथ ही, **विस्**) है। बहुवचन में यह **विभिस्, विभ्यस्**, उदात्तस्वर को सुरक्षित रखती है, किन्तु **वीनाम्** प्राप्त होता है।

ओ—**अक्षि** आँख, **अस्थि** हड्डी, **दधि** दही और **सक्थि** जाँघ, ये शब्द त्रुटिपूर्ण हैं, इनके रूप **अन्** अन्त वाले (**अक्षन्** प्रभृति) शब्दों के विनिमेय हैं और उनसे पूर्ण होते हैं। **अन्** अन्त वाले शब्दों को देखिए, नीचे (४३१)।

औ—**पथि** मार्ग शब्द **पन्थन्** के रूपविधान के एक अंश की पूर्ति में प्रयुक्त होता है, दे० नीचे, ४३३।

क—**क्रोष्टु** पुं० गीदड़ के सबल विभक्तिरूप अनुपलब्ध होते हैं, जिनके स्थान में **क्रोष्टृ** के तुल्य रूपों का आदेश होता है।

विशेषण

३४४—इकारान्त मूल विशेषण शब्द बहुत कम हैं; उकारान्त वाले अपेक्षाकृत अधिक संख्यक (बहुत से व्युत्पन्न क्रिया-प्रातिपदिक उकारान्त कालवाची कृदन्त विशेषणों को बनाते हैं) होते हैं। इनका रूपविधान संज्ञाओं की तरह

होता है, और ऊपर दिये नियमों के अन्तर्गत है। किन्तु, उन दुर्बल विभक्तिरूपों में—यथा च०, पं०-ष० और स० एकवचन, और ष०-स० द्विवचन—जहाँ उत्तरकालिक भाषा में नपुं० संज्ञाएँ **न्** आगम के चलते पुंलिगों से भिन्न होती हैं (ऊपर हमने देखा है कि वेद में यह विभिन्नता प्राप्त नहीं है), नपुं० विशेषण विकल्प से दोनों रूपों का ग्रहण कर सकता है। शब्द पुंलिग और नपुंसक के लिए, और सामान्यतया (तथा विकल्प रूप से सब समय) स्त्रीलिंग के लिए वही रहता है।

अ—कुछ ऐसे उदाहरण हैं जहाँ इकारान्त पुंलिग के साथ ईकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञा की स्थिति (यदा-कदा परिवर्तित स्वराघात को लेकर) मिलती है। यथा; **क्रिमि** पुं०, **क्रिमी** स्त्री०; **सखि** (३४३ अ) पुं०, **सखी** स्त्री०; **दुन्दुभि** पुं०, **दुन्दुभी** स्त्री०; **धुनि** पुं०, **धुनी** स्त्री०; **शकुनि** पुं०, **शकुनी** या—**नि** स्त्री०। उत्तरकालिक भाषा में विशेषतः ऐसे शब्द के **इ** और **ई** अन्त्यों में विनिमय खूब अधिक होता है। **इ** अन्त वाले किसी विशेषण से कोई भी नियमित ईकारान्त स्त्रीलिंग नहीं बनता है।

आ—उकारान्त शब्दों के साथ स्थिति बहुत विभिन्न होती है। जबकि पुंलिग और नपुंसक की तरह स्त्रीलिंग उकारान्त संभव है, और आंशिक रूप से वैसा होता है, विशिष्ट स्त्रीलिंग शब्द **ऊ** में **इ** के दीर्घीकरण से अथवा ई के योग से भी बहुधा बनाया जाता है; और कुछ शब्दों में स्त्रीलिंग रूप इन तीन विधियों में से दो द्वारा या इन सबों द्वारा बनाया जाता है। जैसे-**कारू**,—**दिप्सू**, **शुन्ध्यू**, **चरिष्णू**, **वचस्यू**;—**अण्वी**, **उर्वी**, **गुर्वी**, **पूर्वी**, (र् से पूर्व **उ** के विस्तार के साथ, तुलनीय २४५ आ), **बह्वी**, **प्रभ्वी**, **रघ्वी**, **साध्वी**, **स्वाद्वी**;—**पृथु** और **पृथ्वी**, **विभू** और **विभ्वी**; **मृदु** और **मृद्वी**, **लघु** और **लघ्वी**, **वसु** और **वस्वी**; **बभ्रु** और **बभ्रू**, **बीभत्सु** और **बीभत्सू**, **भीरु**, और **भीरू**;—**तनु** और **तनू** तथा **तन्वी**, **फल्गु** और **फल्गू** तथा **फल्ग्वी**, **मधु** और **मधू** तथा **मध्वी**। उकारान्त पुंलिगों के साथ कुछ ऊकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाशब्द (साधारणतया परिवर्तित स्वराघात के साथ) भी प्राप्त होते हैं: यथा—**अग्रु** पुं०, **अग्रू** स्त्री०; **कद्रु** पुं०, **कद्रू** स्त्री०; **गुग्गलु** पुं०, **गुग्गुलू** स्त्री०; **जतु** पुं०, **जतू** स्त्री; **पृडाकु** पुं०, **पृडाकू** स्त्री०।

३४५—**इ** या **उ** (अथवा ऋ, ३७६ आ) अन्त वाली धातुएँ नियमित रूप से **त्** जोड़ती हैं, जब ये धातु-शब्दों अथवा समासों के धात्वन्त्यों के रूप में प्रयुक्त होती हैं; और फलतः इस शब्द-रूप में धातु-कोटि के विशेषण नहीं हैं।

अ—तथापि, वेद में ह्रस्व धातुमूलक उ अन्तवाले कुछ शब्दों के रूप इस प्रकार चलते हैं जैसे कि यह अन्त्य प्रत्यय वाला हो। उदाहरणार्थ, **अस्मृतध्रु, सुष्ठु;** और अ० वे० में **पृतनाजि** (एक बार) मिलता है। **ऊ** अन्त वाली धातुएँ कभी-कभी **ऊ** को **उ** ह्रस्व भी कर देती हैं। यथा, **प्रभु, विभु,** इत्यादि (३५४); **गो** (३६१ इ) **गु** हो जाता है; **रे** संभवतः **रि** (३६१ उ) हो जाता है; जबकि आ अन्त वाली धातुएँ कभी-कभी **आ** को स्पष्टतः **इ** में दुर्बल कर देती हैं (√(**धा**) प्रभृति से **धि** में, ११५५)।

३४६—सामासिक विशेषणों, जहाँ उत्तरपद में इस शब्द रूप की संज्ञाएँ होती हैं, के रूप सामान्यतः समान अन्त वाले मूल विशेषणों की तरह चलते हैं।

अ—किन्तु इस प्रकार के समासों में अन्त्य **इ** या **उ** स्त्रीलिंग शब्द के निर्माण में यदा-कदा दीर्घ कर दिया जाता है। यथा, **सुश्रोणी, स्वयोनी** या—**नि,—गात्रयष्टी** या—**टि, वामोरू** या—**रु, दुर्हणू** या—**णु, वरतनू, मातृबन्धू;** और ऋ० वे० में **शिशु** से **अशिश्वी** प्राप्त है।

शब्दरूप ३ य

आ, ई, ऊ दीर्घस्वरान्त शब्द

३४७—दीर्घ स्वरान्त शब्द दो सुस्पष्ट वर्गों या विभागों में प्राप्त हैं :

अ—एकाक्षरिक शब्द, अधिकांशतः शुद्ध धातुएँ—और इनके सामासिक शब्द, साथ ही अपेक्षाकृत अन्य अल्पसंख्यक शब्द जिनके रूप इनकी तरह चलते हैं;

आ—व्युत्पन्न स्त्रीलिंग आकारान्त और ईकारान्त शब्द, साथ ही अल्पसंख्यक ऊकारान्त जिनसे उत्तरकालिक भाषा में इनकी तरह रूप-विधान होता है। परवर्ती विभाग ही बृहत्तर और मुख्यतर है, क्योंकि बहुत से आकारान्त अथवा ईकारान्त स्त्रीलिंग विशेषण, और स्त्रीलिंग संज्ञाओं के कतिपय वर्ग इसके अन्तर्गत ही हैं।

आ—धातु-शब्द और इनकी तरह रूप वाले शब्द

३४८—इन शब्दों का रूप विधान सर्वत्र नियत विभक्ति-चिह्नों को लगाकर होता है, अथवा व्यंजनान्त शब्दों के ढंग से (द्विती० एकवचन में **अम्** के साथ, **म्** के साथ नहीं); अन्य स्वर-शब्द रूपों की विशिष्टताएँ प्राप्त नहीं होती हैं। संज्ञाओं के रूप में शुद्ध शब्द कुछ अपवादों के साथ स्त्रीलिंग होते हैं; (विरले) विशेषणों के रूप में और विशेषण समासों में ये समान रूप से पुंलिग

और स्त्रीलिंग रूपों में प्राप्त हैं। वर्णन की सुविधा के लिए ये निम्न उप-वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं :

१—धातु-शब्द, अथवा इस प्रकार के लक्षण वाले एकाच् शब्द। आकारान्त शब्द इतने विरल हैं कि वास्तविक प्रयोग वाले रूपों की सम्पूर्ण सूची प्रस्तुत करना असंभव-सा है; ईकारान्त और ऊकारान्त अपेक्षाकृत उनसे अधिक हैं, किन्तु फिर भी बहुत कम हैं।

२—सामासिक शब्द जिनके उत्तरपद में ऐसे शब्द या दीर्घ अन्त्य स्वरों वाली अन्य धातुएँ हों।

३—विभिन्न उत्पत्ति और लक्षण वाले अनेकाच् स्वर, इसके अन्तर्गत वेद वाले कतिपय सम्मिलित हैं जो आगे चलकर अन्य शब्दरूपों में अन्तरित कर दिये हैं।

४—इस वर्ग के अनुबंध के रूप में आधे दर्जन संयुक्त स्वरान्त शब्दों को बड़ी आसानी से हम रख सकते हैं जो अधिकांशतः नियमित रूपविधान वाले हैं।

३४९—**एकाच् शब्द**। स्वर में आरम्भ होने वाले विभक्ति-चिह्नों से पूर्व अन्त्य **ई इय्** में और **ऊ उव्** में परिवर्तित हो जाते हैं; जब कि अन्त्य **आ** सबल विभक्तियों को छोड़कर अन्यत्र सर्वथा लुप्त हो जाता है, और द्विती० बहुवचन में जो प्रथमा की तरह है (वैयाकरणों के अनुसार अन्त्य **आ** यहाँ भी लुप्त होता है, किन्तु इस प्रकार के रूप का कोई उदाहरण उद्धरणीय नहीं दिखाई पड़ता है)। उत्तरकालिक भाषा में ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों से एकवचन (च०, पं०, ष०, स०) में **ऐ, आस्, आम्** परिपूर्ण विभक्ति-चिह्नों का वैकल्पिक विधान है; किन्तु (ऋ० वे० में एक बार प्रयुक्त **भियै** [?] को छोड़कर) वेद में ऐसे रूप कहीं उपलब्ध नहीं होते हैं। षष्ठी बहु० **आम्** से पूर्व **न्** का आगम वैकल्पिक है; वेद में इसका नित्य आगम है, केवल एक ही अपवाद (**धियाम्** एक बार) प्राप्त है। एकवचन और अन्य वचनों में भी सम्बोधन रूप प्रथमा विभक्ति-जैसे होते हैं; किन्तु असमस्त शब्दों में इसके प्रयोग के उदाहरण वेद में अनुपलब्ध हैं; और अन्यत्र भी खूब विरल ही होंगे। पूर्वतर वैदिक द्विवचन का विभक्ति-चिह्न **औ** के स्थान में **आ** है।

३५०—ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों में एकाक्षरिक स्वराघात के नियम लागू होते हैं; द्विती० बहु० जो कि प्रथमा-विभक्ति के तुल्य है, को छोड़कर अन्य सभी दुर्बल विभक्तिरूपों में स्वरपात आगे विभक्ति-चिह्नों पर होता है। किन्तु

आकारान्त शब्दों (उदाहरण बहुत कम हैं) में शब्द पर ही स्वर नियोजन की प्रवृत्ति सर्वत्र देखी जाती है ।

३५१—**शब्दरूप के उदाहरण**। एकाक्षरिक रूप-विधान के आदर्शों के रूप में **जा** स्त्री० सन्तान; **धी** स्त्री० बुद्धि और **भू** स्त्री० पृथ्वी को हम ले सकते हैं ।

अ—इनमें से प्रथम चार विभक्तियों से ही स्वेच्छापूर्वक विस्तारित हैं जो वस्तुतः प्रयुक्त हैं; स० एक० और षष्ठी-स० द्विवचन में आकारान्त शब्दों का कोई भी वैदिक उदाहरण प्राप्त नहीं है ।

एकवचन :

प्र०	जास्	धीस्	भूस्
द्विती०	जाम्	धियम्	भुवम्
तृ०	जा	धिया	भुवा
च०	जे	धिये, धियै	भुवे, भुवै
पं० ष०	जस्	धियस्, धियास्	भुवस्, भुवास्
स०	जि	धियि, धियाम्	भुवि, भुवाम्
स०	जास्	धीस्	भूस् ।

द्विवचन :

प्र० द्विती० सं०	जौ	धियौ	भुवौ
तृ० च० पं०	जाभ्याम्	धीभ्याम्	भूभ्याम्
ष० स०	जोस्	धियोस्	भुवोस्

बहुवचन :

प्र०	जास्	धियस्	भुवस्
द्वि०	जास् (जस् ?)	धियस	भुवस्
तृ०	जाभिस्	धीभिस्	भूभिस्
च० पं०	जाभ्यस्	धीभ्यस्	भूभ्यस्
ष०	जानाम् (जाम् ?)	धियाम्, धीनाम्	भुवाम्, भूनाम्
स०	जासु	धीषु	भूषु

३५२—सामासिक एकाच्-शब्द । जब कि उपर्युक्त संज्ञाएँ समास के उत्तर-पद होती हैं, अथवा **आ** या **ई** या **ऊ** अन्त वाली कोई धातु उस प्रकार के स्थान में आती है, तब आकारान्त शब्द का रूपविधान ऊपर की तरह होता है । किन्तु ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों में विविध प्रयोग प्राप्त होता है—स्वरादि-विभक्ति

चिह्न से पूर्व या तो ह्रस्व स्वर और अन्तःस्थ (**इय्** या **उव्**, ऊपर जैसा) में या मात्र अन्तःस्थ (**य्** या **व**) में परिवर्तित हो जाता है। विभक्ति-चिह्नों पर कहीं स्वरपात नहीं होता है; और फलतः जब ई और ऊ य् और व् हो जाते हैं, तो परिणामी अक्षर स्वरित (८३–४) होता है। इस प्रकार :

पु० और स्त्री० एकवचन :

प्र० सं०	धीस्	भूस्
द्वि०	धियम्,-ध्यम्	भुवम्,-भ्वम्
तृ०	धिया,-ध्या	भुवा,-भ्वा
च०	धियें;-ध्यै	भुवे-भ्वै
प० ष०	धियस्,-ध्यस्	भुवस्-भ्वस्
स०	धियि-ध्यि	भुवि-भ्वि

द्विवचन :

प्र० द्वि० सं०	धियौ-ध्यौ	भुवौ-भ्वौ
तृ० च० पं	धीभ्याम्	भूभ्याम्
ष० स०	धियोस्, ध्योस्	भुवोस्-भ्वोस्

बहुवचन :

प्र० द्विती० सं०	धियस्,-ध्यस्	भुवस्-भ्वस्
तृ०	धीभिस्	भूभिस्
च० पं०	धीभ्यस्	भूभ्यस्
ष०	धियाम्-ध्याम्	भुवाम्-भ्वाम्
	धीनाम्	भूनाम्
स०	धीषु	भूषु

अ—(स्त्री०) एकवचन में **ऐ**, **आस्** और **आम्** परिपूर्ण विभक्ति-चिह्नों की ग्राह्यता को लेकर व्याकरण-शास्त्रों में बहुत कुछ मतभेद हैं; किन्तु वेद में ये कभी प्राप्त नहीं होते हैं, और इन्हें संभाव्य अ यथार्थ के रूप में ग्रहण कर ऊपर की सूची में छोड़ दिया गया है।

आ—यदि अन्त्य **ई** या **ऊ** के पूर्व में दो व्यंजन आते हैं, तो द्व्यक्षरिक रूप **इय्** और **उव्** के साथ नियमतः लिखे जाते हैं; एक व्यंजन के बाद प्रयोग में भिन्नता प्राप्त है। यदि एकाक्षरिक शब्द में संज्ञा-तत्त्व ही अपेक्षाकृत अधिक हो, तो वैयाकरण **इय्** और **उव्** का विधान करते हैं, पुनः यदि यह कृदन्त

क्रियारूप के तत्त्व को रखने वाला विशुद्ध क्रिया-प्रातिपदिक हो, तो य् और व् का। किन्तु वेद में इस प्रकार का कोई भेद प्राप्त नहीं होता है—जहाँ कि दोनों रूपों का अन्तर केवल लैखिक है, क्योंकि **या**–और **वा**–रूप और दूसरे रूप सर्वदा द्व्यक्षर जैसे पठनीय होते हैं—**इआ** या **ईआ** और **उआ** या **ऊआ,** प्रभृति।

इ—इस प्रकार के विशेषणों के नपुंसक शब्दों के लिए, दे० ३६७।

३५३—कुछ और वैदिक विशिष्टताएँ अथवा अनियमितताएँ संक्षेप में रखी जा सकती हैं।

अ—आकारान्त शब्दों के **आस्, आम्, आ** (द्विव०) अन्त वाले रूप कभी-कभी द्व्यक्षरों-जैसे उच्चारित होते हैं, **अअस्, अअम्, अअ।** तुमर्थक कृदन्तरूप की तरह प्रयुक्त शब्द की चतुर्थी विभक्ति ऐ (जैसे कि **आ+ए**) होती है। यथा—**प्रक्ष्यैं, प्रतिमैं, परादैं।**

आ—सामासिक पदों में अनियमित स्वरपात एक या दो स्थानों में विभक्ति-चिह्न पर देखा जाता है, यथा—**अवद्यभियाँ** (ऋ० वे०), **आधिआँ** (अ० वे०)।

३५४—किन्तु उपर्युक्त कोटि के सामासिक पद बहुधा रूप-विधान की अन्य श्रेणियों में अन्तरित होते हैं—पुं० (तथा नपुं०) शब्द में **आ** ह्रस्व **अ** हो जाता है, अथवा (नीचे, ३६४) स्त्री० व्युत्पन्न आ-वर्ग के शब्द की तरह उसका रूप चलता है; **ई** और **ऊ** ह्रस्व **इ** और **उ** हो जाते हैं, और इनका रूप द्वितीय शब्द-रूप की तरह चलता है।

अ—इस प्रकार–**ग,–ज,–द,–स्थ,–भु** प्रभृति अन्त वाले सामासिक शब्द वेद में भी प्राप्त हैं, और उत्तरकाल में (सभी अथवा प्रायः सभी आ-अन्त वाली धातुओं से बने) अधिक आते हैं, दूसरों से भी बने प्रयोग भी यदा-कदा उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, **शतपान, वयोधैस्** और **रत्नधेभिस्, धनसैस्** (सभी ऋ० वे०); तथा **ई** और **ऊ** सामासिकों से **वेषश्रिस्** (तै० सं०), **अंह्यस्** (ऋ० वे०), **गणश्रिभिस्** (ऋ० वे०) **कर्मणिस्** (श० ब्रा०) और **ऋतनिभ्यस्** (ऋ० वे०) तथा **सेनानिभ्यस्** (ऋ० वे०) और **ग्रामणिभिस्** (तै० ब्रा०) **सुपुना** (अ० वे०), **शितिभ्रवे** (तै० सं०)।

आ—इनसे भी अधिक आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द हैं जिनका धातु शब्द-रूप लुप्त हो गया है। उदाहरण होते हैं—**प्रजा** (जिनसे विशेष समास आंशिक रूप से धातु-रूपों को सुरक्षित रखते हैं), **स्वधा, श्रद्धा, प्रतिमा,** इत्यादि।

इ—पुनः उत्तरकालिक भाषा में ईकारान्त कुछ स्त्रीलिंग आ के ह्रस्वित अ अन्त वाले शब्दों से बनते हैं : यथा—**गोपी, गोष्ठी, पन्नगी, पंकजी, भुजगी, भुजंगी, सुरापी।**

३५५—**अनेकाक्षरिक शब्द।** उत्तरकाल की भाषा में एक से अधिक अक्षरों की इस कोटि (अ) के शब्द वस्तुतः खूब कम हैं, और पूर्वतर काल में भी ये कथमपि सामान्य नहीं हैं। तथापि ऋ० वे० में इनका एक विपुल निकाय प्राप्त होता है; और चूँकि उत्तरकाल में ऐसे शब्दों के दुष्प्रयोग से अथवा शब्दरूप की अन्य विधियों में इनके समाविष्ट हो जाने से यह वर्ग समाप्त-सा हो जाता है, इनका यथार्थ निरूपण वैदिक आधार पर ही संभव है।

अ—वेद में आधे दर्जन के आकारान्त पुं० शब्द आते हैं—**पन्था, मन्था** और **ऋभुक्षा** को परवर्ती व्याकरण ने अन्य ढंग से ग्रहण किया है, दे० नीचे, ४३३-४, **उशना** (व्यक्तिवाचक संज्ञा) का असंगत प्र० एकव० रूप **उशना** (तथा स० और च० **उशने**) है; **महा** बड़ा केवल द्वितीया एकव० में प्राप्त होता है और समास में यह खूब आता है; **आता** ढाँचा से केवल **आतासु** प्राप्त है जो **आत** से निष्पन्न नहीं है।

आ—वेद में सत्तर से ऊपर ईकारान्त शब्द मिलते हैं, जिनमें प्रायः सभी स्त्रीलिंग हैं, और सब अन्त्योदात्त हैं। आधे से अधिक स्त्रीलिंग स्वर-परिवर्तन द्वारा पुंलिंग से बने हैं : यथा—**कल्याणी** (पुं० **कल्याण**), **पुरुषी** (पुं० **पुरुष**); अन्यत्र स्वर-परिवर्तन नहीं देखा जाता है; जैसे **यमी** (पुं० **यम**)। कुछ ऐसे भी हैं जिनके अनुरूपी पुंलिंग नहीं होते; यथा **नदी, लक्ष्मी, सूर्मी**। पुंलिंगों की संख्या लगभग दश होती है : उदाहरणार्थ—**रथी, प्रावी, स्तरी, अही, आपथी**।

इ—ऊकारान्त शब्दों की संख्या अपेक्षाकृत कम है; ये भी प्रायः सबके सब स्त्रीलिंग होते हैं और सब अन्त्योदात्त हैं। इनमें से अधिकांश उ या उ अन्त वाले पुंलिंगों से बने ऊकारान्त स्त्रीलिंग विशेषण हैं; (३४४ आ, ऊपर) यथा—**चरण्यू, चरिष्णू, जिघत्सू, मधू**। कुछ ऊ अन्त वाली संज्ञाएँ हैं जहाँ स्वर परिवर्तन का होता है; जैसे—**अग्रू** (**अग्रु**), **पृदाकू** (**पृदाकु**), **श्वश्रू** (**श्वशुर**); या बिना परिवर्तन के; यथा—**नृतू**। तथा कुछ हैं जहाँ अनुरूपी पुंलिंग नहीं हैं : यथा—**तनू, वधू, चमू**। पुंलिंग केवल दो या तीन होते हैं; यथा—**प्राशू, कृकदाशू, मक्षू** (?), और इनके रूप अत्यधिक विरल हैं।

३५६—इन शब्दों के रूप की विधियाँ निम्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट की जा सकती हैं—**रथी** पुं० रथ वाला; **नदी** स्त्री० धारा; **तनू** स्त्री० शरीर।

अ—चुने गये उदाहरणों में से एक भी सभी रूपों में प्रयुक्त नहीं है; वे रूप, जिनका कोई भी उदाहरण उद्धरणीय नहीं है, कोष्ठगत हैं। किसी ईकारान्त शब्द का सप्तमी एकव० रूप प्राप्त नहीं है जिससे कि उस रूप का निर्धारण हो सके। **नदी** शब्द को उदाहरण के रूप में अंशतः इसलिए चुना गया है कि पूर्वतरकालिक और उत्तरकालिक भाषाओं का अन्तर इस वर्ग के शब्दों को लेकर स्पष्ट हो जाय।

एकवचन :

प्र०	रथीस्	नदीस्	तनूस्
द्विती०	रथिअम्	नदिअम्	तनुअम्
तृ०	रथिआ	नदिआ	तनुआ
च०	रथिए	नदिए	तनुए
पं० ष०	रथिअस्	नदिअस्	तनुअस्
स०	....	....	तनुइ
सं०	रथि (?)	नदि	तनु

द्विवचन :

प्र० द्विती० सं०	रथिआ	नदिआ	तनुआ
तृ० च० पं०	[रथीभ्याम्]	नदीभ्याम्	[तनूभ्याम्]
ष० स०	[रथिओस्]	नदिओस्	तनुओस्

बहुवचन :

प्र० द्विती०	रथिअस्	नदिअस्	तनुअस्
तृ०	(रथीभिस्)	नदीभिस्	तनूभिस्
च० पं०	(रथीभ्यस्)	नदीभ्यस्	तनूभ्यस्
ष०	रथीनाम्	नदीनाम्	तनूनाम्
स०	(रथीषु)	नदीषु	तनूषु

आ—**नदिअम्**, **तनुअम्** प्रभृति विभक्ति-रूप अपने यथार्थ ध्वनि-शास्त्रीय मूल्य में लिखे गये हैं जो कि वेद में प्रायः नित्य रूप से उनका रहता है। वस्तुतः लिखित ग्रन्थ में शब्दान्त्य अन्तःस्थ बनाया जाता है, और पारिणामिक अक्षर स्वरित हो जाता है। यथा—**नद्यम्**, **तन्वम्**, इत्यादि। केवल दो व्यंजनों के बाद विघटित रूप **इय्** और **उव्** उनके स्थानों में साधारणतया लिखे जाते हैं; और वैसे स्थल में भी जहाँ संयुक्त य्व् अन्यथा आ जाता। यथा—**चक्रिया**, [**अभ्रवै**] तथा **मित्रायुवस्**। ऋ० वे० में निश्चित रूप से **स्तर्यम्** आदि दो

बार और तन्वस् आदि चार बार पठित हैं; और अ० वे० में ऐसे आकुञ्चन अपेक्षाकृत अधिक स्थलों में होते हैं। प्र० द्विती० सं० द्विवचन का विभक्ति-चिह्न उत्तरकालिक औ के तुल्य है। प्राचीन भाषा में ईकारान्त शब्दों का प्रथमा एकवचन तीस से अधिक शब्दों में विभक्ति-चिह्न स् के साथ लगभग साठ बार प्राप्त है।

३५७—इस विभाग में रूप की अनियमितताएँ, वास्तविक अर्थ में, बहुत कम होती हैं—स० एकवचन के रूप में चमू (चम्वि के स्थान में) कुछ बार आता है; और इसी प्रकार के एक या दो संदिग्ध रूप और हैं; अन्त्य ऊ प्रगृह्य अथवा सन्धिगत परिवर्तन के अयोग्य (१३८) माना जाता है; एक या दो स्थलों में तनुइ तन्वी में दीर्घीकृत होता है;—युवस् एक या दो बार—यूस् में संक्षेपीकृत है।

३५८—ई-और ऊ-शब्द-रूप के अन्त्य रूप में अन्तरण की प्रक्रिया जिसके चलते शब्दों की यह श्रेणी उत्तरकालिक भाषा में प्रायः लुप्त हो गयी है, वेद में प्रकटित होती है; किन्तु ऋ० वे० में ये अत्यधिक विरल हैं। यथा—स० एकव० दूतिआम् एक बार तथाविध श्वश्रुआम् एक बार और द्रवित्नुआ तृ० एकव० एक या दो अन्य संदिग्ध रूपों के साथ। अ० वे० में द्विती० एक० कुहूम्, तनूम्, वधूम्; तृ० एकव० पलालिआ और एक या दो प्रयोग; च० एकव० वध्वै, श्वश्रुऐ, अग्रुवै; पं०-ष० एकवचन पुनर्भुवास्, पृदाकुआस्, श्वश्रुआस्; और स० एक० तनुआम् (असंगत स्वरपात के साथ) जैसे रूप हमें प्राप्त होते हैं। ईस् और ऊस् अन्त वाले द्वितीया बहुवचन रूप कहीं उपलब्ध नहीं हैं।

३५९—इन शब्दों के साथ विशेषण समास खूब कम हैं; जो प्राप्त हैं उनके रूप शुद्ध शब्दों की तरह चलते हैं : यथा—हिरण्य-वाशीस् और सहस्रस्त-रीस्, अंतप्ततनूस् और संवतनूस्, सबके सब पुंलिंग प्रथमा एकवचन रूप हैं।

संयुक्तस्वरान्त शब्द

३६०—संयुक्त-स्वरान्त कुछ एकाक्षरिक शब्द प्राप्त होते हैं जो रूप-विधान में इतने अल्पसंख्यक और विभिन्न हैं कि इनका स्वतंत्र शब्द-रूप निर्धारित नहीं हो सकता है, और जो यहाँ अत्यन्त समुचित ढंग से ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों के साथ न्यस्त किये जा सकते हैं जिनके साथ इनका अत्यधिक साम्य है। ये हैं :

अ—ओकारान्त शब्द : **नौ** और **ग्लौ**;

आ—ऐकारान्त शब्द : **रै**

इ—ओकारान्त शब्द— **गो** और **द्यो** (या **द्यु, दिव्**)।

३६१—अ-**नौ** स्त्री० जहाज शब्द पूर्णतः नियमित होता है, सर्वत्र सामान्य विभक्ति-चिह्नों का ग्रहण होता है और एकाक्षरिक स्वरपात (३१७) के नियमों का पालन होता है—एक ही अपवाद है कि द्वितीया बहुवचन (स्वर-चिह्नित ग्रन्थों में यह कहीं प्रयुक्त नहीं पाया जाता है) प्रथमा के समान माना गया है। इस प्रकार :—**नौस्, नावम्, नावा, नावे, नावस्, नावि; नावौ, नौभ्याम्, नावोस्; नावस्, नावस्, नौभिस्, नौभ्यस्, नावाम्, नौषु**। पुंलिंग **ग्लौ** पिण्ड शब्द के रूप स्पष्टतः इसी ढंग से चलते हैं; किन्तु उनके रूपों के कुछ ही प्रयोग में प्राप्त हैं।

आ—स्त्री० **रै** धन शब्द का अधिक संगत वर्णन **रा**-जैसा होगा, जो स्वरादि विभक्ति-चिह्नों से पूर्व संयोजन-व्यंजन (२५८) के आगम से युक्त हो जाता है और तथाविध इसके रूप नियमित ढंग से नियत विभक्ति-चिह्नों और एकाक्षरिक स्वराघात के साथ चलते हैं। यथा—**रास्, रायम्, राया, राये, रायस्, रायि; रायौ, राभ्याम्, रायोस्; रायस्, रायस्, राभिस्, राभ्यस्, रायाम्, रासु**। किन्तु वेद में द्वितीया बहुवचन विकल्प से **रायस्**, और **रायस्**, है; द्वितीया एकव० और बहुव० के लिए संक्षिप्ततर रूप **राम्** (ऋ० वे० एक बार—वेद में **रायम्** अप्राप्त है) और **रास्** (सा० वे० एक बार) प्रयुक्त हैं; और षष्ठी एकव० में कभी-कभी असंगत ढंग से स्वराघात रायस् देखा जाता है।

इ—पुं० अथवा स्त्री० **गो** बैल या गाय शब्द अपेक्षाकृत अधिक अनियमित होता है। द्वितीया एकव० को छोड़कर अन्य सबल विभक्तियों में यह **गौ** में सबलीकृत हो जाता है, जिससे (नौ की तरह) **गौस्, गावौ, गावस्** रूप बनते हैं। द्वितीय एकव० और बहु० में (**रै** की तरह) इसके संक्षिप्त रूप **गाम्** और **गास्** प्राप्त हैं। पं०-ष० एकवचन **गोस्** (जैसे-कि **गु** से) होता है। शेष रूप नियमित ढंग से **गो** से नियत विभक्ति-चिह्नों को लगाकर बनते हैं, किन्तु स्वरपात अनियमित रूप से सर्वदा शब्द पर ही होता है। यथा—**गवा, गवे, गवि, गवोस्, गवाम्; गोभ्याम्, गोभिस् गोभ्यस्, गोषु**। वेद में षष्ठी बहु० का दूसरा रूप **गोनाम्** प्राप्त है; प्र० प्रभृति द्विव० (इस प्रकार के अन्य सभी प्रयोगों में जैसा) **गावा** भी होता है; तथा **गाम्, गोस्** और

गास् अधिक समय द्व्यक्षरों की तरह उच्चारित होते हैं। द्विती० बहु० के रूप में कभी-कभी **गावस्** प्राप्त होता है।

ई—स्त्री० **द्यो** (किन्तु वेद में सामान्यतया पुं०) आकाश, दिन शब्द और भी अधिक अव्यवस्थित है, इसके साथ सरलतर शब्द **द्यु** प्राप्त है जो स्वरादि विभक्ति-चिह्न से पूर्व **दिव्** हो जाता है। देशी वैयाकरण दोनों को स्वतन्त्र शब्दों के रूप में ग्रहण करते हैं, किन्तु इनको एक साथ रखना अधिक सुविधाजनक है। **द्यो** शब्द का रूप ठीक उपर्युक्त **गो** की तरह चलता है। समग्र शब्द रूप इस प्रकार (प्रयोग में वस्तुतः अप्राप्त रूपों को कोष्ठकों में रखकर) होता है :

	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	द्यौस्	[दिवौ] द्यावौ	दिवस् द्यावस्
द्विती०	दिवम्, द्याम्		दिवस्, द्यून् [द्यास्]
			द्युभिस् [द्योभिस्]
तृ०	दिवा [द्यवा]		
च०	दिवे द्यवे	[द्युभ्याम् द्योभ्याम्]	[द्युभ्यस् द्योभ्यस्]
प०	दिवस् द्योस्		
ष०	दिवस् द्योस्	[दिवोस् द्यवोस्]	[दिवाम् द्यवाम्]
स०	दिवि द्यवि		द्युषु [द्योषु]

उ—पूर्वकालिक भाषा में चतुर्थी एक० **द्यवे** प्राप्त नहीं है। वेद में **दिवस्** और **दिवस्** दोनों ही रूप द्विती० बहु० के लिए आते हैं। प्र० प्रभृति द्वि० **द्यावा** सामान्यतया नियमित वैदिक रूप होता है; एक बार **द्यवी** (द्वि०), जैसे कि नपुंसक रूप ही प्राप्त है; तथा **द्यौस्** पंचमी की तरह प्रयुक्त एक बार मिलता है। **द्यौस्, द्याम्** और **द्यून्** विभक्ति-रूप वेद में कभी-कभी द्व्यक्षरों की तरह पढ़े जाते हैं; तथा प्रथमतः उदात्त संबोधन बाद में **द्यौस्** (अर्थात् **दिऔस्**, द्रष्टव्य ३१४ आ) हो जाता है।

ऊ—ऐसे विशेषण समास जिनका उत्तरपद संयुक्त स्वरान्त शब्द होता है, अधिक संख्यक नहीं हैं, और ये संयुक्त स्वर को स्वर में ह्रस्वित कर देते हैं। इस प्रकार नौ से भिन्ननु हमें प्राप्त होता है; **गो** से **अगु, सप्तगु, सुगु, बोहुगु** (स्त्री०-गू, जै० ब्रा०) जैसे अनेक शब्द; और तदनुरूप **बृहद्रये** और **ऋधद्रयस्** (ऋ० वे०) में रै रि में अपचित लगता है। प्रत्यय-विधान में **गो, गोत्र, अगोता-गव,** (स्त्री०-**गवी**) में अपने पूर्ण रूप को सुरक्षित रखता है; समास

के पूर्वपद में होने पर इसका विकास विभिन्न रूप से होता है; यथा **गवाशिर, गविष्टि** (किन्तु **गआशिर, गइष्टि** काठक) प्रभृति; **गोअश्व** या **गोऽश्व, गोऋजीक, गोअपश,** इत्यादि । कुछ समासों में **द्यु** या **द्यो** भी असंगत रूप धारण करता है; यथा **द्यौदां** (काठक), **द्योर्लोक** (श० ब्रा०), **द्यौसंशित** (अ० वे०) । **रेवन्त्** (यदि यह **रयिवन्त्** के लिए नहीं हो) में **रै रे** हो जाता है । ऋ० वे० में **अध्रिगु** (संदिग्धार्थक) से **अध्रिगावस्** प्राप्त है; और अ० वे में **घृतस्तावस्**, स्पष्टतः **घृतस्तु** या-**स्तो** का द्विती० बहु०, मिलता है ।

आ । आ, ई, ऊ अन्त वाले व्युत्पन्न शब्द

३६२—सभी आकारान्त और ईकारान्त शब्द, जो ऊपर अन्य अथवा धातु-शब्द विभाग से संबद्ध निर्दिष्ट नहीं हुए हैं, इस विभाग में आते हैं; और साथ ही, उत्तरकालिक भाषा में अन्य विभाग के ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों में से अधिकांश रूपविधान की अधिक प्रसिद्ध विधि में अन्तरित होने से आ जाते हैं । यथा :

(१) अ—स्त्री० व्युत्पन्न आकारान्त शब्दों की एक बड़ी संख्या, संज्ञा और विशेषण दोनों ही ।

आ—इन शब्दों का रूप-विधान भाषा के सम्पूर्ण इतिहास में अल्प परिवर्तन के साथ सुरक्षित है, वेदों में लगभग ठीक वही है जो उत्तर काल में ।

(२) इ—प्रत्ययान्त स्त्री० ईकारान्त शब्दों की एक बड़ी संख्या ।

ई—यह वर्ग नित्य रूप से उत्तरकालिक भाषा में उपलब्ध है । पूर्वतर काल में ऊपर निर्दिष्ट (३५५ आ) अपवाद इसके साथ देखा जाता है; अर्थात्, स्वर-परिवर्तन द्वारा बनाये गये स्त्रीलिंग शब्दरूप की इस विधि का पालन तभी करते हैं, जब कि स्वरपात ई पर नहीं होता है । जैसे—**तविषी, परुष्णी, पलिक्नी, रोहिणी** ।

उ—इस विभाग के ईकारान्त शब्द सामान्यतया प्राचीनतर यान्त प्रत्यय के आकुंचन से निष्पन्न माने जाते हैं । उत्तरकालिक भाषा में इनका रूपविधान अन्य विभाग के रूपविधान के साथ बहुत कुछ मिश्रित हो गया है, और परिणाम-स्वरूप वैदिक रूपविधान से भिन्न हो गया है । देखिए नीचे, ३६३ ए ।

ऊ—वैयाकरणों ने थोड़े ही व्युत्पन्न ईकारान्त शब्दों को धातु विभाग की तरह रूपायित माना है; उस वर्ग के वैदिक शब्द, यदि प्रयोग में सुरक्षित हैं, रूपविधान की इस विधि में परिवर्तित कर दिये जाते हैं ।

ए—वेद में खूब अल्पसंख्यक (आधे-दर्जन के) पुं० ईकारान्त शब्दों का रूप सप्रत्यय विभाग की तरह चलता है; ये कुछ विरल व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ हैं, **मातली** इत्यादि, और **राष्ट्री और सिरी** (प्रत्येक का एक ही उदाहरण) ।

(३) ऐ—ऊकारान्त शब्द संख्या में खूब कम हैं, और अन्य विभागों के अन्तरण होते हैं, जो रूपविधान में व्युत्पन्न ईकारान्त शब्दों के बृहद् वर्ग के समीकृत हैं (केवल इतना भेद है कि इनमें प्रथमा एक० का विभक्ति-चिह्न **स्** सुरक्षित है) ।

३६३—**विभक्ति-चिह्न** । इस विभाग और अन्य विभाग की विषमताएँ ये होती हैं :

अ—प्र० एक० में सामान्य स्-विभक्ति-चिह्न का अभाव है, अपवाद-स्वरूप ऊकारान्त शब्द और बहुत थोड़े से ईकारान्त—यथा **लक्ष्मी, तरी, तन्त्री, तन्द्री**—हैं जहाँ अन्य विभाग का विभक्ति-चिह्न सुरक्षित है ।

आ—द्वितीο एक० और बहु० क्रमशः शुद्ध **म** और **स्** जोड़ते हैं ।

इ—च०, पं०-ष० और स० एक० में सर्वदा परिपूर्ण विभक्ति-चिह्न **ऐ, आस्, आम्** आते हैं; और आकारान्त शब्दों के अन्त्य से मध्यागम **य्** द्वारा पृथक् रहते हैं । ब्राह्मण प्रभृति में आस् (३०७ ऐ) के स्थान में **ऐ** का आदेश सामान्यतया होता है ।

ई—तृ० एक० के आ और ष० स० द्विव० के **ओस्** विभक्ति-चिह्नों से पूर्व आकारान्त शब्दों का अन्त्य **ए** में परिवर्तित की तरह गृहीत होता है; किन्तु वेद में अधिकतर (लगभग प्रयोगों के आधे में) तृतीया विभक्ति-चिह्न **आ** अन्त्य से मिलकर आ प्राप्त है । कुछ वैदिक उदाहरणों में ईकारान्त शब्दों का या **ई** में और **इ** में भी संकुचित होता है । कुछ स्थलों में **ई** अन्त वाला स० एक० रूप पाया जाता है ।

उ—उपर्युक्त सभी दुर्बलतम विभक्तिरूपों में ईकारान्त अथवा ऊकारान्त शब्द के अन्त्य वाला उदात्त स्वरपात आगे विभक्ति-चिह्न पर चला आता है । इस वर्ग की शेष विभक्ति, ष० ब०, में शब्द और विभक्ति-चिह्न के मध्य में **न्** का नित्य आगम होता है और उदात्त प्रथम पर बना रहता है (किन्तु ऋ० वे० में इसका निक्षेप सामान्यतः **इ** और **उ** अन्त वाले शब्दों की तरह आगे विभक्ति-चिह्न पर होता है) ।

ऊ—सं० एक० में अन्त्य **आ ए** हो जाता है; अन्त्य **ई** और **ऊ** ह्रस्व कर दिये जाते हैं ।

ए—ईकारान्त (और ऊकारान्त) शब्दों के प्र०—द्विती०—सं० द्विव० और प्र० बहु० रूपों को लेकर पूर्वतर और उत्तरकालिक भाषाओं में महत्त्वपूर्ण अन्तर देखा जाता है, द्वितीय में अन्य विभाग के बहुत रूप उधार लिये जाते हैं। द्विव० विभक्ति-चिह्न **औ** ऋ० वे० में अज्ञात है और अ० वे० में खूब विरल है; वैदिक विभक्ति-चिह्न ई (ऊकारान्त शब्दों का तद्रूपी द्विवचन प्राप्त नहीं है) होता है। परवर्ती काल के नियमित बहुवचन विभक्ति-चिह्न **अस्** के केवल एक या दो संदिग्ध उदाहरण ऋ० वे० में प्राप्त होते हैं, और अ० वे० में बहुत अल्प-संख्यक; वहाँ विभक्तिरूप में (और यह अति प्रचलित प्रयोग वालों में से एक है) मात्र **स्** जुड़ता है; और **यस्**—रूप **ईस्**-रूपों के साथ ब्राह्मणों में आते हैं, दोनों ही शिथिलता से प्र० और द्विती० जैसे प्रयुक्त होते हैं (जैसा कि वस्तुतः ये कभी-कभी रामा० महाभा० में भी परस्पर विनिमेय है)। पूर्वतर और उत्तर दोनों कालों में आकारान्त शब्दों के द्विवचन प्र० प्रभृति के अन्त में **ए** आता है, किन्तु निस्संदेह बहु० में **स्** रूप **अस्** रूपों से पृथक् नहीं किये जा सकते हैं। ऋ० वे० में **आस्** के लिए **आसस्** के कुछ उदाहरण प्राप्त हैं।

ऐ—अवशिष्ट विभक्तिरूपों के लिए विशेष विवेचन अपेक्षित नहीं है।

३६४—**शब्दरूप के उदाहरण।** दीर्घ स्वरान्त व्युत्पन्न शब्दों के रूप-विधान के आदर्शों के रूप में हम **सेना॑** स्त्री० फौज; **क॒न्या॑** स्त्री० लड़की; **दे॒वी॑** स्त्री० दिव्या; **व॒धू॑** स्त्री० नारी शब्दों को ले सकते हैं।

एकवचन :

प्र०	सेना॑	क॒न्या॑	दे॒वी॑	व॒धू॑स्
द्विती०	सेना॑म्	क॒न्या॑म्	दे॒वी॑म्	व॒धूम्
तृ०	सेन॑या	क॒न्य॑या	दे॒व्या॑	व॒ध्वा॑
च०	सेना॑यै	क॒न्या॑यै	दे॒व्यै॑	व॒ध्वै॑
पं० ष०	सेना॑यास्	क॒न्या॑यास्	दे॒व्या॑स्	व॒ध्वा॑स्
स०	सेना॑याम्	क॒न्या॑याम्	दे॒व्या॑म्	व॒ध्वा॑म्
सं०	सेने॑	क॑न्ये	दे॑वि	व॑धु

द्विवचन :

प्र०द्विती०सं०	सेने॑	क॒न्ये॑	दे॒व्यौ॑	व॒ध्वौ॑
तृ० च० पं०	सेना॑भ्याम्	क॒न्या॑भ्याम्	दे॒वी॑भ्याम्	व॒धू॑भ्याम्
ष० स०	सेन॑योस्	क॒न्य॑योस्	दे॒व्यो॑स्	व॒ध्वो॑स्

बहुवचन :

प्र० सं०	सेनास्	कन्यास्	देव्यस्	वध्वस्
द्विती०	सेनास्	कन्यास्	देवीस्	वधूस्
तृ०	सेनाभिस्	कन्याभिस्	देवीभिस्	वधूभिस्
च० पं०	सेनाभ्यस्	कन्याभ्यस्	देवीभ्यस्	वधूभ्यस्
ष०	सेनानाम्	कन्यानाम्	देवीनाम्	वधूनाम्
सं०	सेनासु	कन्यासु	देवीषु	वधूषु

अ—वेद में **वधू** ऐसा शब्द है जो (**तनू** की तरह, ऊपर ३५६) अन्य विभाग के अन्तर्गत होता है।

३६५—वैदिक रूपों के उदाहरण हैं :

अ—**आकारान्त शब्द :** तृ० एक० **मनीषा** (यह सरलतर रूप विशेषत: **ता** और **इआ** अन्त वाले शब्दों से प्राप्त है); प्र० बहु० **वशासस्** (लगभग बीस उदाहरण), द्विती० बहु० **आरंगमासस्** (एक या दो प्रयोग)। भ्यस्-प्रयोगों में से आधे को भिअस् की तरह पढ़ना अपेक्षित है, ष० बहु० का आम् कुछ समय अअम् में विघटनीय है; और प्र० और द्विती० एक० के **आ** और **आम्** को भी यदा-कदा इस रूप में ग्रहण करना है।

आ—**ईकारान्त शब्द :** तृ० एक० **शमी, शमि**; स० **गौरी**; प्र० प्रभृति द्विव० **देवी**; प्र० बहु० **देवीस्** ; ष० बहु० **बह्वीनाम्** । शब्द के अन्त्य को स्वर की तरह (**य्** की तरह नहीं) बहुधा पढ़ना अपेक्षित है, किन्तु बहुसंख्यक प्रयोगों में नहीं। यथा : **देविआ, देविआस् , देविआम् , रोदसिओस्** ।

इ—इस विभाग तथा पूर्ववर्ती विभाग के बीच अन्तरण के विकीर्ण उदाहरण ऊपर पर्याप्त रूप से निर्दिष्ट हो चुके हैं।

ई—ब्राह्मण भाषा में (३०७ ए, ३३६ ए, ३६३ इ) ष०-पं० विभक्ति-चिह्न **आस्** के स्थान में च० एक० विभक्ति-चिह्न ऐ **के** आदेश के लिए, शब्दों के सभी वर्गों में जिनमें **ऐ** विभक्ति-चिह्न लग सकता है, कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा सकते हैं—**अभिभूत्यै रूपम्** (ऐ० ब्रा०) अत्यधिक पराक्रम का रूप; **त्रिष्टुभश्च जगत्यै** च (ऐ० ब्रा०) त्रिष्टुभ् और जगती छन्दों का; **वाचो दैव्यैच मानुष्यै च** (ऐ० आ०) दिव्य और मानुषी दोनों वाणियों का; **स्त्रियै पयः** (ऐ० ब्रा०) नारी का दूध; **धेन्वै वा एतद् रेतः** (तै० ब्रा०) वस्तुतः यह धेनु का रेत है; **जीर्णायै त्वचः** (कौ० ब्रा०) पुराने चमड़े का; **ज्यायसी याज्यायै** (ऐ० ब्रा०) याज्या से बड़ी; **अस्यै दिवो स्यादन्तरिक्षात्** (शां०

श्रौ० सू०) इस द्युलोक से, इस अन्तरिक्ष से । इसी प्रकार का आदेश एक बार अ० वे० में हुआ है; यथा—**स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः** उसके सगे संबंधी सो जायँ ।

३६६—संज्ञा-शब्द **स्त्री** स्त्री० नारी (सम्भवतः **सूत्री** जन्मदात्री का आकुंचित रूप) मिश्रित शब्द-रूप के अनुरूप होता है । यथा—**स्त्री**, **स्त्रियम्** या **स्त्रीम्**, **स्त्रिया**, **स्त्रियै**, **स्त्रियास्**, **स्त्रियाम्**, **स्त्रि**; **स्त्रियौ**, **स्त्रीभ्याम्**, **स्त्रियोस्**; **स्त्रियस्**, **स्त्रियस** या **स्त्रीस्**, **स्त्रीभिस्**, **स्त्रीभ्यस्**, **स्त्रीणाम्**, **स्त्रीषु** (किन्तु द्वितीया रूप **स्त्रीम्** और **स्त्रीस्** प्राचीनतर भाषा में नहीं पाये जाते हैं; और सं० **स्त्रि** उद्धरणीय नहीं है) । स्वरप्रक्रिया धातु-शब्द वाली है; रूप (विशेषतः प्र० एक०) अन्य या व्युत्पन्न विभाग के जैसे होते हैं ।

विशेषण

३६७—अ—जहाँ तक पुंलिंग और स्त्रीलिंग रूपों का प्रश्न है, अन्त्य दीर्घ स्वर वाले मूल विशेषणों के और उत्तर-पद में प्रथम विभाग के शब्द को रखने वाले समासों के प्रयोग का विवेचन ऊपर पर्याप्त हो चुका है । रचना में नपुंसक शब्द बनाने के लिए उत्तरकालिक भाषा का नियम है कि अन्त्य दीर्घ स्वर ह्रस्व कर दिया जाय; और इस प्रकार के निर्मित शब्द का रूप इकारान्त या उकारान्त विशेषण (३३९, ३४१, ३४४) की तरह चलेगा ।

आ—इस प्रकार के नपुंसक रूप खूब विरल हैं, और प्राचीनतर भाषा में प्रायः अज्ञात हैं । वेद में ईकारान्त शब्दों में नपुंसक रूप केवल **हरिश्रियम्** द्विती० एक० (पुं० रूप) और **सुआधिअस्** ष० एक० (पुं० और स्त्री० के समान ही) प्राप्त हैं; ऊकारान्त शब्दों से कुछ उदाहरण ही प्राप्त हैं और उन शब्द-रूपों से जो पुं० और स्त्री० भी हो सकते हैं; यथा—**विभु**, **सुभु**, इत्यादि (प्र० द्विती० एक०; तुलनीय ३५४), **सुपुंआ** और **मयोभवा**, तृ० एक०; और **मयोभु** द्विती० बहु० (तुलनीय **पुरु**, ३४२ क); आकारान्त शब्दों से **आस्** अन्त वाले प्र० एक० के केवल आधे दर्जन उदाहरण पुं० और स्त्री० रूप की तरह प्राप्त होते हैं ।

इ—समास, जिनके उत्तरपद में द्वितीय विभाग वाली संज्ञाएँ मिलती हैं, केवल **आ** वाले प्रत्ययान्त शब्दों से सामान्य हैं; और पुं० तथा नपुं० दोनों में ये अन्त्य को ह्रस्वित कर देते हैं । यथा **अ** नहीं और **प्रजा** सन्तान से पुं० और नपुं० शब्द **अप्रज**, स्त्री० **अप्रजा** सन्तानविहीन बनते हैं । ईकारान्त और ऊकारान्त संज्ञाओं के साथ इस प्रकार के समासों का रूपविधान पुं० और स्त्री० में सरल शब्दों की तरह (केवल **ईन्** और **ऊन्** के साथ पुं० द्विती०

बहु० में) माना गया है; किन्तु बैयाकरणों द्वारा दिये गये उदाहरण काल्पनिक हैं।

ई—ह्रस्वित अन्त्य वाले शब्द यदा-कदा उपलब्ध होते हैं; यथा—**एकपत्नि, आत्तलक्ष्मि;** और इस प्रकार के क्रियाविशेषण रूप (नपुं० द्विती० एक०) यथा **उपभैमि, अभ्युज्जयिनि**। सभी लिंगों में **स्त्री** शब्द का ह्रस्वविधान **स्त्रि** के रूप में निर्दिष्ट है।

३६८—सभी लिंगों के लिए अकारान्त विशेषण शब्द की सम्पूर्ण तालिका प्रस्तुत करना सुविधाजनक है। इस उद्देश्य के लिए हम **पाप** दुर्गुण को लेते हैं, जिसका स्त्रीलिंग उत्तरकालिक भाषा में सामान्यतया **आ**-अन्त वाला बनाया जाता है, किन्तु प्राचीनतर भाषा में **ई**-अन्त वाला।

एकवचन :

	पुं०	नपुं०	स्त्री०	स्त्री०
प्र०	**पापस्**	**पापम्**	**पापा**	**पापी**
द्विती०	**पापम्**		**पापाम्**	**पापीम्**
तृ०	**पापेन**		**पापया**	**पाप्या**
च०	**पापाय**		**पापायै**	**पाप्यै**
पं०	**पापात्**		**पापायास्**	**पाप्यास्**
ष०	**पापस्य**		**पापायास्**	**पाप्यास्**
स०	**पापे**		**पापायाम्**	**पाप्याम्**
सं०	**पाप**		**पापे**	**पापि**

द्विवचन :

	पुं०, नपुं०	स्त्री०	स्त्री०
प्र० द्विती० सं०	**पापौ पापे**	**पापे**	**पाप्यौ**
तृ० च० पं०	**पापाभ्याम्**	**पापाभ्याम्**	**पापीभ्याम्**
ष० स०	**पापयोस्**	**पापयोस्**	**पाप्योस्**

बहुवचन :

	पुं०, नपुं०	स्त्री०	स्त्री०
प्र०	**पापास् पापानि**	**पापास्**	**पाप्यस्**
द्विती०	**पापान् पापानि**	**पापास्**	**पापीस्**
तृ०	**पापैस्**	**पापाभिस्**	**पापीभिस्**
च० पं०	**पापेभ्यस्**	**पापाभ्यस्**	**पापीभ्यस्**
ष०	**पापानाम्**	**पापानाम्**	**पापीनाम्**
स०	**पापेषु**	**पापासु**	**पापीषु**

शब्दरूप—४ थ

ऋकारान्त (या अर् अन्त वाले) शब्द

३६९—यह शब्दरूप अपेक्षाकृत सीमित है, प्रायः **तृ** (या **तर्**) प्रत्यय से बनी प्रत्ययान्त संज्ञाओं से पूर्णतः संबद्ध है, जिस प्रत्यय से कर्ता अर्थ वाले पुंलिंग शब्द (कृदन्तक्रियारूप की तरह भी प्रयुक्त) और कुछ संबन्धबोधक संज्ञाएँ बनती हैं।

अ—किन्तु इसमें कुछ ऐसी संबन्धबोधक संज्ञाएँ भी सम्मिलित हैं जो इस प्रत्यय से नहीं बनी हैं; यथा—**देवृ** पुं०, **स्वसृ** और **ननान्दृ** स्त्री०; और इनके अतिरिक्त **नृ** पुं०, **स्तृ** (वे० में) पुं०, **उस्तृ** (वे० में) स्त्री०, **सव्यष्ठृ** पुं०, और स्त्रीलिंग संख्यावाची शब्द **तिसृ** और **चतसृ** (जिनके लिए, दे० ४८२, उ, ए)। **तृ** अन्त वाले स्त्रीलिंग शब्द केवल **मातृ, दुहितृ** और **यातृ** हैं।

आ—इन शब्दों का रूपविधान इकारान्त और उकारान्त (द्वितीय शब्दरूप) के अत्यधिक अनुरूप होता है; उनकी तुलना में इसका वैशिष्ट्य मुख्यतः शब्द के विकास को ही लेकर होता है जिसमें दो रूप उपलब्ध हैं, एक परिपूर्ण सबल विभक्तिरूपों में, दूसरा संक्षिप्ततर दुर्बल रूपों में।

३७०—**शब्द के रूप**। (स० एक० को छोड़कर) दुर्बल विभक्तियों में शब्दान्त्य ऋ होता है, जो दुर्बलतम विभक्तियों में या स्वर-विभक्तिचिह्न से पूर्व नियमित रूप **र्** में (१२९) परिवर्तित हो जाता है। किन्तु सबल विभक्तियों में इस शब्दरूप के प्रातिपदिक दो वर्गों में विभक्त होते हैं। इनके एक में—जो बहुत अधिक व्यापक है, जिसके अन्तर्गत सभी कर्त्रर्थ वाले शब्द और **नप्तृ** और **स्वसृ** संबन्धबोधक संज्ञाएँ भी तथा **स्तृ** और **सव्यष्ठृ** अनियमित शब्द होते हैं—**ऋ** का वृद्धिभाव होता है अर्थात् यह **आर्** हो जाता है; द्वितीय वर्ग, जिसमें **नृ** और **उस्तृ** के साथ सभी संबन्धबोधक संज्ञाएँ आती है, में **ऋ** का गुणभाव होता है अर्थात् यह **अर्** में परिवर्तित हो जाता है। दोनों वर्गों में स० एक० का शब्दान्त्य **अर्** होता है।

३७१—**विभक्तिचिह्न**। ये सामान्यतः नियत होते हैं; किन्तु निम्न अपवाद प्राप्त हैं :

अ—प्र० एक० (पुं० और स्त्री०) सब समय **आ** (मूल **अर्स्** या **आर्स्** के लिए) में अन्त होता है। स० एकवचन **अर्** अन्त वाला होता है।

आ—द्वितीया एक० (सबलीकृत) मूल में **अम्** जोड़ता है; द्विती० बहु०

में (इ और उ शब्दों की तरह) पुं० विभक्ति-चिह्न के रूप में **न्** और स्त्री० विभक्ति-चिह्न के रूप में **स्** लगते हैं, इनके पूर्व **ऋ** दीर्घ हो जाता है।

इ—पं० ष० एक० **ऋ** को **उर्** (या **उस्**, १६९ आ) में परिवर्तित कर देता है।

ई—ष० बहु० (यथा इकारान्त और उकारान्त शब्दों में) में **आम्** के पूर्व **न्** का आगम होता है, और इसके पूर्व का शब्दान्त्य दीर्घ हो जाता है। किन्तु **नृ** का **ऋ** विकल्प से ह्रस्व बना रहता है।

उ—ऊपर के नियम उत्तरकालिक भाषा के होते हैं। प्राचीनतर भाषा में इनके कुछ व्यत्यय प्राप्त हैं। यथा :

ऊ—प्र० द्वितो० सं० द्विव० का विभक्तिचिह्न (यथा वेद में व्यापक रूप से) औ के स्थान में **आ** नियमतः होता है (ऋ० वे० में केवल दस औ-रूप)।

ए—कुछ शब्दों में स० एक० का **इ** दीर्घ **ई** हो जाता है : यथा—**कर्तरी**।

ऐ—ष० बहु० में मध्यागमित न् के बिना **स्वस्राम्** ऋ० वे० में एक बार प्राप्त है; और **नृणाम्** के स्थान में **नराम्** प्रचलित है।

ओ—**नृ** की अन्य अनियमितताएँ च० एक० **नरे**, ष० **नरस्** और स० **नरि** होती हैं। वेद में सर्वत्र ष० बहु० में **नृणाम्** लिखित है, किन्तु इसका **ऋ** अधिकांश स्थलों में छन्द की दृष्टि से दीर्घ है।

औ—**उस्** स्त्री० अरुणोदय शब्द के सं० एक० **उषर्**, ष० एक० **उस्रस्**, और द्वितो० बहु० भी **उस्रस्** और स० एक० **उस्राम्** (जो छन्द की दृष्टि से त्र्यक्षर है, **उसृआम्**), जैसे कि ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों के सादृश्य पर बने हों, प्राप्त हैं। स० एक० में **उस्रि** एक बार आता है, किन्तु इसका पाठ, जैसे कि नियमित त्र्यक्षरिक रूप, **उषरि** अपेक्षित है (**स्** और **ष्** के विनिमय के लिए, देखिए १८१ अ)।

क—**स्तृ** से केवल **तारस्** (स्पष्टतः) और **स्तृभिस्** आते हैं।

ख—ष०-स० द्विव० में विभक्तिचिह्न **ओस्** से पूर्व ऋ प्रायः सर्वदा पृथक् अक्षर की तरह उच्चरणीय है। यथा—**पितृओस्**, आदि। दूसरी ओर **ननान्दरि** का पाठ एक बार **ननान्द्रि** की तरह अपेक्षित है।

ग—नपुंसक रूपों के लिए देखिए नीचे, ३७५।

३७२—**स्वर**। स्वरप्रक्रिया इकारान्त और उकारान्त शब्दों के नियमों का अनुसरण घनिष्ठ भाव से करती है—यदि स्वरपात शब्द के अन्त्य पर होता, तो यह सर्वत्र तद्रूपी अक्षर पर उदात्तत्व के रूप में सुरक्षित रहता है; अपवाद

केवल षष्ठी बहु० है जहाँ यह आगे विभक्तिचिह्न पर पड़ सकता है (और वेद में ऐसा सर्वदा होता है); जहाँ दुर्बलतम विभक्तियों में **ऋ र्** हो जाता है, वहाँ विभक्तिचिह्न उदात्त होता है। **नृं** और **स्तृं**, इन दो एकाक्षरिक शब्दों में एकाच् स्वरपात नहीं देखा जाता है : यथा—(ऊपर दिये गये रूपों के अतिरिक्त) **नृभिस्**, **नृषु**।

३७३—**शब्दरूप के उदाहरण।** रूपविधान की इस विधि के आदर्शों के लिए हम प्रथम वर्ग से (सबल रूपों में आर् से युक्त) **दातृ** पुं० देने वाला और **स्वसृ** स्त्री० बहन शब्दों को; द्वितीय वर्ग से (सबल रूपों में अर् से युक्त) **पितृ** पुं० पिता शब्द को ले सकते हैं।

एकवचन :

प्र०	दाता	स्वसा	पिता
द्विती०	दातारम्	स्वसारम्	पितरम्
तृ०	दात्रा	स्वस्रा	पित्रा
च०	दात्रे	स्वस्रे	पित्रे
पं०-ष०	दातुर्	स्वसुर्	पितुर्
स०	दातरि	स्वसरि	पितरि
सं०	दातर्	स्वसर्	पितर्

द्विवचन :

प्र० द्विती० सं०	दातारौ	स्वसारौ	पितरौ
तृ० च० पं०	दातृभ्याम्	स्वसृभ्याम्	पितृभ्याम्
ष० स०	दात्रोस्	स्वस्रोस्	पित्रोस्

बहुवचन :

प्र० सं०	दातारस्	स्वसारस्	पितरस्
द्विती०	दातॄन्	स्वसॄस्	पितॄन्
तृ०	दातृभिस्	स्वसृभिस्	पितृभिस्
च० पं०	दातृभ्यस्	स्वसृभ्यस्	पितृभ्यस्
ष०	दातॄणाम्	स्वसॄणाम्	पितॄणाम्
स०	दातृषु	स्वसृषु	पितृषु

अ—स्त्रीलिंग **मातृ** माता शब्द के रूप ठीक **पितृ** के समान ही चलते हैं, केवल इसका द्वितीया बहुवचन रूप **मातॄस्** है।

आ—विशिष्ट वैदिक रूप ऊपर पर्याप्त रूप से उदाहृत हो चुके हैं; विकीर्ण

प्रयोगों के अतिरिक्त अन्य के कुछ उदाहरण होते हैं : प्र० प्रभृति द्विव० **दातारा, स्वसारा, पितरा** और **नृ** का ष० बहु० **नराम्** ।

इ—रामा० महा० में **पितरस्** और **मातरस्** आदि प्र० बहु० रूप द्वितीया-विभक्ति की तरह भी प्रयुक्त उपलब्ध होते हैं ।

३७४—**क्रोष्टृ** पुं० गीदड़ (शाब्दिक अर्थ, जोर से चिल्लाने वाला) की मध्य (दुर्बल) विभक्तियों में **क्रोष्टु** के अनुरूपी रूप रखे जाते हैं ।

३७५—**नपुंसक रूप ।** वैयाकरण **तृ** अन्त वाले प्रातिपदिकों के लिए **वारि** या **मधु** (ऊपर ३३९, ३४१) के ठीक अनुरूप एक पूर्ण नपुंसक शब्द रूप निर्धारित करते हैं । इस प्रकार, उदाहरणार्थ :

	एक०	द्विव०	बहु०
प्र० द्विती०	**धातृ**	**धातृणी**	**धातॄणि**
तृ०	**धातृणा**	**धातृभ्याम्**	**धातृभिस्**
ष०	**धातृणस्**	**धातृणोस्**	**धातॄणाम्**
सं०	**धातृ, धातर्**	**धातृणी**	**धातॄणि**

अ—किन्तु दुर्बलतम विभक्तियों के रूप (विशेषण के समान प्रयुक्त इकारान्त और उकारान्त शब्दों की तरह, ३४४) पुंलिंग विभक्ति रूपों के अनुरूप वैकल्पिक रूप से संभव हैं । यथा—**धात्रा**, इत्यादि ।

आ—वेद में इस प्रकार के नपुंसक रूप नहीं पाये जाते हैं, किन्तु इस कर्त्रर्थ वाली संज्ञा में अपेक्षाकृत अधिक विशेषण रूप देने (तुलनीय, जर्मन Retter **रेट्टेर,** Retterin **रेट्टेरिन,** फ्रेंच menteur **मान्तर,** menteuse **मान्तोज**) और, (समानाधिकरणी) विशेष्य संज्ञा के अनुरूप लिंग देने की सामान्य प्रवृत्ति के फलस्वरूप ब्राह्मणों में इनका प्रयोग होने लगा । इस प्रकार तै० ब्रा० में **अन्तरिक्षम्** के विशेषण पद **भर्तृ** और **जनयितृ नक्षत्राणि** के **भर्तॄणि** और **जनयितॄणि** हमें प्राप्त होते हैं; जिस प्रकार मनु० में **इन्द्रियाणि** का विशेषण पद **ग्रहीतॄणि** है ।

इ—यदि स्त्रीलिंग संज्ञा की विशेषता उस ढंग से द्योतित करना होता है, तो ई अन्त वाला सामान्य स्त्रीलिंग प्रत्ययान्तपद प्रयुक्त होता है । यथा—तै० ब्रा० में **आपस्** और **अहोरात्रे** के विशेषण पद **भर्त्र्यस्** और **भर्त्र्यौ जनयित्र्यस्** और **जनयित्र्यौ** होते हैं; और ऐसे प्रयोग असाधारण नहीं हैं ।

ई—ऋ० वे० में पुं० संज्ञाओं के समानाधिकरण में **मातृस्** के लिए **मातॄन्** द्विती० बहु० में यही प्रवृत्ति बड़ी अस्वाभाविकता के साथ एक बार देखी जाती है ।

उ—ऋ० वे० में अन्य नपुंसक रूप ष० एक० स्थातुर्, स० एक० ध्मातरी होते हैं; और तृ के स्थान में प्र० एक० के कुछ अल्पाधिक संदिग्ध प्रयोग स्थातर्, स्थातुर्, धर्तरि हैं।

विशेषण

३७६—अ—इस शब्दरूप के मूल विशेषण नहीं होते हैं; इसकी अर्ध-विशेषण स्वरूप वाली संज्ञाओं के लिए, देखिए ऊपर (३७५ आ)। स्त्रीलिंग शब्द ई प्रत्यय द्वारा बनाया जाता है : यथा दात्री, धात्री।

आ—ऋकारान्त धातुएँ (इकारान्त और उकारान्त धातुओं की तरह, ३४५), जब समास के उत्तरपद में आती हैं, सविभक्तिक प्रातिपदिक बनने में त् जोड़ती हैं; यथा कर्मकृत् √(कृ), वज्रभृत् √(भृ), बलिहृत् √(हृ)। कुछ धातुओं से इर् और उर् अन्त वाले प्रातिपदिक भी बनते हैं, देखिए नीचे, ३८३ अ, आ।

इ—विशेषण समासों के अन्त्यों की तरह आने वाली संज्ञाओं के रूप पुं० और स्त्री० में उसी प्रकार चलते हैं जैसा कि वे शुद्ध हों; नपुंसक में प्र० द्विती० सं० के सभी वचनों में ये निस्संदेह विशिष्ट नपुं० विभक्ति-चिह्नों का ग्रहण करेंगी।

ई—किन्तु तै० सं० में एक बार त्वंपितारस्, प्र० बहु० = तुम्हें पिता के रूप में पाने वाला, मिलता है।

शब्दरूप—५ म

व्यंजनान्त शब्द

३७७—सभी व्यंजनान्त शब्द समुचित ढंग से एक ही व्यापक शब्दरूप के संगठन में एक साथ वर्गित किये जा सकते हैं, यद्यपि इनके कुछ में रूपविधान की विशिष्टताएँ देखी जाती हैं, किन्तु ये प्रायः केवल शब्द से संबद्ध होती हैं, शब्दरूप के विभक्ति-चिह्नों से नहीं।

३७८—इस शब्द-रूप में समान अन्त्य वाले पुंलिंग और स्त्रीलिंग शब्दों के रूप एक ही प्रकार चलते हैं; और नपुंसक (जैसा कि सामान्यतया अन्य शब्द-रूपों में) केवल सभी वचनों के प्र० द्विती० सं० में भिन्न होते हैं।

अ—तो भी, व्यंजनान्त शब्दों में से अधिकांश के रूप स्त्रीलिंग में नहीं होते हैं, किन्तु पुं० के दुर्बल रूप में ई (आ कदापि नहीं) अन्त्यप्रत्यय से लगाकर प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग शब्द बनता है।

आ—अपवाद रूप सामान्यतः अ और आ विभागों के शब्द होते हैं—यथा धातुमूलक शब्द प्रभृति तथा **अस्, इस्** और **उस्** अन्त वाले। विशिष्ट रूपों के लिए, देखिए नीचे।

३७९—व्यंजनान्त शब्दों में सबलतर और दुर्बलतर रूपों को लेकर विभिन्नताएँ खूब सामान्य हैं; या तो दो श्रेणियों (सबल और दुर्बल) की अथवा तीनों (सबल, मध्य और दुर्बलतम) की; देखिए ऊपर, ३११।

अ—विशिष्ट नपुंसकरूप सामान्य नियम के अनुसार (३११ आ) बहुवचन में सबल रूप से और एकवचन और द्विवचन में दुर्बल रूप से बनाये जाते हैं—अथवा, जब कि श्रेणीकरण त्रिविध होता है, तो एकवचन में मध्य शब्द से, द्विवचन में दुर्बलतम से ये प्राप्त हैं।

आ—ह्रस्व स्वरान्त शब्दों की तरह (**आस्यानि, वारीणि, मधूनि, दातॄणि,** इत्यादि (विशिष्ट नपुंसक बहुवचन विभक्तियों में कभी-कभी नासिक्य का आगम होता है, जो रूप विधान में अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता है। इस प्रकार **अस्, इस्, उस्** अन्त वाले शब्दों से **आंसि, ईंषि,—ऊंषि** प्र० द्विती० सं० बहुवचन रूप प्रत्येक काल में खूब सामान्य होते हैं। वैयाकरणों के अनुसार धातुमूलक शब्द प्रभृति (विभाग अ) उसी प्रकार गृहीत हैं; किन्तु भाषा में ऐसे नपुंसकों के उदाहरण अत्यधिक विरल हैं; किसी भी वैदिक ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता है, तथा ब्राह्मणों और सूत्रों में केवल—**हुन्ति** (ऐ० ब्रा० ६-२-३), **वृन्ति** (पं० ब्रा० १६-२-७)—**भांजि** (कौ० ब्रा० २७-७), **भृन्ति** (श० ब्रा० ८-२-३) और—**युञ्जि** (ला० श्रौ० सू० २-१-८) देखे गये हैं; जब कि उत्तरकालिक भाषा में—**श्रुन्ति** (रघु०)—**पूंषि** (शिशु०) जैसे प्रयोग यदा-कदा पाये जाते हैं; इस तरह की संभावना हो सकती है कि ये कहीं परवर्तीकाल के सादृश्यमूलक निर्माण हों।

३८०—विभक्ति-चिह्न ऊपर (३१०) 'नियत' चिह्नों के रूप में निर्दिष्ट वाले ही सर्वत्र लगते हैं।

अ—अन्त्यों से संबद्ध सामान्य नियमों (१५०) के अनुसार पुं० और स्त्री० प्र० एक० का स् नित्य लुप्त होता है, और इस अवस्था में शब्दान्त्य के विधान की अनियमितताएँ विरल नहीं होती हैं।

आ—ष० और पं० एकवचन विभक्तियाँ रूप में एक दूसरी से कभी भिन्न नहीं होती हैं— न तो प्र० और द्विती० बहु० ही विभक्ति-चिह्न लेकर भिन्न हैं। किन्तु ये कभी-कभी शब्दाकृति या स्वरपात अथवा दोनों दृष्टियों से भिन्न होते हैं।

३८१—स्वरपात के स्थान वाले परिवर्तन एकाक्षरिक शब्दों और अन्त् अन्त वाले कृदन्तक्रियारूपों (अन्त्य पर ही स्वरपात) में सीमित हैं। विस्तार के लिए दे० नीचे, अ और आ विभागों के अन्तर्गत।

अ—किन्तु प्राचीनतम भाषा में **अञ्च्** या **अच्** धातु के कुछ समासों के साथ उदात्त का अनियमित अन्तरण देखा जाता है : दे० नीचे–४१० ।

३८२—अ—निरूपण की स्पष्टता और सुविधा के लिए रूपविधान की समान विशिष्टताएँ रखने वाले कुछ विशिष्ट वर्गों को व्यंजनान्त शब्दों के सामान्य निकाय से पृथक् रखना समीचीन होगा और सर्वाधिक संगत रूप से इनका विवेचन एक साथ किया जा सकता है। इस प्रकार :

ख—**अस्, इस्, उस्** प्रत्ययान्त शब्द;

ग—**अन् (अन्, मन्, वन्)** प्रत्ययान्त शब्द;

घ—**इन् (इन्, मिन्, विन्)** प्रत्ययान्त शब्द;

च—**वांस्** अन्त वाले परोक्षभूतकालिक कृदन्तक्रिया शब्द;

छ—**यांस्** या **यस्** अन्त वाले तुलनार्थक शब्द ।

आ—तव, विशेषतः धातुमूलक शब्द, या वे जो आकृति में धातुओं के समान होते हैं, साथ ही अपेक्षाकृत थोड़े से अन्य शब्द जिनके रूप इनके समान चलते हैं, क विभाग के निर्माण के लिए बच जाते हैं।

ऊपर निर्दिष्ट क्रम में इन्हें प्रस्तुत किया जायगा।

क—धातु-शब्द तथा समान रूप वाले शब्द

३८३—इस विभाग के शब्द यों विभक्त किये जा सकते हैं :

(१) अ—वे धातुशब्द जिनमें किसी प्रकार का निर्देश-प्रत्यय धातु के साथ युक्त नहीं रहता है : यथा ऋ॑च् छन्द, गि॑र् गायन, प॑द् पाँव, दि॑श् दिशा, म॑ह् (वे०) बड़ा ।

आ—किन्तु इस प्रकार के शब्द सब समय रूप में धातु के समान नहीं होते हैं; यथा—√(वच्) से वा॑च्, √(सृज्) से स्र॑ज्, √(मुष्) से मू॑ष्, √(व्रश्च्) (?) से व्रि॑श, √(वस्) चमकना से उ॑ष्;—**ॠ** अन्त वाली धातुओं से **इर्** और **उर्** अन्त वाले शब्द प्राप्त होते हैं : जैसे—**गि॑र्, आ-शि॑र्, स्ति॑र, जु॑र्, तु॑र्, धु॑र्, पु॑र्, मु॑र्, स्तु॑र्, स्फु॑र्**; तथा √(प्सर्) से प्सु॑र् ।

इ—अभ्यस्त धातु वाले शब्द इनकी श्रेणी में रखे जा सकते हैं : यथा—**चिकि॑त्, यवीयु॑ध , वनी॑वन्, सं॑स्यद्** ।

ई—असमस्त प्रयोग में इस विभाग के शब्द प्राचीनतर भाषा में यथासंभव साधारण होते हैं। इस प्रकार ऋ० वे० में इनके एक सौ से अधिक प्राप्त हैं; अ० वे० में लगभग साठ; किन्तु श्रेण्य संस्कृत में किसी धातु को इस प्रकार स्वेच्छया प्रयुक्त करने की सामर्थ्य लुप्त हो जाती है, और उदाहरण अपेक्षाकृत खूब कम हैं। तथापि समास के अन्त्य के रूप में विशेषण-प्रयोग सभी कालों में अति प्रचलित है (देखिए नीचे, ४०१)।

उ—धातु-संज्ञा के विभिन्न प्रकारों के तुमर्थक प्रयोग के लिए, द्रष्टव्य ९७१।

(२) ऊ—**धातु के अन्त्य ह्रस्वस्वर में त् के योग से बने शब्द।**

ए—कोई भी स्वतः धातु-शब्द ह्रस्व स्वरान्त नहीं होता है, यद्यपि ह्रस्व स्वर शब्द रूपों में उसके परिवर्तित होने के उदाहरण (३५४) उपलब्ध होते हैं, किन्तु सविभक्तिक रूप के लिए **इ** या **उ** या **ऋ** में **त्** जुड़ता है। यथा—**जित्**, **श्रुत्**, **कृत्**। किन्तु ऋकारान्त धातुओं से, जैसा कि अभी देखा गया है (**आ**), **इर्** अथवा **उर्** अन्त वाले शब्द भी बनते हैं।

ऐ—इन शब्दों के प्रयोग और पुनरावर्तन के प्रसंग में धातु-शब्दों को लेकर ऊपर दिया गया विवेचन लागू होता है। वेद में ऐसे रूपों के लगभग तीस उदाहरण मिलते हैं; इनमें से कुछ (**मित्**, **रित्**, **स्तुत्**, **हुत्**, **वृत्** और **द्युत्**, यदि यह **द्यु** से निष्पन्न माना जाय) स्वतन्त्र प्रयोग में प्राप्त हैं। **ऋ** अन्त वाली धातुओं में से **कृ**, **धृ**, **ध्वृ**, **वृ**, **सृ**, **स्पृ**, **हृ**, और **ह्वृ** द्वारा **त्** जोड़ा जाता है। **गा** (या **गम्**) और **हन्** धातुओं से भी अ अन्त वाले संक्षिप्त रूप में **त्** के योग से—**गत्** और **हत्** बनते हैं (इस प्रकार **अध्वगत्**, **द्युगत्**, **द्विगत्**, **नवगत्** और **संहत्**)।

(३) आ—एकाक्षरिक शब्द (कुछ प्रत्यक्ष द्वित्व वाले शब्द भी) जो भाषा में निश्चित रूप से किसी क्रिया रूप मूल से सम्बद्ध नहीं किये जा सकते, किन्तु जिनमें किसी निश्चित प्रत्यय के अभाव में धातु-शब्दों का स्वरूप प्राप्त होता है। यथा—**त्वच्** चमड़ा, **पथ्** मार्ग, **हृद्** हृदय, **अप्** और **वार्** जल **द्वार्** दरवाजा, **आस्** मुँह, **ककुभ्** और **ककुद्** शिखर।

ओ—प्राचीनतर भाषा में इस प्रकार के लगभग तीस या चालीस शब्द प्राप्त हैं, और उनमें से कुछ परवर्ती प्रयोग में प्रचलित रहते हैं, जब कि कुछ शब्द रूप की अन्य विधियों में परिवर्तित हो जाते हैं अथवा लुप्त हो जाते हैं।

क—शब्द जो अल्पाधिक मात्रा में स्पष्टतः व्युत्पन्न हैं, किन्तु विरल या मात्र विच्छिन्न प्रयोग वाले प्रत्ययों से निष्पन्न हैं। यथा :

१—वत् प्रत्यय लगाकर पूर्वसर्गों से व्युत्पन्न (वेद) । अर्वावत्, आवत्, उद्वत्, निवत्, परावत्, प्रवत्, संवत्,—२–कुछ विच्छिन्न रूपों में तात् (संभवतः ताति से संक्षेपीकृत) अन्त वाले व्युत्पन्न शब्द; (वेद); इस प्रकार—उपरतात्, देवतात्, वृकतात्, सत्यतात्, सर्वतात्;—३–विभिन्न स्वरों के बाद में आने वाले त् अन्तवाले अन्य व्युत्पन्न शब्द; यथा—दशत्, वेहत्, वहत्, स्रवत्, सश्चत्, वाघत्; नपात्, तडित्, दिवित्, योषित्, रोहित्, सरित्, हरित्; मरुत्, यकृत्, शकृत्, और ३०, ४०, ५० के संख्यावाची शब्द त्रिंशत् आदि (४७५);—४– अद्, अन्त वाले शब्द, यथा दृषद्, धृषद्, भसद्, वनद्, शरद्, समद्;—५—विभिन्न स्वरों के परवर्ती ज् अन्त वाले शब्द; जैसे—तृष्णज्, धृषज्, सनज्, भिषज्; उशिज्, वणिज्, भूरिज्, निणिज (?); असृज्—६—प्रत्यक्षतः रूपात्मक सिन् ध्वनि में अन्त होने वाले कुछएक शब्द : यथा—भास्, मास्, भीष्;—७—अवर्गणीय स्वरूपों के अवशेष; उदाहरणार्थ—विष्टप्, विपाश, कपृथ्, शुरुध्, इषिध्, पृक्षुध्, रघट् (?), सरघ्, विस्रह्, उष्णिह्, कवष्।

३८४—लिंग। क्रियार्थ—जैसे धातु-शब्द नियमतः स्त्रीलिंग होते हैं और कृ कर्त्रर्थक—जैसे पुंलिग (जो कि संभवतः इनके विशेषण-तत्त्व के नाम प्रयोग स्वरूप ही हैं, नीचे ४००)। किन्तु स्त्रीलिंग संज्ञा लिंग परिवर्तन के बिना बहुधा वस्तुरूप में ही प्रयुक्त होती है ; यथा—द्रुह् स्त्री० √(द्रुह्) (प्रतिकूल होना) का अर्थ बाधा पहुँचाना, शत्रुत्व होता है, और साथ ही, बाधा पहुँचाने वाला, घृणा करने वाला, शत्रु—इस प्रकार पुंलिंग अर्थ के निकट आती है। और कुछ स्त्रीलिंगों में से कुछ में तो पूर्णतः स्थूल अर्थ विद्यमान है। समग्र विभाजन में पुंलिग स्त्रीलिगों की अपेक्षा बहुत कम होते हैं और नपुंसक सर्वाधिक विरल।

अ—हृद् (हार्द् भी), दम्, वार्, स्वर, मास्, मांस, आस्, मुंह, भास्, दोस् (जिनके साथ निर्विभक्तिक शम् और योस का उल्लेख किया जा सकता है) स्वतंत्र नपुंसक-शब्द हैं; यकृत्, शकृत्, कपृथ्, असृज् जैसे प्रत्यक्ष व्युत्पन्न शब्द भी।

३८५—सबल और दुर्बल शब्द-रूप। रूपों के इन दो वर्गों का भेद सामान्यतः या तो अनुनासिक की उपस्थिति या अनुपस्थिति के चलते अथवा शब्द-स्वर के मात्रा-भेद, ह्रस्व या दीर्घ, के चलने किया जाता है; बहुत कम स्थलों में अन्य विधियों के चलते।

३८६—निम्नलिखित शब्दों के सबल रूपों में अनुनासिक प्राप्त होता है :—

१—सामासिक शब्द जिनके उत्तर-पद में धातु **अच्** या **अञ्च्** हो, दे० नीचे; ४०७ मु० वि०; और ऋ० वे० में **व्यच्** धातु से **उरुव्यञ्चम्** आया है,—२—प्राचीनतर भाषा में कभी-कभी **युज् मूल** से; यथा—प्र० एक० **युङ्** (**युङ्क्** के लिए), द्विती० **युञ्जम्** , द्विव० व० **युञ्जा** (किन्तु **युंजम्** और **युंजा** भी);—३—प्राचीनतर भाषा में समास के उत्तरपद वाला—**दृश्** मूल; किन्तु केवल पुं० प्र० एक० में और नित्य रूप से नहीं। इस प्रकार **अन्यादृङ्** , **ईदृङ्** , **कीदृङ्** , **तादृङ्** , **एतादृङ्** और **प्रतिसदृङ्** , किन्तु साथ ही, **ईदृक्** , **तादृक्** , **स्वदृक्** आदि;—४—**पथ्** और **पुंस्** के लिए, जिनके स्थान में अपेक्षाकृत अधिक वितत मूल आते हैं, और **दन्त्** के लिए द्रष्टव्य नीचे, ३९४-६।

३८७—निम्नलिखित सबल रूपों में **अ** स्वर दीर्घ कर दिया जाता है।

१—कुछ उदाहरणों (वे०) में समासों के अन्त में **वच्**, **सच्**, **सप्**, **नभ्**, **शस्** धातुओं से;—२—**वह्** और **सह्** धातुओं से, किन्तु अनियमित ढंग से; दे० नीचे, ४०३–५;—३–**अप्** जल से (दे० ३९३); इसके सामासिक **रीत्यप्** में भी;—४—**पद्** पाँव से; उत्तरकालिक भाषा में इस शब्द के समासों से इसी प्रकार का दीर्घत्व मध्य रूपों में भी प्राप्त है; तथा ऋ० वे० और अ० वे० में नपुं० प्र० एक०—**पत्** और **पात्** दोनों ही होते हैं, जबकि—**पादे** ऋ० वे० में एक बार आया है, और ब्राह्मणों में–**पाद्भिस्** और–**पात्सु** प्राप्त होते हैं;—५–**नस्** नाक से (? **नासा** स्त्री० प्र० द्विव०, ऋ० वे० में एक बार);—६—(वे० में) विकीर्ण उदाहरण होते हैं : याज् (?) सं० एक०; **पार्थस्** और–**रायस्** द्विती० बहु० **वनीवानस्** प्र० बहु०। **भाज्** और **राज्** दीर्घीकृत रूप प्रयोग के सभी वर्गों में नित्य प्राप्त हैं।

३८८—**अ** के लोप अथवा इससे युक्त अक्षर के आकुंचन द्वारा विभेदीकरण की अन्य विधियाँ कुछ शब्दों में देखी जाती हैं :

१—**हन्**, में; दे० नीचे, ४०२;—२–अ के विस्तार के साथ **क्षम्** (वे०) में; यथा—**क्षामा** द्विती० व०, **क्षामस्** बहु० **क्ष्मा** तृ० एक०, **क्षामि** स० एक०, **क्ष्मस्** पं० एक०;—३–**द्वार्** , दुर्बल रूपों में **दुर्** (वे०) में संकुचित (किन्तु दो वर्गों की थोड़ी-बहुत गड़बड़ी लेकर);—४–**स्वर्** में, जो ऋ० वे० में **सूर्**, दुर्बल रूपों में हो जाता है; परवर्ती काल में यह निर्विभक्तिक बन जाता है।

३८९—विभक्ति-चिह्न ऊपर निर्दिष्ट के समान (३८०) होते हैं।

अ—शब्द के अन्त्य के साथ उनके संयोजन में तथा पदान्त में आने पर उनकी प्रक्रिया में श्रुति-संयोजन के नियम अनुसरणीय (अध्याय—३) हैं; शब्द रूप में अन्यत्र की अपेक्षा यही उनका प्रयोग अधिक नियत और बहुविध होता है।

आ—संयोजन की कुछ अपवाद रूप अवस्थाओं के प्रति (वे०) ध्यान अपेक्षित है; **मास्** माह से **माद्भिस्** और **माद्भ्यस्**; **पद्** से आपाततः अव्यवस्थित **पड्भिस्** (ऋ० वे० और वा० सं०; अ० वे० में **पद्भिस्** नित्य रूप से प्राप्त है) ; (**सरहस्** के स्थान में, २२२) **सरघस्** प्र० बहु० के अनुरूपी **सरट्** और **सरड्भ्यस्**। १४३–अ के अनुसार **दन्** स्पष्टतः **दम्** के लिए है।

इ—वैयाकरणों के अनुसार नपुंसक शब्द, यदि ये अनुनासिकान्त अथवा अन्तःस्थान्त न हों, प्र० द्विती० सं० बहु० में अन्त्य व्यंजन से पूर्व वृद्धिरूप अनुनासिकत्व का ग्रहण करते हैं। किन्तु नपुंसक नाम-शब्दों से वैसा कोई भी रूप प्रयोग में नहीं मिलता है, और धातु में अन्त होने वाले विशेषण-शब्दों को लेकर दे० ऊपर ३७९ आ।

३९०—एकाक्षरिक शब्दों में विभक्ति-चिह्न के ऊपर अग्र-स्वरपात वाला नियमित उदात्त दुर्बल रूपों में प्राप्त होता है।

अ—किन्तु केवल अल्पसंख्यक शब्दों (एक तिहाई से कुछ अधिक) में द्वितीया बहुवचन से विभक्ति-चिह्न के ऊपर दुर्बलरूप विषयक नियत स्वराघात मिलता है; यथा **दतस्**, **पथस्**, **पदस्**, **निदस्**, **अपस्**, **उषस्**, **ज्ञासस्**, **पुंसस्**, **मासस्**, **महस्** में; और कभी-कभी **वाचस्**, **स्रुचस्**, **ह्रुतस्**, **स्रिधस्**, **क्षपस्**, **विपस्**; **दुरस्**, **इषस्**, **द्विषस्**, **द्रुहस्** (साथ ही **वाचस्** इत्यादि) में।

आ—अपवाद-स्वरूप उदाहरण, जहाँ दुर्बल रूप रहते शब्द उदात्त होता है, निम्नलिखित प्राप्त हैं : **सदा**, **नद्भ्यस्**, **तना** (**तना** भी) और **तने**, **बाधे** (तुमर्थ०), **रणे**, और **रसु**, **वसु**, **स्वनि**, **विपस्** **क्षमि**, **सूरा** और **सूरस्** (किन्तु **सूरे**), **अंहस्**, और **वनस्** तथा **बृहस्** (**वनस्पति** और **बृहस्पति** में)। दूसरी ओर प्र० बहु० **महस्** और **कासम्** (अ० वे०—संभवतः भ्रामक पाठ) से दुर्बल रूप में विभक्ति-चिह्न पर उदात्त प्राप्त है। और तृ० एक० **प्रेषा** पर उदात्तत्व है, जैसे कि **प्र०–इष्** के स्थान में **प्रेष्** सरल शब्द हो। **विमृधः** संदिग्ध-प्रकृतिक है। **अच्** या **अञ्च्** अन्त वाले शब्दों के कादाचित्क अनियमित स्वरपात के लिए, दे० ४१०।

३९१—**शब्द रूप के उदाहरण :** नियमित एकाक्षरिक रूप विधान के उदाहरणस्वरूप (**√(वच्)** से नित्य दीर्घत्व वाले) **वाच्** स्त्री० वाणी को; सबल और दुर्बल शब्द वाले रूप-विधान के लिए **पद्** पुं० पाँव को, अनेकाक्षरिक रूप-विधान के लिए **मरुत्** पुं० पवन या पवन-देव को और नपुंसक में समास वाले एकाक्षरिक धातु-शब्द के लिए **त्रिवृत्** तीन गुना को हम ले सकते हैं।
इस प्रकार :

एकवचन :

प्र० सं०	वाक्	पात्	मरुत्	त्रिवृत्
द्विती०	वाचम्	पादम्	मरुतम्	त्रिवृत्
तृ०	वाचा	पदा	मरुता	त्रिवृता
च०	वाचे	पदे	मरुते	त्रिवृते
पं० ष०	वाचस्	पदस्	मरुतस्	त्रिवृतस्
स०	वाचि	पदि	मरुति	त्रिवृति

द्विवचन :

प्र०द्विती०सं०	वाचौ	पादौ	मरुतौ	त्रिवृती
तृ० च० पं०	वाग्भ्याम्	पद्भ्याम्	मरुद्भ्याम्	त्रिवृद्भ्याम्
ष० स०	वाचोस्	पदोस्	मरुतोस्	त्रिवतोस्

बहुवचन :

प्र० सं०	वाचस्	पादस्	मरुतस्	त्रिवृन्ति
द्विती०	वाचस्, वाचस्	पदस्	मरुतस्	त्रिवृन्ति
तृ०	वाग्भिस्	पद्भिस्	मरुद्भिस्	त्रिवृद्भिस्
च० पं०	वाग्भ्यस्	पद्भ्यस्	मरुद्भ्यस्	त्रिवृद्भ्यस्
ष०	वाचाम्	पदाम्	मरुताम्	त्रिवृताम्
स०	वाक्षु	पत्सु	मरुत्सु	त्रिवृत्सु

पदान्त में और विभक्ति-चिह्नों के साथ संयोजन में शब्दान्त्य के परिवर्तन की मुख्य विधियों के उदाहरण-स्वरूप कुछ और शब्दों के विशिष्ट विभक्ति रूप यहाँ दिये जाते हैं। यथा :

अ—**ज्** अन्तवाले शब्द : **युजादि** गण (२१९ अ, १४२) **भिषज्** वैद्य, **भिषक्**, **भिषजम्**, **भिषग्भिस्**, **भिषक्षु**;—**मृजादि** गण (२१९ आ, १४२), **सम्राज्** एकच्छत्र राजा; **सम्राट्**, **सम्राजम्**, **सम्राड्भिस्**, **सम्राट्सु**।

आ—ध् अन्त वाले शब्द : **वृध्** वृद्धि; **वृत्**, **वृधम्**, **वृद्भिस्**, **वृत्सु**; **बुध्** (१५५) जागरण; **भुत्**, **बुधम्**, **भुद्भिस्**, **भुत्सु** ।

इ—भ् अन्त वाले शब्द : **स्तुभ्**, स्तुति करना; **स्तुप्**, **स्तुभम्**, **स्तुब्भिस्**, **स्तुप्सु** ।

ई—श् अन्त वाले शब्द : **दिश्** (२१८ अ; १४५) दिशा; **दिक्**, **दिशम्** **दिग्भिस्**, **दिक्षु**, **विश्** (२१८, १४५) लोग; **विट्**, **विशम्**, **विड्भिस्**, **विट्सु** (वै० **विक्षु**; २१८ अ) ।

उ—ष् अन्त वाले शब्द (२२६ आ, १४५) : **द्विष्** शत्रु; **द्विट्**, **द्विषम्**, **द्विड्भिस्**, **द्विट्सु** ।

ऊ—ह् अन्त वाले शब्द : **दुहादि** गण (२३२-३ आ, १३५ आ, १४७) **दुह्** दूध उत्पन्न करना; **धुक्**, **दुहम्**, **धुग्भिस्**, **धुक्षु**; रुहादिगण (२२३ आ; १४७) **लिह्** चाटना; **लिट्**, **लिहम्**, **लिड्भिस्**, **लिट्सु** ।

ए—म् अन्त वाले शब्द (१४३ अ, २१२ अ, केवल प्र० एक० **प्रशान्** उद्धरणीय) : **शाम्** शान्ति, **शान्**, **शामम्**, **शान्भिस्**, **शान्सु** ।

३९२—**इर्** और **उर्** (३८३ आ) अन्त वाले धातु-शब्दों का स्वर दीर्घ हो जाता है, जब अन्त्य **र्** के बाद दूसरा व्यंजन (२४५ आ) आता है, और प्र० एक० (जहाँ विभक्ति-चिह्न **स्** लुप्त हो जाता है) में भी ऐसा प्राप्त है ।

अ—इस प्रकार **गिर्** गायन स्त्री० से **गीर्** (**गीः**), **गिरम्**, **गिरा** प्रभृति; **गिरौ**, **गीर्भ्याम्**, **गिरोस्** ; **गिरस्**, **गीर्भिस्**, **गीर्भ्यस्**, **गिराम्**, **गीर्षु** (१६५) होते हैं; और इसी ढंग से **पुर्** दुर्ग स्त्री के रूप **पूर्** (**पूः**) **पुरम्**, **पुरा** इत्यादि; **पुरौ**, **पूर्भ्याम्** **पुरोस्** ; **पुरस्**, **पूर्भिस्**, **पूर्भ्यस्**, **पुराम्**, **पूर्षु** बनते हैं ।

आ—**इस्** (अत्यधिक विरल **पिस्** को छोड़कर) या **उस्** अन्त वाली धातुएँ प्राप्त नहीं हैं, किन्तु **शास्** धातु से **इ** में (२५०) इसके **आ** के दुर्बलीकृत होने पर **आशिस्** अनुकम्पा स्त्री० संज्ञा बनती है, जिसके रूप **गिर्** की तरह चलते हैं । यथा—**आशीस्** (**आशीः**), **आशिषम्**, **आशिषा** इत्यादि; **आशिषौ**, **आशीर्भ्याम्**, **आशिषोस्**, **आशिषस्**, **आशीर्भिस्**, **आशीर्भ्यस्**, **आशिषाम्**, **आशीःषु** ; तथा **सजूस्** एक साथ स्पष्टतः जुष् धातु से उसी प्रकार के निर्माण का अपरिवर्तित प्र० विभक्ति रूप है । **प्रुष्** धातु शब्द से **अष्टाप्रूट्** (तै० सं०) रूप एकाकी और असंगत है ।

इ—पद रचना एवं व्युत्पत्ति की प्रक्रिया में **इर्**, **उर्**, **इस्** अन्त वाले शब्दों से भी इस प्रकार का स्वर-दीर्घीकरण देखा जाता है; यथा—**गीर्वाण**, **पूर्भिद्**,

धूर्गत, धूस्त्व; आशीर्दा, आशीर्वन्त इत्यादि (किन्तु साथ ही **गिर्वन्, गिर्वणस**)।

ई—देशी व्याकरण में सन्नन्त धातु-मूल से बने **जिगमिस्** जाने की इच्छा करते हुए (१०२७) जैसे अर्ध-धात्विक शब्दों का वर्ग माना जाता है और उसके लिए **आशिस्** की तरह शब्द रूप विहित है। यथा—**जिगमीस्, जिगमिषा, जिगमीर्भिस्, जिगमीःषु,** इत्यादि। इस प्रकार का वर्ग वैयाकरणों का काल्पनिक कथन ही प्रतीत होता है, क्योंकि इसका कोई भी उदाहरण पूर्वकाल या उत्तरकाल की भाषा में उद्धरणीय नहीं है, और क्योंकि णिजन्त शब्द **गमय** से भिन्न कोई विशिष्ट सन्नन्त शब्द **जिगमिस्** वस्तुतः नहीं होता है।

३९३—**अप्** स्त्री० जल शब्द के रूप केवल बहुवचन में चलते हैं; और **भ्** से पूर्व इसके अन्त्य का विषमीभाव **द्** में होता है (१५१ उ): यथा—
आपस्, अपस्, अद्भिस्, अद्भ्यस्, अपाम् अप्सु।

अ—किन्तु ऋ० वे० में तृ० एक० **अपा** और ष० **अपस्** प्राप्त हैं। पूर्वतर-कालिक भाषा (विशेषतः अ० वे०) में तथा रामायण-महाभारत में भी प्रयोग लेकर प्र० और द्विती० बहुवचन रूपों का व्यत्यय होता है, **आपस्** द्वितीया की तरह प्रयुक्त है और **अपस्** प्रथमा की तरह।

आ—**अप्** मूल के अतिरिक्त इस शब्द के विभक्ति-रूप कभी-कभी पद-रचना और व्युत्पत्ति-विधान में प्रयुक्त होते हैं :

उदाहरणार्थ ऐसे **अब्जा, आपोदेवता, आपोमय, अप्सुमन्त** हैं।

३९४—**पुंस्** पुं० पुरुष शब्द खूब अनियमित हैं; सबल विभक्तियों में **पुमांस्** बन जाता है, और विभक्ति-चिह्न के आदि **भ्** से पूर्व इसका **स्** (नित्य रूप से) लुप्त हो जाता है तथा इसी प्रकार (इसके सादृश्य के आधार पर अथवा २३० में उल्लिखित के अनुरूप संक्षेपण द्वारा) स० बहुवचन में भी। उत्तर-कालिक भाषा में (प्रायः इस प्रकार से रूपायित परोक्ष भूतकालिक कृदन्तक्रिया-पदों के अनुरूप, दे० ४६२ अ) सम्बोधन रूप **पुमन्** है, किन्तु पूर्वतरकाल में पुमस्। इस प्रकार **पुमान्, पुमांसम्, पुंसा, पुंसे, पुंसस्, पुंसि, पुमन्; पुमांसौ पुम्भ्याम्, पुंसोस्; पुमांसस्, पुंसस्, पुम्भिम्, पुम्भ्यस्, पुंसाम्, पुंसु।**

अ—यह देखा जायगा कि दुर्बल रूपों का स्वराघात यथार्थ एकाक्षरिक शब्द वाला होता है। प्राचीनतर भाषा में कहीं भी **भ्**—विभक्ति-चिह्नों वाले रूप नहीं आते हैं, और न तो ये उत्तरकाल में उद्धृत पाये जाते हैं। सबल और

दुर्बल रूपों की असंगति के उदाहरण यदा-कदा प्राप्त होते हैं। दुर्बलतम विभक्ति-रूपों में अमूर्धन्यीकृत **स्** संरक्षण (जिससे संभवतः स० बहु० वाला रूप नित्य आता है) के लिए द्रष्टव्य १८३ अ।

आ—पद-रचना और व्युत्पत्ति में यह शब्दरूपों के अनेक वैविध्य को लेकर आता है। यथा **पुंश्चली, पुंरूप, पुंवत्, पुमर्थ** प्रभृति में **पुम्** की तरह, **पुंसवन्त्** में **पुंस** की तरह; समास के अन्त में या तो अपने पूर्ण रूपविधान के साथ, यथा **स्त्रीपुंस्** आदि में, या पुंस की तरह **स्त्रीपुंस, महापुंस** में या **पुम** की तरह **स्त्रीपुम** (तै० सं०, तै० आ०)।

३९५—**पथ** पुं० मार्ग शब्द-रूप लेकर अपूर्ण है, केवल दुर्बलतम विभक्ति रूप ही बनते हैं; जब कि सबल रूप **पन्था** या **पन्थन्** से और मध्य **पथि** से बनाये जाते हैं; दे० अन्-शब्दों के अन्तर्गत, नीचे, ४३३।

३९६—**दन्त्** दाँत पुं० शब्द संभवतः कृदन्तक्रियारूप की उत्पत्ति वाला है और कृदन्त क्रियारूप की तरह सबल और दुर्बल रूप **दन्त्** और **दत्** की तरह रूप प्राप्त होते हैं। यथा (वे०) **दन्, दन्तम्, दता** प्रभृति; **दतस्**, द्वितीo बहु० आदि। किन्तु मध्य विभक्ति-रूपों में इसका उदात्तत्व कृदन्तक्रियारूप वाला न होकर ऐकाक्षरिक वाला होता है। जैसे—**दद्भिस्, दद्भ्यस्**। पु० बहु० में—**दन्तस्** के स्थान में—**दतस्** भी प्राप्त है। वैयाकरणों के अनुसार इस शब्द के सबल रूप का निर्माण नित्य **दन्त** से होता है।

३९७—इस विभाग के अनेक शब्द अपूर्ण हैं जिनके रूप के कुछ अंश अन्य आकृति वाले शब्दों से बनते हैं।

अ—इस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार **हृद्** हृदय नपुं०, **मांस्** या **मांस्** मांस पुं०, **मास्** माह पुं०, **नस्** नाक स्त्री०, **निश्** रात स्त्री० (प्राचीनतर भाषा में अप्राप्त), **पृत्** सेना स्त्री०—इसके रूप सभी वचनों की प्रथमा विभक्ति में और एक० तथा द्विव० की द्वितीया विभक्ति में (निस्संदेह, नपुंसक, द्वितीया बहुवचन भी) नहीं होते हैं, और ये रूप क्रमशः **हृदय, मांस, मास, नासिका, निशा, पृतना** से प्राप्त हैं। किन्तु प्राचीनतर भाषा का प्रयोग इस विधान के अनुरूप पूर्णतः नहीं होता है। यथा—**मांस्** मांस द्वितीo एक०; **मास्** माह पुं० एक० और **नासा** नथुने द्विव० हमें मिलते हैं। **पृत्** से केवल स० बहु० **पृत्सु** आता है और (ऋ० वे० एक बार) उसी विभक्ति में द्विक चिह्न लगाकर **पृत्सुषु** प्राप्त है।

३९८—दूसरी ओर इस विभाग के कुछ शब्द, जिनमें वैयाकरणों द्वारा पूर्व रूपविधान माना गया है, दूसरी आकृति के शब्दों की त्रुटियों के पूर्त्यर्थ प्रयुक्त हैं।

अ—इस प्रकार **असृज्** रक्त नपुं०, **शकृत्** विष्ठा नपुं०, **यकृत्** गुर्दा नपुं०, **दोस्** अग्रबाहु नपुं० (पुं० भी) अपने साथ अपूर्ण शब्द भी रखते हैं, दे० नीचे (४३२)। तथापि प्राचीनतर भाषा में प्र० द्विती० एकवचन को छोड़कर इनका कोई अन्य रूप प्राप्त नहीं है, और उत्तरकाल में अन्य विभक्तिरूप स्वल्प मात्रा में ही सुरक्षित हैं।

आ—**आसन्** और **आस्य**, तथा **उदन्** और **उदक** (४३२) के साथ-साथ **आस्** मुँह नपुं० और **उद्** जल के केवल एक या दो ही विभक्तिरूप प्राचीनतर भाषा में प्राप्त होते हैं।

३९९—ऊपर निर्दिष्ट वैकल्पिक शब्दों में से कुछ शब्द हलन्त से स्वरान्त शब्दरूप में संक्रमण के निदर्शन हैं। यथा—**दन्त, मास**। इसी प्रकार के अन्य कतिपय उदाहरण, प्राचीनतर भाषा में आकस्मिक रूप से और उत्तरकालिक भाषा में अपेक्षाकृत अधिक सामान्य रूप से, आते हैं। ऐसे हैं—**पाद-माद, -दाश, भ्राज, विष्टप, द्वार** और **दुर, पुर, धुर,-दृश, नासा, निदा, क्षिपा, क्षपा, आशा** और संभवतः कुछ **दूसरे**।

अ—कुछ अनियमित शब्दों का अधिक समीचीन स्थान विशेषणों के अन्तर्गत होगा।

विशेषण

४००—प्राचीनतम भाषा में भी धातु रूप वाले मूल विशेषण अपेक्षाकृत विरल हैं।

अ—ऋ० वे० से लगभग आधे दर्जन के ऐसे विशेषण, अधिकांशतः केवल कुछ विकीर्ण विभक्तियों में, उद्धरणीय हैं। किन्तु **मह्** बड़ा, ऋ० वे० में सामान्य है, यद्यपि यह शीघ्र ही परवर्ती काल में लुप्त हो जाता है। इससे व्युत्पन्न स्त्रीलिंग शब्द **मही** है जो पृथ्वी प्रभृति के अर्थ में प्रयुक्त रहता है।

४०१—किन्तु उत्तरपद में धातु वाले सामासिक विशेषण वर्तमानकालिक क्रियारूप के अर्थ को लेकर भाषा के प्रत्येक काल में अत्यन्त प्रयुक्त हैं।

अ—इसी रूप के संबन्धार्थ विशेषण समास खूब विरल नहीं हैं। उदाहरणार्थ—**यतस्रुच्** दत्तपात्र वाला; **सूर्यत्वच्** सूर्य-त्वचा वाला; **चतुष्पद्** चार पावों वाला; **सुहार्द्** सुन्दर हृदय वाला, मैत्रीपूर्ण; **रीत्यप्** (अर्थात् रीति-अप्) प्रवहमाणजलधारा वाला; **सहस्रद्वार**, हजारों द्वार से युक्त।

आ—इस प्रकार के सामासिक शब्दों का रूपविधान सरल धातुशब्दों के अनुरूप है, पुंलिंग और स्त्रीलिंग सर्वत्र एक समान होते हैं और नपुंसक सभी वचनों की प्र० द्विती० सं० विभक्तियों में ही भिन्न होता है। किन्तु शिविष्ट

नपुंसक रूप विरल प्रयोग वाले होते हैं, और इनके स्थान में पुं० स्त्री० कभी-कभी प्रयुक्त होते हैं।

इ—व्युत्पन्न स्त्रीलिंग शब्द **ई** प्रत्यय लगाकर विरले ही बनता है—प्राचीनतर भाषा में केवल **अच्** या **अञ्च्** (४०७ मु० वि०) वाले, **हन्** वाले (४०२), **एकपदी, द्विपदी** जैसे पद वाले और **वृषदती** जैसे **दन्त** वाले सामासिकों से बने, तथा **मही, अमुची** (अ० वे०), **उपसदी** (? श० ब्रा०) प्राप्त हैं।

रूपविधान की अनियमितताएँ इनमें होती हैं :

४०२—समास के अन्त्य होने से धातु **हन्** हत्या करना के रूप बहुत कुछ **अन्**-अन्त वाली (दे० ४२० मु० वि०) व्युत्पत्तिमूलक संज्ञाओं की तरह चलते हैं; प्र० एक० में **हा** होता है, तथा मध्य विभक्तिरूपों में इसका **न्** और दुर्बलतम रूपों में (किन्तु स० एक० में केवल विकल्प से) इसका अ लुप्त हो जाता है। पुनः जब स्वर का लोप होता है, तब परवर्ती **न्** के संयोग से **ह्** अपने मूल **घ्** में प्रत्यावर्तित होता है। इस प्रकार :

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	वृत्रहा		
द्वितीο	वृत्रहणम्	वृहत्रहणौ	वृत्रहणस्
तृ०	वृत्रघ्ना		वृत्रघ्नस्
च०	वृत्रघ्ने	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभिस्
पं०	वृत्रघ्नस्		वृत्रहभ्यस्
ष०			वृत्रघ्नाम्
स०	वृत्रघ्नि,-हणि	वृत्रघ्नोस्	वृत्रहसु
सं०	वृत्रहन्	वृत्रहणौ	वृत्रहणस्

अ—न् के ण् परिवर्तन के लिए दे० १९३, १९५।

आ—दुर्बलतम विभक्तियों में प्राप्त शब्दस्वरूप में नियमानुसार ई प्रत्यय लगाकर स्त्रीलिंग बनता है; यथा—**वृत्रघ्नी**।

इ—(प्र० की तरह) द्वितीο बहुवचन—**हनस्** भी प्राप्त है। प्राचीनतर भाषा से मध्य विभक्तिरूप **वृत्रहभिस्** (ऋ० वे० एक बार) एक मात्र उद्धरणीय है। अकारान्त शब्द-रूप में संक्रमण वेद में ही आरम्भ हो जाता है; यथा—**ह** (ऋ० वे०, अ० वे०), **घ्न** (ऋ० वे०), —**हन** में।

४०३—वैयाकरणों के अनुसार समास के अन्त में आने वाली **वह्** ले जाना धातु सबल और मध्य दोनों ही विभक्तिरूपों में दीर्घत्व पाकर **वाह्** हो

जाती है, तथा दुर्बलतम विभक्तिरूपों में आकुंचित होकर **उह्** हो जाती है, जो पूर्ववर्ती अ-स्वर के साथ औ (१३७ अ) में परिणत होती है। यथा—**हव्यवह्** हव्य को ले जाने वाला (अग्नि का विशेष नाम) से **हव्यवाट्**, **हव्यवाहम्**, **हव्यौहा** आदि; **हव्यवाहौ**, **हव्यवाड्भ्याम्**, **हव्यौहोस्**; **हव्यवाहस्**, **हव्यौहस्**, **हव्यवाड्भिस्** आदि। और **श्वेतवह्** (अनुद्धरणीय) प्र० एक० **वास्** में और सम्बोधन **वस्** या **वास्** में रूप बनाने से और भी अधिक नियमित माना जाता है।

अ—पूर्वतरकालिक भाषा में **वह्** वाले सामासिकों के सबलरूप ही उपलब्ध हुए हैं। यथा—**वाट्**,-**वाहम्**,-**वाहौ** या **वाहा** और **वाहस्**। किन्तु दुर्बलतम शब्द से ईकारान्त स्त्रीलिंग-यथा **तुर्यौही**, **दित्यौही**, **पष्ठौही**—ब्राह्मणों में प्राप्त होते हैं। तै० सं० में अनियमित प्र० एक० रूप **पष्ठवाट्** मिलता है।

४०४—अधिक अनियमित रूपनिर्माण और रूपविधान में **वह्** वाला एक सामान्य सामासिक आता है, उदाहरणस्वरूप **अनड्वह्** (**अनस्** + **वह्** भार वहन करने वाला या गाड़ी खींचने वाला, अर्थात् बैल)। सबल विभक्तिरूपों में इसका शब्दस्वरूप **अनड्वाह्** होता है, दुर्बलतम रूपों में **अनडुह्** और मध्य-विभक्तिरूप में **अनडुद्** (संभवतः **अनडुड्** के विषमीभाव से)। पुनः इसके प्र० और सं० एकवचन वान् और वन् में बनते हैं (जैसा कि वन्त्-शब्द से हो)। इस प्रकार :—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	**अनड्वान्**	**अनड्वाहौ**	**अनड्वाहस्**
द्विती०	**अनड्वाहम्**		**अनडुहस्**
तृ०	**अनडुहा**	**अनडुद्भ्याम्**	**अनडुद्भिस्**
च०	**अनडुहे**		**अनडुद्भ्यस्**
पं०	**अनडुहस्**		
ष०		**अनडुहोस्**	**अनडुहाम्**
स०	**अनडुहि**		**अनडुत्सु**
सं०	**अनड्वान्**	**अनड्वाहौ**	**अनड्वाहस्**

अ—प्राचीनतर भाषा से एकमात्र मध्यविभक्तिरूप **अनडुद्भ्यस्** (अ० वे० एक बार) उद्धरणीय है। किन्तु सामासिक शब्द जिनमें मध्य मूल देखा जाता है—यथा **अनडुच्छत, अनडुदर्ह**—ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।

आ—अनुरूपी स्त्रीलिंग शब्द (अधिक असामान्य प्रयोग वाला) **अनडुही** (श० ब्रा०) या **अनड्वाही** (का०, मै० सं०) होता है।

४०५—वेद में **सह्** जीतना धातु के साथ दोहरी अनियमितता मिलती है। **अ**-स्वर के बाद भी इसका **स्**—यथा स्वतंत्र विशेषण रूप में आये इसके एकल प्रयोग में भी (ऋ० वे०, **त्वां षाट्**)—ष् में परिर्वतनीय है, जब कि **इ** या **उ** स्वर के बाद यह कभी-कभी अपरिवर्तित बना रहता है; और सबल एवं दुर्बल दोनों रूपों में इसका अ या तो दीर्घित हो जाता है या अपरिवर्तित रहता है। उद्धरणीय रूप होते हैं—**षाट्, षाहम्** या **साहम्** या **सहम्, सहा, साहे** या **सहै,—षाहस्** या **षहस्** या **सहस्; सहा** (द्विवचन); **षाहस्** या **सहस्**।

४०६—**अवयाज्** (**√(यज्)** आहुति देना) पुरोहित विशेष (बॉ० रॉ०) या एक प्रकार का यज्ञ, सामासिक से प्र० और सं० एकवचन **अवयास्** और इसके मध्यविभक्तिरूप **अवयस्** से माने जाते हैं।

अ—इसका एकमात्र उद्धरणीय रूप **अवयास्**, स्त्री० (ऋ० वे० और अ० वे०, दोनों में एक बार) है। यदि शब्द **अव+√यज्** से मनाना निष्पन्न माना जाय, **अवयास्** बहुत संभव **अव+√या** से है जिसका अर्थ समान है। किन्तु **सधमास्** (ऋ० वे०, एक बार) और **पुरोदास्** (ऋ० वे० दो बार) से दीर्घ आ के बाद विभक्ति-चिह्न **स्** के प्र० एकवचन रूप में अन्त्य धातु-व्यंजन (क्रमशः **द्** और **श्**) के लिए उसी प्रकार का प्रत्यक्ष प्रतिस्थापन देखा जाता है। तुलनीय कथित **श्वेतवास्** (ऊपर ४०३) भी।

४०७—**अञ्च्** या **अच्** के साथ सामासिक शब्द :

उपसर्ग तथा अन्य शब्दों के संयोग में अच् या अञ्च् धातु सर्वथा अनियमित रूपनिर्माण और रूपविधान के सामान्यतया प्रयुक्त विशेषणों का व्यापक वर्ग बनाती है, जिनके कुछ में इसका धातु-लक्षण प्रायः समाप्त हो जाता है और यह व्युत्पत्ति वाला प्रत्यय बन जाती है।

अ—इन विशेषणों में से कुछ के केवल दो शब्द-स्वरूप होते हैं, **अञ्च्** (पुं० प्रथमा एक० में **अङ्क्स्** से **अङ्** होकर) वाला सबल रूप और **अच्** वाला दुर्बल रूप; दूसरों में **च्** वाला दुर्बलतम शब्द **अच्** वाले मध्य से भिन्न

होता है जिससे पूर्व अ पूर्ववर्ती इ या उ के साथ ई या ऊ में संकुचित हो जाता है।

आ—दुर्बलतम विभक्तिरूपों में प्रयुक्त प्रातिपदिक रूप में ई लगाकर स्त्रीलिंग बनाया जाता है और उनके अनुरूप स्वरपात होता है।

४०८—रूपविधान के उदाहरणों के लिए हम **प्राञ्च्** आगे, पूर्वदिशा, **प्रत्यञ्च्** विपरीत, पश्चिम; **विंष्वञ्च्** पृथक् होने वाला शब्दों को रख सकते हैं।

एकवचन :

प्र० सं०	प्राङ्	प्राक्	प्रत्यङ्	प्रत्यंक्	विष्वङ्	विंष्वक्
द्वि०	प्राञ्चम्	प्राक्	प्रत्यञ्चम्	प्रत्यंक्	विंष्वञ्चम्	विंष्वक्
तृ०	प्राचा		प्रतीचा			विंषूचा
च०	प्राचे		प्रतीचे			विंषूचे
पं०, ष०	प्राचस्		प्रतीचस्			विंषूचस्
स०	प्राचि		प्रतीचि			विंषूचि

द्विवचन :

प्र० द्विती० सं०	प्राञ्चौ	प्राची	प्रत्यञ्चौ	प्रतीची	विंष्वञ्चौ	विंषूची
तृ० च० पं०	प्राग्भ्याम्		प्रत्यग्भ्याम्		विंष्वग्भ्याम्	
ष० स०	प्राचोस्		प्रतीचोस्		विंषूचोस्	

बहुवचन :

प्र० सं०	प्राञ्चस्	प्राञ्चि	प्रत्यञ्चस्	प्रत्यञ्चि	विंष्वञ्चस्	विंष्वञ्चि
द्वि०	प्राचस्	प्राञ्चि	प्रतीचस्	प्रत्यञ्चि	विंषूचस्	विंष्वञ्चि
तृ०	प्राग्भिस्		प्रत्यग्भिस्			विंष्वग्भिस्
च० पं०		प्राग्भ्यस्		प्रत्यग्भ्यस्		विंष्वग्भ्यस्
ष०	प्राचाम्			प्रतीचाम्		विंषूचाम्
स०	प्राक्षु			प्रत्यक्षु		विंष्वक्षु

अ—स्त्रीलिंग शब्द क्रमशः **प्राची, प्रतीची, विंषूची** होते हैं।

आ—नपुं० प्र० प्रभृति एकवचन को (और यह साधारणतया क्रियाविशेषण की तरह प्रयुक्त है) छोड़कर मध्यरूपों का कोई अन्य उदाहरण न ऋ० वे० में मिलता है और न अ० वे० में। उन्हीं ग्रन्थों में **ञ्चि** अन्त वाला नपुं० प्र० प्रभृति बहुवचन-रूप अनुपलब्ध है, किन्तु इसके कतिपय उदाहरण ब्राह्मणों में

आते हैं : यथा—**प्राञ्चि**, **प्रत्यञ्चि**, **अर्वाञ्चि**, **सम्यञ्चि**, **सध्यञ्चि**, **अन्वञ्चि** ।

४०९—अ—**प्राञ्च्** की तरह **अपाञ्च्**, **अवाञ्च्**, **पराञ्च्**, **अर्वाञ्च**, **अधराञ्च्** तथा अन्य विरल प्रयोग वाले प्राप्त हैं ।

आ—प्रत्यञ्च की तरह **न्यञ्च** (अर्थात् **निअञ्च**), **सम्यञ्च** (**सम्** + **अञ्च**, बीच में अनियमित रूप से इ लगाकर) और **उदञ्च** (दुर्बलतम शब्द **उदीच्** : **उद्** + **अञ्च्**, केवल दुर्बलतम विभक्ति-रूपों में इ के मध्यागम के साथ), साथ ही कुछ अन्य विरल शब्द रूपायित होते हैं ।

इ—**विष्वञ्च** की तरह **अन्वञ्च** के रूप चलते हैं; तीन या चार अन्य शब्द भी हैं जिनके केवल विकीर्ण रूप प्राप्त हैं ।

ई—और भी अधिक अनियमित **तिर्यञ्च्** है, जिसका दुर्बलतम प्रातिपदिक **तिरश्च्** (**तिरस्** + **अच्**: अन्य प्रातिपदिक मध्यागत इ के साथ **तिर** + **अञ्च्** या **अच्** से बनते हैं) होता है ।

४१०—प्रातिपदिकों तथा इनके रूपायित पदों को लेकर इन शब्दों का स्वरपात अनियमित होता है । कभी एक अंश पर स्वर होता है, और कभी दूसरे अंश पर; इस भिन्नता का कोई स्पष्ट कारण नहीं मिलता है । यदि सामासिक पद का अन्त्य अक्षर उदात्त होता है तो ऋ० वे० में स्वरपात दुर्बलतम विभक्तिरूपों के प्रत्यय पर चला जाता है, किन्तु प्रातिपदिक में ई या ऊ का आकुंचन अपेक्षित है । यथा—**प्राचा**, **अर्वाचा**, **अधराचस्**, किन्तु **प्रतीचा**, **अनूचस्**, **समीची** । किन्तु अ० वे० तथा अन्य परवर्ती ग्रन्थों में स्वरपात सामान्यतः प्रातिपदिक पर ही होता है; यथा—**प्रतीची**, **समीची**, **अनूची**, (ऋ० वे० में एक बार **प्रतीचीम्** प्राप्त है) । विभक्ति-चिह्नों पर स्वरपात का विचलन और ऐसा अनेकाक्षरिक शब्दों में भी, सभी सामान्य सादृश्य के प्रतिकूल पड़ता है ।

आ—**अस्**, **इस्**, **उस्** अन्त वाले **व्युत्पन्न शब्द** ।

४११—इस विभाग के शब्द अधिकांशतः नपुंसक होते हैं; किन्तु कुछ पुंलिंग भी हैं और एक या दो स्त्रीलिंग भी ।

४१२—**अस्** अन्त वाले शब्द बड़ी संख्या में होते हैं और ये अधिकतर **अस्** प्रत्यय वाले (कुछ **तस्** और **नस्** वाले हैं और कुछ अस्पष्ट हैं) ही हैं । अन्य बहुत कम होते हैं तथा प्रायः सभी **इस्** और **उस्** प्रत्ययों को लगाकर बने हैं ।

४१३—इनका रूपविधान प्रायः पूर्ण रूप से नियमित है। किन्तु पुं० और स्त्री० **अस्** अन्त वाले शब्दों के प्र० एकवचन में प्रत्यय-स्वर का दीर्घीकरण होता है; और नपुं० प्र० द्विती० सं० बहुवचन में आगम-नासिक्य (अनुस्वार) के पूर्व (अ या इ या उ की) समान दीर्घता होती है।

४१४—**शब्दरूप के उदाहरण।** उदाहरणों के रूप में **मनस्** नपुं० मन; **अङ्गिरस्** पुं० अंगिरस्; **हविस्** नपुं० आहुति शब्दों को हम रख सकते हैं।

एकवचन :

प्र०	मनस्	अङ्गिरास्	हविस्
द्विती०	मनस्	अङ्गिरसम्	हविस्
तृ०	मनसा	अङ्गिरसा	हविषा
च०	मनसे	अङ्गिरसे	हविषे
पं० ष०	मनसस्	अङ्गिरसस्	हविषस्
स०	मनसि	अङ्गिरसि	हविषि
सं०	मनस्	अङ्गिरस्	हविस्

द्विवचन :

प्र० द्विती० सं०	मनसौ	अङ्गिरसौ	हविषी
तृ० च० पं०	मनोभ्याम्	अङ्गिरोभ्याम्	हविर्भ्याम्
ष० स०	मनसोस्	अङ्गिरसोस्	हविषोस्

बहुवचन :

प्र० द्विती० सं०	मनांसि	अङ्गिरसस्	हवींषि
तृ०	मनोभिस्	अङ्गिरोभिस्	हविर्भिस्
च० पं०	मनोभ्यस्	अङ्गिरोभ्यस्	हविर्भ्यस्
ष०	मनसाम्	अङ्गिरसाम्	हविषाम्
स०	मनःसु	अङ्गिरःसु	हविःषु

इसी ढंग से **चक्षुस्** नपुं० आँख के रूप **चक्षुषा, चक्षुर्भ्याम्, चक्षूंषि** प्रभृति बनते हैं।

४१५—**वैदिक** आदि की **अनियमितताएँ** : अ—प्राचीनतर भाषा में **अस्** अन्त वाले शब्दों के—**असम्** (द्विती० एकवचन) और **असस्** (साधारणतया प्र०-द्विती० बहुवचन; एक या दो बार ष०-पं० एकवचन) विभक्ति-चिह्न बहुधा—**आम्** और—**आस्** में संकुचित होते हैं। यथा— **आशाम्, वेधाम्; सुराधास् अनागास्** तथा इस प्रकार के रूपों के प्रत्येक से

ही पूर्वतर और उत्तर दोनों कालों में **आशा, जरा, मेधा** जैसे आ—अन्त वाले प्रतिस्थापित प्रातिपदिक बनते हैं। इसी तरह अन्य रूपों से **अ** और **अस्** अन्त वाले शब्द उत्पन्न होते हैं जो भाषा के समग्र इतिहास में अल्पाधिक रूप से **अस्** अन्त वाले शब्दों में परस्पर परिवर्तित होते रहते हैं।

आ—अपेक्षाकृत अधिक विकीर्ण अनियमितताओं का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है : १. **औ** के स्थान में पुं० और स्त्री० द्विवचन का सामान्य विभक्ति-चिह्न **आ;** २. **उषस्** स्त्री० अरुणोदय प्र० एकवचन की तरह अन्य सबल विभक्तियों में भी अपने **अ** को बहुधा दीर्घित कर देता है : यथा— **उषासम्, उषासा, उषासस्** (और एक बार दुर्बल विभक्ति-रूप में, **उषासस्**); और इसके तृ० बहुवचन के लिए **उषोभिस्** के स्थान में **उषद्भिस्** आता है; ३. (ऋ० वे० में) **तोशस्** से उसी प्रकार का द्विवचन **तोशसा** एक बार पाया जाता है; ४. ऋ० वे० में **स्ववस्** और **स्वतवस्** से पुं० प्र० एकवचन जैसा कि **वन्त्** अन्त वाले शब्द से, **वान्** वाले रूप आते हैं; और ब्राह्मणों में समान रूपनिर्माण वाला **स्वतवद्भ्यस्** च०-पं० बहुवचन मिलता है।

इ—**इस्** और **उस्** अन्त वाले शब्दों में भी इकारान्त और उकारान्त तथा इषान्त और उषान्त शब्दों के साथ संक्रमण देखे जाते हैं। **अस्** अन्त वाले शब्द के अनुरूप **जनुस्** से प्रथमा एकवचन **जनूस्** (तुलनीय **जनूर्वासस्** भी, श० ब्रा०) बना है।

४१६—वैयाकरण ऊपर (३५५ अ) निर्दिष्ट व्यक्तिवाचक संज्ञा के नियमित प्रातिपदिक रूप में **उशनस्** मानते हैं; किन्तु इसके अनियमित प्र० **उशना** और सं० **उशनस्** या **उशन** या **उशनन्** रूप देते हैं। अस्-प्रातिपदिक के रूप प्रथमा-विभक्ति में भी यदा-कदा उत्तरकाल के साहित्य में मिलते हैं।

अ—अस् अन्त वाले शब्दों से **अहन्** या **अहर्** और **ऊधन्** या **ऊधर्** वाले रूपों के लिए देखिए नीचे ४३०।

विशेषण

४१७—अ—**अस्** अन्त वाले कुछ नपुंसक संज्ञाओं के, जिनके धातुमूलक अक्षर पर उदात्त होता है, **अस्** अन्त विशेषण या अभिधानीय होते हैं जहाँ प्रत्यय पर स्वरपात प्राप्त है। इस प्रकार उदाहरणस्वरूप **अपस्** कर्म, **अपस्** कर्मशील; **तरस्** शीघ्रता, **तरस्** शीघ्र; **यशस्** प्रताप; **यशस्** प्रतापी होते हैं। इस प्रकार के अन्य कुछ विशेषण, यथा **तवस्** पराक्रमी, **वेधस्** पुण्यवान् हैं, जिनकी तद्रूपी संज्ञाएँ नहीं होती हैं।

आ—**इस्** अन्त वाले मूल विशेषण (तथाकथित **इस्** अन्त वाले सन्नन्त विशेषणों के लिए दे० ३९२ ई०) नहीं मिलते हैं। किन्तु **उस्** वाले उतने ही विशेषण प्राप्त हैं जितनी संज्ञाएँ (लगभग प्रत्येक वर्ग के दश), और बहुत प्रयोगों में संज्ञा और विशेषण साथ-साथ स्थित हैं, उनमें किसी प्रकार का स्वर-भेद नहीं होता है जैसा **अस्** अन्त वाले शब्दों में प्राप्त है। उदाहरणार्थ—**तपुस्** उष्णता और उष्ण; **वपुस्** आश्चर्य और आश्चर्यजनक।

४१८—विशेषण सामासिक, जिनके उत्तर-पद में इस विभाग की संज्ञाएँ रहती हैं, बहुत सामान्य हैं: यथा—**सुमनस्** सुन्दर मन वाला; **दीर्घायुस्** दीर्घजीवी; **शुक्रशोचिस्** देदीप्यमान प्रकाश वाला, सभी लिंगों में प्रातिपदिक-रूप समान होता है, और प्रत्येक लिंग के रूप सामान्य विधि से चलते हैं; **अस्** अन्त वाले शब्दों के पुं० और स्त्री० प्र० एकवचन रूप **आस्** में (ऊपर, **अङ्गिरस्** की तरह) बनते हैं। इस प्रकार **सुमनस्** से प्र० और द्विती० विभक्ति-रूप यों हैं :

	एकवचन		द्विवचन		बहुवचन	
	पुं० स्त्री०	नपुं०	पुं० स्त्री०	नपुं०	पुं० स्त्री०	नपुं०
प्र०	**सुमनास्**	**-नस्**	**सुमनसौ**	**-नसी**	**सुमनसस्**	**-नांसि**
द्विती०	**सुमनसम्**	**-नस्**				

तथा अन्य सभी विभक्तिरूप (संबोधन को छोड़कर) सभी लिंगों में समान होते हैं।

अ—वेद और ब्राह्मण में नपुं० प्र० एकवचन रूप कतिपय स्थलों में अन्य लिंगों की तरह **आस्** में बना है।

आ—इसी प्रकार **दीर्घायुस्** से :

प्र०	**दीर्घायुस्**	**दीर्घायुषौ,–युषी**	**दीर्घायुषस्–यूंषि**
द्विती०	**दीर्घायुषम्,–युस्**		
तृ०	**दीर्घायुषा**	**दीर्घायुर्भ्याम्**	**दीर्घायुर्भिस्**
	आदि	आदि	आदि

४१९—**अनेहस्** अतुल (उत्तरकालिक भाषा में समय अर्थ में रूढ़) शब्द से पुं० और स्त्री० प्र० एकवचन **अनेहा** बनता है।

इ—अन् अन्त वाले व्युत्पन्न शब्द

४२०—इस विभाग के शब्द वे होते हैं जो **अन्, मन्** और **वन्** इन तीन प्रत्ययों से बने हैं, और साथ ही उनमें संदिग्ध व्युत्पत्ति वाले कुछ और शब्द

आते हैं जिनके रूप उनकी तरह ही चलते हैं। वे प्रायः ऐकान्तिक रूप से पुंलिंग और नपुंसक होते हैं।

४२१—प्रातिपदिक में विविध रूप प्राप्त हैं। पुंलिंग की सबल विभक्तियों में प्रत्यय का स्वर **आ** में दीर्घ कर दिया जाता है; दुर्बलतम विभक्तियों में या सामान्यतया लुप्त कर दिया जाता है; मध्य विभक्तियों में या व्यंजन से आरम्भ होने वाले विभक्ति-चिह्न से पूर्व अन्त्य **न्** का लोप होता है। दोनों लिंगों के प्रथमा एकवचन में भी **न्** लुप्त हो जाता है (पुंलिंग में **आ** अन्त्य वर्ण के रूप में बच जाता है, नपुंसक में **अ**)।

अ—नपुंसक के विशिष्ट रूप सामान्य सादृश्य (३११ आ) का अनुसरण करते हैं : प्र० द्विती० सं० बहुवचन में सबल विभक्तियों की तरह **आ** में दीर्घीकरण प्राप्त होता है; प्र० द्विती० सं० में दुर्बलतम विभक्तियों की तरह अ का लोप है—किन्तु यह केवल वैकल्पिक है, नित्य नहीं।

आ—स० एक० में भी **अ** लुप्त हो सकता है या सुरक्षित रह सकता है (ऋकारान्त शब्द की अनुरूपी विधि तुलनीय, ३७३)। तथा **मन्** या **वन्** के **म्** या **व्** के बाद, यदि इनसे पूर्व कोई अन्य व्यंजन हो, व्यंजनों के अत्यधिक संचयन को बचाने के लिए अ नित्य सुरक्षित बना रहता है।

४२२—पुंलिंगों में संबोधन एक मात्र प्रातिपदिक होता है; नपुंसकों में ऐसा ही या प्रथमाविभक्ति के समान। शेष रूपविधान के लिए किसी प्रकार का उल्लेख अपेक्षित नहीं है।

४२३—स्वर-प्रक्रिया लेकर केवल इतना ही निर्देश आवश्यक है कि जब दुर्बलतम विभक्तिरूपों में प्रत्यय का उदात्त अ लुप्त हो जाता है, तब स्वरपात आगे विभक्ति-चिह्न पर होता है।

४२४—**शब्दरूप के उदाहरण** :—यहाँ **राजन्** पुं० राजा; **आत्मन्** पुं० आत्मा, निज; **नामन्** नपुं० नाम रखे जा सकते हैं। यथा—

एकवचन

प्र०	राजा	आत्मा	नाम
द्विती०	राजानम्	आत्मानम्	नाम
तृ०	राज्ञा	आत्मना	नाम्ना
च०	राज्ञे	आत्मने	नाम्ने
पं० ष०	राज्ञस्	आत्मनस्	नाम्नस्
स०	राज्ञि, राजनि	आत्मनि	नाम्नि, नामनि
सं०	राजन्	आत्मन्	नामन्, नाम

द्विवचन :

प्र० द्विती० सं०	राजा॑नौ	आत्मा॑नौ	ना॑म्नी, ना॑मनी
तृ० च० पं०	रा॑जभ्याम्	आत्म॑भ्याम्	ना॑मभ्याम्
ष० स०	रा॑ज्ञोस्	आत्म॑नोस्	ना॑म्नोस्

बहुवचन :

प्र०	रा॑जानस्	आत्मा॑नस्	ना॑मानि
द्विती०	रा॑ज्ञस्	आत्मनस्	ना॑मानि
तृ०	रा॑जभिस्	आत्म॑भिस्	ना॑मभिस्
च० पं०	रा॑जभ्यस्	आत्म॑भ्यस्	ना॑मभ्यस्
ष०	रा॑ज्ञाम्	आत्म॑नाम्	ना॑म्नाम्
स०	रा॑जसु	आत्म॑सु	ना॑मसु

अ—**मूर्धन्** पुं० मस्तक की दुर्बलतम विभक्तियाँ उदात्त होंगी—**मूर्ध्ना॑, मूर्ध्ने॑, मूर्ध्नो॑स् , मूर्ध्न॑स्** (द्विती० बहु०), **मूर्ध्ना॑म्** आदि; और इसी प्रकार सभी समान विभक्तियों में (स० एकवचन **मूर्ध्नि॑** या **मूर्ध॑नि**) ।

४२५—**वैदिक अनियमितताएँ** :—अ—अन्यत्र की तरह यहाँ भी पुं० प्र० द्विती० सं० द्विवचन का विभक्ति-चिह्न सामान्यतः **ओ** के स्थान में **आ** होता है ।

आ—प्राचीनतर भाषा में स० एक० और नपुं० प्र० द्विती० सं० द्विवचन का लघुतर रूप (अ के उत्क्षिप्त होने से) सर्वथा असामान्य है । ऋ० वे० में एक बार **शतदा॑ब्नि** लिखित है, किन्तु इसका पाठ **शतदा॑वनि** की तरह अपेक्षित है; तथा इस प्रकार के प्रयोग अ० वे० में आते हैं (किन्तु-**म्नि** भी अनेक बार) । ब्राह्मणों में भी **अह्नि** और **लोम्नी** जैसे रूपों की अपेक्षा **धामनि** और **सामनी** जैसे रूप खूब अधिक प्रचलित हैं ।

इ—किन्तु वेद और ब्राह्मण दोनों में सर्वत्र स० एक० का लघूकृत रूप—विभक्ति-चिह्न इ को लुप्त कर अथवा शब्द का तद्रूप रखकर—नियमित रूपों की अपेक्षा अधिक व्यापक प्रयोग में आता है । यथा—**मूर्ध॑न् , क॑र्मन्, अ॑ध्वन्,** साथ ही **मूर्ध॑नि** प्रभृति । **न्** में अन्त्य **न्** के सभी सामान्य संयोजन प्राप्त हैं । उदाहरणार्थ, **मूर्धन्नस्य, मूर्धन्त्स, मूर्धंस्त्वा ।**

ई—नपुं० प्र० द्विती० बहु० में भी **आनि** के स्थान में **आ** अन्त वाला अथवा **अ** (दुगुना साधारण) अन्त वाला संक्षेपीकृत रूप प्रचलित है । यथा—**ब्र॑ह्म** और **ब्र॑ह्मा**, साथ ही **ब्र॑ह्माणि** । अकारान्त शब्दों से इसी प्रकार के विभक्ति-चिह्नों की श्रेणी के साथ तुलना कीजिए, ३२९ इ ।

उ—**मन्** अन्त वाले कुछ शब्दों में **म्** या **अ** के लोप से लघूकृत तृतीया एकवचन रूप बनाया जाता है। यथा—**महिम्ना** प्रभृति के लिए **महिना, प्रथिना, वारिणा, दाना, प्रेणा, भूना**। पुनः **द्राघ्मा** और **रश्मा** (ऋ० वे०, प्रत्येक एक बार) संभवतः **द्राघ्मणा, रश्मना** के लिए होते हैं।

ऊ—स० एक० को छोड़कर अन्य दुर्बलतम विभक्तिरूप कभी-कभी प्रत्यय के **अ** को सुरक्षित कर प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के उदाहरण होते हैं। **भूमना, दामने, यामनस् उक्षणस्**, (द्विती० बहुवचन) प्रभृति। तुमर्थक चतुर्थ्यन्त रूपों (९७० ई०)—**त्रामणे, विद्मने, दावने** प्रभृति में **अ** नित्य सुरक्षित रहता है। अनेक ऐसे प्रयोग प्राप्त हैं जहाँ ग्रन्थ के लिखित रूप में लुप्त **अ** पाठ में पुनः स्थापित किया जाता है जैसा कि छन्द से स्पष्ट है।

ए—**वस्** अन्त वाला सं० एकवचन रूप, जो कि **वन्त्** अन्त वाले शब्दों से सामान्य वैदिक रूप (नीचे, ४५४ आ) है, वन् अन्तवाले कुछ शब्दों से भी प्राप्त है, संभवतः ऐसा **वन्त्** शब्द में संक्रमण से होता है। यथा—**ऋतावस्, एवयावस्, खिद्वस् (?), प्रातरित्वस्, मातरिश्वस्, विभावस्।**

ऐ—उन शब्दों के लिए, जिनका **अ** सबल विभक्तिरूपों में दीर्घ नहीं होता है, देखिए अगली कडिका।

४२६—कुछ शब्दों से सबल विभक्तिरूपों (प्र० एक० को छोड़कर) में **अ** का नियमित दीर्घीकरण नहीं होता है। इस प्रकार :

अ—**पूषन्, अर्यमन्** देवतावाची नाम; यथा—**पूषा, पूषणम्, पूष्णा**, प्रभृति।

आ—वेद में **उक्षन्** वृष (किन्तु **उक्षाणम्** भी); **योषन्** युवती; **वृषन्** पौरुषेय, बैल (किन्तु **वृषाणम्** और **वृषाणस्** भी); **त्मन्** **आत्मन्** का संक्षेप और दो या तीन अन्य विकीर्ण रूप; **अनर्वणम्, जेमना** प्राप्त है। तथा अन्य कतिपय विशेष स्थलों में जहाँ **आ** लिखित है, छन्द की दृष्टि से **अ** का उच्चारण अपेक्षित है।

४२७—**श्वन्** पुं० कुत्ता और **युवन्** युवा की दुर्बलतम विभक्तियों में **शुन्** और **यून्** (उदात्त की रक्षा के साथ) आकुंचित रूप आते हैं; सबल और मध्य विभक्तियों में ये नियमानुरूप होते हैं। यथा : **श्वा, श्वानम्, शुना, शुने** आदि; **श्वभ्याम्, श्वभिस्** आदि; **युवा, युवानम्, यूना, युवभिस्** प्रभृति।

अ—ऋ० वे० में द्विवचन **युवाना** के लिए एक बार **यूना** प्राप्त है।

४२८—**मघवन्** उदार (उत्तरकाल में प्रायः नित्य रूप से इन्द्र का पर्याय) शब्द दुर्बलतम विभक्तियों में संकुचित होकर **मघोन्** बन जाता है। यथा—**मघवा, मघवानम्, मघोना, मघोने** आदि।

अ—ऋ० वे० में दुर्बलरूप **मघोनस्** प्र० बहु० के लिए एक बार पाया जाता है।

आ—इसके समान्तर **मघवन्त्** (विभाग ५म) शब्द मिलता है, और इसी दूसरे से ही मध्य विभक्तिरूप प्राचीनतर भाषा में बने हैं। यथा—**मघवद्भिस्, मघवत्सु** आदि (**मघवभिः** प्रभृति नहीं)।

४२९—अ **अन्, मन्, वन्** अन्त वाले शब्दों के समानान्तर अ, **म, व** अन्त वाले तथा बहुत से स्थलों में वस्तुतः संक्रमणवर्ती रूपों द्वारा इनसे निष्पन्न शब्द पूर्वतर और उत्तर दोनों कालों की भाषा में, विशेषतः समासों के उत्तरपदों-जैसे, अधिक प्रयुक्त हैं।

आ—**अन्** अन्त वाले शब्दों में से अनेक अल्पाधिक मात्रा में अपूर्ण हैं; इनके कुछ रूप अन्य शब्दों से बनते हैं। इस प्रकार :

४३०—उत्तरकाल की भाषा में अहन् नपुं० दिन शब्द केवल सबल और दुर्बलतम विभक्तिरूपों में प्रयुक्त हैं; मध्य रूप (प्र० एक० के साथ, जो साधारणतः इनके सादृश्य के अनुकूल होता है) **अहर्** या **अहस्** से बनते हैं। उदाहरणार्थ—**अहर्** प्र० द्वितीय० एक० **अहोभ्याम्, अहोभिस्** आदि (पं० ब्रा० में **अहर्भिस्** प्राप्त है); किन्तु **अह्ना** आदि, **अह्नि** या **अहनि** (या **अहन्**), **अह्नी** या **अहनी, अहानि** (और, वेद में, **अहा**)।

आ—प्राचीनतम भाषा में **अहभिस्, अहभ्यस्, अहसु** मध्य-विभक्तिरूप भी आते हैं।

इ—पद-रचना में पूर्वपद—जैसे **अहर्** या **अहस्**, उत्तरपद—जैसे **अहर्, अहस्, अहन्** या व्युत्पन्न **अह, अह्न** प्रयुक्त होते हैं।

ई—**ऊधन्** नपुं० स्तन शब्द प्राचीन भाषा में इसी प्रकार **ऊध** या **ऊधस्** के साथ विनिमय-योग्य है, किन्तु उत्तरकाल में यह केवल असन्त शब्द रह जाता है (अपवादरूप केवल विशेषण सामासिकों का स्त्रीलिंग **ऊध्नी**)। यथा—**ऊधर्** या **ऊधस्, ऊध्नस्, ऊधन्** या **ऊधनि, ऊधभिस्, ऊधःसु**। इससे व्युत्पन्न के रूप में **ऊधन्य** और **ऊधस्य** दोनों ही बने हैं।

४३१—**अक्षन्** आँख, **अस्थन्** हड्डी, **दधन्** दही, **सक्थन्** जंघा इन नपुंसक शब्दों से केवल दुर्बलतम विभक्तिरूप उत्तरकाल की भाषा में बनते हैं—

अक्ष्णा, अस्थ्ने, दध्नस् , सक्थ्ने या सक्थनि इत्यादि, अवशिष्ट रूप-विधान इकारान्त अक्षि प्रभृति शब्दों से बनाये जाते हैं। देखिए ऊपर ३३४ औ।

अ—अन् अन्त वाले शब्दों के अन्य विभक्तिरूप प्राचीनतर भाषा में प्राप्त होते हैं। यथा—अक्षाणि, अक्षभिस् , और अक्षसु; अस्थानि, अस्थभिस् , और अस्थभ्यस् ; सक्थानि।

४३२—असन् रक्त, यकन् यकृत्, शकन् विष्ठा, आसन् मुंह, उदन् जल, दोषन् अग्रबाहु, यूषन् झोल नपुंसक शब्दों के प्र० द्वितीο सं० रूप सभी वचनों में असृज् , यकृत्, शकृत् आस्य, उदक (प्राचीनतर भाषा में उदक), दोस् यूष समान्तर शब्दों से, जिनके रूप पूर्णतः विद्यमान हैं, बने माने जाते हैं।

अ—पूर्वतर काल में द्विवचन दोषणी भी आता है।

४३३—उत्तरकाल की भाषा में पन्थन् पुं० मार्ग शब्द से सबल रूपों के सम्पूर्ण समुदाय का विधान प्रतिष्ठित है; केवल एक ही अनियमितता आती है कि प्र० सं० एकवचन में स् जुड़ता है। तद्रूपी मध्यविभक्ति रूप पथि से बनते हैं और दुर्बलतम रूप पथ् से। इस प्रकार :—

पन्थन् से—पन्थास् , पन्थानम् ; पन्थानौ; पन्थानस् ;
पथि से—पथिभ्याम् ; पथिभिस् , पथिभ्यस् , पथिषु;
पथ से—पथा, पथे, पथस् , पथि; पथोस् , पथस् या पथस्
(द्वितीया), पथाम् ।

अ—किन्तु प्राचीनतम भाषा (ऋ० वे०) में सबल शब्द केवल पन्था है; यथा—पन्थास प्र० एक० पन्थाम् द्विती० एक० व०; पन्थास् प्र० बहु०; और अ० वे० में भी पन्थाम् और पन्थानस् दूसरों की तुलना में विरल हैं। पथि से प्र० बहु० पथयस् और ष० बहु० पथीनाम् भी मिलते हैं। ऋ० वे० में दीर्घ आ वाला द्विती० बहु० रूप पाथस् एक बार प्राप्त है।

४३४—मन्थन् पुं० विलोड़न-दण्ड और ऋभुक्षन् पुं० इन्द्र का विशेष नाम—शब्दों के लिए वैयाकरण पन्थन् के तुल्य ही रूपविधान देते हैं; किन्तु व्यवहार में कम ही प्रयोग प्राप्त हुए हैं। वे० में प्रथम से द्विती० एक० मन्थाम् और ष० बहु० मथीनाम् (पन्थन् से अनुरूपी विभक्ति-पदों के तुल्य) प्राप्त होते हैं; द्वितीय से पन्थन् के अनुरूपी वैदिक रूपों की तरह प्र० एक० ऋभुक्षास् और सं० बहु० ऋभुक्षास् ; किन्तु साथ ही, द्विती० एक० ऋभुक्षणम् और प्र० बहु० ऋभुक्षणस् भी मिलते हैं जो सर्वथा दूसरे नमूने पर बने हैं।

विशेषण

४३५—**अन्** अन्त वाले मूल विशेषण शब्द प्रायः नित्य रूप से **वन्** प्रत्यय से बने होते हैं; यथा—**य॑ज्वन्** यज्ञ करने वाला, **सु॑त्वन्** सोम को निचोड़ने वाला, **जि॑त्वन्** विजयी शब्द केवल पुं० और नपुं० होता है (किन्तु ऋ० वे० में स्त्रीलिंग की तरह भी इसके प्रयोग के कादाचित्क उदाहरण आते हैं); तद्रूपी स्त्री० शब्द **वरी** लगाकर बनाया जाता है। यथा—**य॑ज्वरी, जि॑त्वरी**।

४३६—उत्तरपद में **अन्** अन्त वाली संज्ञा रखने वाले विशेषण सामासिकों के रूप संज्ञा शब्दों के आदर्श पर चलते हैं; और पुं० रूप कभी-कभी स्त्रीलिंग की तरह भी प्रयुक्त होते हैं; किन्तु साधारणतया पुं० शब्द के दुर्बलतम रूप में ई जोड़कर विशिष्ट स्त्रीलिंग बनाया जाता है। जैसे—**सो॑मराज्ञी, कीला॑लोध्नी, ए॑कमूर्ध्नी, दुर्णा॑म्नी**।

४३७—किन्तु (जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है, ४२९ अ) सामासिकों के उत्तरपदों के रूप में आने वाली **अन्**—अन्त संज्ञाएँ **अन्** के स्थान में **अ**—अन्त वाले शब्द को रखती हैं; यथा—**राज,-जन्म,-अध्व,-अह**; इनका स्त्रीलिंग **आ** अन्त वाला है। **वन्** और **वन्त्** अन्त वाले शब्दों में शब्दों के कादाचित्क विनिमय होते हैं: यथा—**विव॑स्वन्** और **विव॑स्वन्त्**।

अ—हलन्त शब्दरूप के अवशिष्ट विभाग केवल विशेषण शब्दों के बनते हैं।

४ थ। इन् अन्त वाले व्युत्पन्न (विशेषण) शब्द

४३८—इस विभाग के शब्द **इन्**, **मिन्** और **विन्** प्रत्ययों से बने हैं,। ये केवल पुंलिंग और नपुंसक होते हैं; तद्रूपी स्त्रीलिंग **ई** जोड़कर बनाया जाता है।

अ—इन् अन्त वाले शब्द अत्यधिक होते हैं, क्योंकि भाषा में प्रायः किसी अकारान्त संज्ञा से इस अन्त्य प्रत्यय को लगाकर संबन्धबोधक व्युत्पन्न विशेषण बन सकता है। यथा—**ब॑ल** शक्ति, **ब॒लि॑न्** पुं० नपुं०, **ब॒लि॑नी** स्त्री० शक्ति-सम्पन्न या सबल। किन्तु **विन्** (१२३२) अन्त वाले शब्द खूब कम हैं, और **मिन्** (१२३१) अन्त वाले और भी कम।

४३९—इनका रूपविधान सर्वथा नियमानुरूप होता है, किन्तु मध्य विभक्ति-रूपों में (प्रत्यय के आदि व्यंजन से पूर्व) और प्र० एक० में भी इनका **न्** लुप्त हो जाता है और यहाँ क्षतिपूर्ति के लिए पुंलिंग में **इ** दीर्घ कर दिया जाता है। पुंलिंग संबोधन एक० मात्र-प्रातिपदिक होता है; नपुंसक में या तो ऐसा भी अथवा प्रथमा विभक्तिरूप की तरह।

आ—इन सब दृष्टियों में, जैसा कि देखा जायगा, **इन्**—शब्दरूप अन्-शब्दरूप से मिलता-जुलता है, किन्तु द्वितीय से यह इतना ही भिन्न है कि प्रत्यय का स्वर कभी लुप्त नहीं होता।

४४०—**रूपविधान का उदाहरण**। इस प्रसंग में **बलिन्** शक्तिशाली लिया जा सकता है।

	एकवचन		द्विवचन		बहुवचन	
	पुं०	नपुं०	पुं०	नपुं०	पुं०	नपुं०
प्र०	बली	बलि				
			बलिनौ	बलिनी	बलिनस्	बलीनि
द्विती०	बलिनम्	बलि				
तृ०	बलिना					बलिभिस्
च०	बलिने		बलिभ्याम्			बलिभ्यस्
पं० ष०	बलिनस्		बलिनोस्			
स०	बलिनि					बलिनाम्
						बलिषु
सं०	बलिन्	बलिन् बलि	बलिनौ	बलिनी	बलिनस्	बलीनि

अ—**इनी** अन्त वाले व्युत्पन्न स्त्रीलिंग शब्द के रूप में वस्तुतः **ई** (३६४) प्रत्ययान्त किसी स्त्रीलिंग की तरह चलते हैं।

४४१। अ। **इन्** अन्त वाले शब्दों के रूपविधान में किसी प्रकार की अनियमितताएँ न पूर्वतर काल की भाषा में और न उत्तरकाल की भाषा में उपलब्ध होती हैं, अपवाद केवल **औ** के स्थान में **आ** अन्त वाला सामान्य वैदिक द्विवचन है।

आ—भाषा के समग्र इतिहास में **इन्** अन्त वाले शब्द **इ** अंतवाले शब्दों में परिवर्तित होते हैं; संक्रमणकाल के रूपों द्वारा ही एक वर्ग के रूप बहुधा दूसरे वर्ग के रूपों से विकसित हुए हैं। अपेक्षाकृत बहुत कम स्थलों में **इन्** अन्त वाले शब्दों में विस्तारित हो जाते हैं; यथा—**शाकिन** (ऋ० वे०), **शुष्मिण** (ब्रा०), **बर्हिण, भजिन**।

५ म। अन्त् (या अत्) अन्त वाले प्रत्ययान्त (विशेषण) शब्द

४४२—ये शब्द दो वर्गों में विभक्त होते हैं : (१) **अन्त्** (या **अत्**) प्रत्यय से बने, जो कि अत्यल्प अपवादों के साथ कर्तृवाच्य वर्तमानकालिक और

भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप होते हैं; (२) मत्वर्थीय **मन्त्** और **वन्त्** (अथवा **मत्** और **वत्**) से बने। ये केवल पुंलिग और नपुंसक होते हैं; तद्रूपी स्त्रीलिंग ई जोड़कर बनाया जाता है।

१ अन्त् या अत् अन्त वाले कृदन्तक्रियारूप

४४३—यहाँ शब्द में सामान्यतया दोहरा रूप पाया जाता है, सबलतर और दुर्बलतर, जो क्रमशः **अन्त्** या **अत्** अन्त वाला होता है। प्रथम पुंलिग की सबल विभक्तियों में प्राप्त है, साथ ही साधारण रूप से नपुंसक के प्र० द्विती० सं० बहुवचन में भी; द्वितीय अन्य सभी अवशिष्ट विभक्तिरूपों में मिलता है।

अ—किन्तु स्त्रीलिंग शब्द के रूपनिर्माण के नियमानुसार (नीचे ४४९) उदात्तयुक्त अ-वर्ग (७५२) या **तुद्**-वर्ग की और **आ**-अन्त वाली धातु-वर्ग या **अद्** गण की क्रियाओं के भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूपों और वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूपों का नपुं० प्र० द्विती० सं० द्विवचन का रूपविधान वैयाकरणों के अनुसार सबलतर अथवा दु`लतर प्रातिपदिक से संभव है; और अ-अन्त वाले सभी अन्य वर्तमान मूलों से वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप का रूपविधान सबल प्रातिपदिक से नित्य होता है।

४४४—तथापि उन क्रियाओं के, जिनके लट् परस्मैपद अन्य पुरुष बहु० का सामान्य **तिङ्** प्रत्यय **न्ति** (५५० आ) का **न्** लुप्त होता है, वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप में भी उसका लोप हो जाता है, और सबल एवं दुर्बल प्रातिपदिक का अन्तर नहीं रह जाता है।

अ—ऐसी क्रियाएँ वे होती हैं जिनका वर्तमान-मूल अ-योग के बिना द्वित्व से बनता है, अर्थात् साभ्यास या हु-गण (६५५) और यङन्तों (१०१२) वाली हैं। इस प्रकार √(**हु से**) वर्तमान-मूल **जुहु**, कृदन्तक्रियारूप मूल जुह्वत्, यङन्तमूल **जोहु**, यङन्त कृदन्त क्रियारूप मूल **जोह्वत्**। पुनः, धातुओं के कृदन्तक्रियारूप जो स्पष्टतः संकुचित द्वित्व भाव लेकर होते हैं; यथा—**चक्षत्**, **दाशत्**, **दासत्**, **शासत्**, **सश्चत्**; लुङ् कृदन्तक्रियारूप **धक्षत्** और **वाघत्** (?)। **वावृधन्त्** (ऋ० वे०, एक बार) जहाँ इसके द्वित्व होने पर भी **न्** सुरक्षित है, सन्नन्त कृदन्तक्रियारूपों (१०३२) की तरह अ अन्त वाले मूल से निष्पन्न होता है। तुलनीय **वावृधन्त, वावृधस्व**।

आ—इन क्रियाओं से भी **अन्ति** में नपुं० प्र० द्विती० सं० बहु० रूप वैयाकरणों के मतानुसार वैकल्पिक भाव से संभव हैं।

४४५—इन शब्दों का रूपविधान सर्वथा नियमानुकूल है। व्युत्पत्तिमूलक रूप **अन्त्स्** से अन्त्य दो व्यंजनों के नियमित लोप (१५०) के चलते पुं० प्र० एक० रूप **अन्** अन्त वाला होता है। प्रत्येक लिंग का संबोधनरूप प्रथमा-विभक्तिरूप की तरह होता है।

४४६—जिन शब्दों का अन्त्य अक्षर उदात्त हो, उनकी दुर्बलतम विभक्तियों में (मध्य-विभक्तियों में भी नहीं) स्वर निक्षेप आगे विभक्ति-चिह्न पर होता है।

अ—इस प्रकार के कृदन्तक्रियारूपों के नपुं० द्विवचन में (यथा—स्त्रीलिंग मूल में) उदात्त **अन्ती** होता है यदि न् सुरक्षित हो, और **अती** यदि यह लुप्त हो जाय।

४४७—**शब्दरूप के उदाहरण।** इसके लिए भवन्त् होना, अदन्त् खाता हुआ, जुह्वत् हवन करने वाला उपयुक्त होंगे।

एकवचन :

प्र०	भवन्,	भवत्	अदन्	अदत्	जुह्वत्	जुह्वत्
द्विती०	भवन्तम्	भवत्	अदन्तम्	अदत्	जुह्वन्तम्	जुह्वत्
तृ०	भवता		अदता			जुह्वता
च०	भवते		अदते			जुह्वते
पं० ष०	भवतस्		अदतस्			जुह्वतस्
स०	भवति		अदति			जुह्वति
सं०	भवन्	भवत्	अदन्	अदत्		जुह्वत्

द्विवचन :

प्र० द्विती० सं०	भवन्तौ	भवन्ती	अदन्तौ	अदती	जुह्वतौ	जुह्वती
तृ० च० पं०	भवद्भ्याम्		अदद्भ्याम्		जुह्वद्भ्याम्	
ष० स०	भवतोस्		अदतोस्		जुह्वतोस्	

बहुवचन :

प्र० सं०	भवन्तस्	भवन्ति	अदन्तस्	अदन्ति	जुह्वतस्	जुह्वति
द्वि०	भवतस्	भवन्ति	अदतस्	अदन्ति	जुह्वतस्	जुह्वति
तृ०	भवद्भिस्		अदद्भिस्		जुह्वद्भिस्	
च० पं०	भवद्भ्यस्		अदद्भ्यस्		जुह्वद्भ्यस्	
ष०	भवताम्		अदताम्		जुह्वताम्	
स०	भवत्सु		अदत्सु		जुह्वत्सु	

अ—भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप **भविष्यन्त्** के नपुं० प्र० आदि द्विवचन में या तो **भविष्यन्ती** या **भविष्यती** होगा; **तुदन्त्** से **तुदन्ती** या **तुदती**; **यान्त्** से **यान्ती** या **याती**। पुनः **जुह्वत्** के नपुं० प्र० आदि बहुवचन में **जुह्वन्ति** (ऊपर की तालिका में दिये **जुह्वति** के अतिरिक्त) भी बन सकता है।

आ—किन्तु ये सबल रूप (तथा **भवन्ती** द्विवचन और इसके ऐसे ही रूप उदात्त स्वरहीन अ वाले वर्तमान-मूलों से बने हुए) सामान्य सादृश्य के सर्वथा प्रतिकूल पड़ते हैं और बहुत कुछ संदिग्ध स्वरूप वाले होते हैं। इनका कोई उदाहरण प्राचीनतरकालीन अथवा उत्तरकालीन भाषा से उद्धरणीय नहीं है। सम्बद्ध रूप वस्तुतः सर्वत्र विरल प्रयोग वाले होते हैं।

४४८—ऊपर दिये गये आदर्श के वैदिक व्यत्यय बहुत थोड़े होते हैं। द्विवचन विभक्तिचिह्न **आ औ** की अपेक्षा केवल एक षष्ठ प्रचलित हैं। एक दो स्थलों में अव्यव-स्थित स्वरपात देखा जाता है—**अचोदते, रथिरायताम्**, और **वाघद्-भिस्** (यदि यह कालवाची कृदन्तक्रियारूप हो)। वेद में नपुं० प्र० आदि वहुवचन का एकमात्र उदाहरण दीर्घीकृत **आ** वाला **सान्ति** है (तुलनीय **आन्ति** अन्त वाले रूप, नीचे ४५१ अ, ४५४ इ); **अन्ति** अन्त वाले एक या दो उदाहरण ब्रा० से उद्धरणीय हैं।

४४९—स्त्रीलिंग कालवाची कृदन्तक्रियारूप–प्रातिपदिक, जैसा कि ऊपर कहा गया है, पुं० नपुं० के सबल या दुर्बल किसी एक प्रातिपदिक रूप में **ई** जोड़-कर बनाया जाता है। इन दोनों स्वरूपों में से किसका ग्रहण होगा, इसके नियम ऊपर नपुं० पु० आदि द्विवचन के प्रसंग में दिये गये नियम ही हैं; यथा—

अ—उदात्तविहीन **अ** अन्तवाले काल-मूलों से बने कालवाची कृदन्तक्रियारूप सवल प्रातिपदिक स्वरूप में **ई** जोड़ते हैं अर्थात् अपना स्त्रीलिंग **अन्ती** लगाकर बनाते हैं।

आ—वर्तमान-मूलों, सन्नन्तों और णिजन्तों वाले **भू** या उदात्तविहीन **अ**-गण और **दीव्** या **य**-वर्ग ऐसे ही होते हैं। यथा, √(**भू**) (**भव** प्रातिपदिक) से **भवन्ती**; √(**दीव्**) (**दीव्य मूल**) से **दीव्यन्ती**, (**भू** के सन्नन्त और णिजन्त) **बुभूष** और **भावय** से **बुभूषन्ती** और **भावयन्ती**।

इ—पूर्वतम काल से ही इस नियम के अपवाद यदा-कदा मिलते हैं। यथा—ऋ० वे० में **जरती** प्राप्त है, और अ० वे० में सअन्तार्थक **सिषासती**; ब्रा० में **वदती, शोचती, तृप्यती,** और सू० में पुनः **तिष्ठती** तथा णिजन्त **नमयती** आते हैं; जब कि रामायण-महाभारत में और उत्तरकाल में इस प्रकार के प्रयोग

(सन्नन्त और णिजन्त सम्मिलित हैं) अधिक संख्यक (लगभग पचास उद्धरणीय हैं) हो जाते हैं, यद्यपि ये कादाचित्क ही बने हुए हैं।

ई—उदात्त अ-अन्तवाले काल-मूलों से कालवाची कृदन्तक्रियारूपों के सबल प्रातिपदिक में अथवा दुर्बल प्रातिपदिक में स्त्रीलिंग प्रत्यय जुड़ता है, या उनका स्त्रीलिंग अन्ती या अती (यहाँ निर्दिष्ट उदात्त के साथ) में बनाया जा सकता है।

उ—इस कोटि में **तुद** या उदात्त अ-गण के वर्तमान-मूल (७५१ मु०वि०), **स**-भविष्य (९३२ मु० वि०) और नामधातुएँ (१०५३ मु० वि०) आती हैं। यथा—√(**तुद्**) (मूल तुद) से **तुदन्ती** या **तुदती**; (√(**भू**) के भविष्य) **भविष्य** से **भविष्यन्ती** या **भविष्यती**; (**देव** की नामधातु) **देवय** से **देवयन्ती** या **देवयती**।

ऊ—इस वर्ग से **अन्ती** अन्त वाले रूप व्यापक हैं। प्राचीनतर भाषा से **अती** अन्त वाला कोई स्त्री० भविष्यकालिक कृदन्तक्रियारूप उद्धरणीय नहीं है। वहाँ अ-अन्त वाले वर्तमान-मूलों से **ऋञ्जती** और **सिञ्चती** (ऋ० वे०), **तुदती** और **पिन्वती** (अ० वे०) पाये जाते हैं। नामधातुओं से **देवयती** (ऋ० वे०), **दुरस्यती** और **शत्रूयती** (अ० वे०) मिलते हैं। भाग० पुराण में **धक्ष्यति** आता है।

ए—वैयाकरणों के अनुसार **अद्** या **आ** अन्त वाले धातु-वर्ग (६११ मु० वि०) की क्रियाओं से वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप के स्त्रीलिंग में तुल्य विकल्प भाव विहित है। यथा—√(**या**) से **यान्ती** या **याती**। जहाँ तक परिशीलन हुआ है, प्राचीनतर भाषा में प्रथम कोटि का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है।

ऐ—उपर्युक्त काल-मूलों को छोड़कर अन्यत्र—अर्थात् लट्-मूलों के अवशिष्ट वर्गों और यङन्तों से—स्त्रीलिंग केवल **अती** (अथवा, यदि प्रातिपदिक में अन्त्य को छोड़कर कहीं और उदात्त हो, तो—**अती**) लगाने से बनता है।

ओ—इस प्रकार √(**अद्**) से **अदती**; √(**हु**) से **जुह्वती**, √(**युज्**) से **युञ्जती**, √(**सु**) से **सुन्वती**; √(**कृ**) से **कुर्वती**, √(**क्री**) से **क्रीणती**; √(**देदिश्**) (**दिश्** के यङन्त) से **देदिशती**।

औ—इस वर्ग के स्त्रीलिङ्ग शब्द यदा-कदा सानुनासिक (किन्तु यह प्रयोग अपने प्रतिकूल वाले, ऊपर इ, की अपेक्षा अधिक न्यून है) पाये जाते हैं। यथा—**यन्ती** (अ० वे० एक बार), **उन्दन्ती** (श० ब्रा०), संभवतः तद्धितान्त **अ**—

प्रातिपदिक से) **गृह्णन्ती** (सू) और रामायण-महाभारत में तथा उत्तरकाल में **ब्रुवन्ती, रुदन्ती, चिन्वन्ती, कुर्वन्ती, जानन्ती, मुष्णन्ती**।

४५०—कुछ शब्द आकृति और रूपविधान लेकर कालवाची कृदन्त-क्रियारूप होते हैं, यद्यपि अर्थ की दृष्टि से नहीं। इस प्रकार : **बृहन्त्** (बहुधा **वृहन्त्** की तरह अ-लिखित) बड़ा; इसके रूप (नपुं० द्विवचन और बहु० में **बृहती** और **बृहन्ति** के साथ) कालवाची कृदन्तक्रियारूप के समान चलते हैं।

आ—**महन्त्** बड़ा; इसके रूप तो कालवाची कृदन्तक्रियारूप की तरह चलते हैं, किन्तु यहाँ अनियमितता यह देखी जाती है कि सबल रूपों में प्रत्यय **अ** का दीर्घीकरण प्राप्त है। जैसे – **महान्** , **महान्तम्** , **महान्तौ** (नपुं० **महती**); **महान्तस्** , **महान्ति**; तृ० **महता** प्रभृति।

इ—**पृषन्त्** चितकबरा और (केवल वेद में) **रुचन्त्** चमकीला।

ई—**जगत्** गमनशील, उत्साही (उत्तरकाल की भाषा में नपुं० संज्ञा-सी, संसार), √(**गम्**) जाना का द्वित्व वाला रूप है, इसके नपुं० प्र० आदि बहुवचन के लिए वैयाकरण **जगन्ति** नित्य रूप मानते हैं।

उ—**ऋहन्त्** छोटा (केवल एक बार ऋ० वे०, **ऋहते**)।

ऊ—इन सबों का स्त्रीलिंग केवल **अती** लगाकर बनता है : यथा—**बृहती, महती, पृषती** और **रुशती** (कालवाची कृदन्तक्रियारूपों के लिए नियम के विरुद्ध) **जगती**।

ए—**दन्त्** दाँत के लिए जो संभवतः कालवाची कृदन्तक्रियारूपमूलक है, देखिए ऊपर ३९६।

४५१—**इयन्त्** और **कियन्त्** सार्वजनिक विशेषणों के रूप **मन्त्** और **वन्त्** अन्त वाले विशेषणों की तरह चलते हैं, पुं० प्र० एक० में **इयान्** और **कियान्** (४५२), नपुं० प्रथमा आदि द्विवचन में और स्त्री० प्रातिपदिकों जैसे **इयती** और **कियती**, और नपुं० प्र० आदि बहु० में **इयन्ति** और **कियन्ति** प्राप्त हैं।

अ—किन्तु ऋ० वे० में नपुं० बहु० **इयान्ति** और स० एक० (?) **कियाति** मिलते हैं।

२ मन्त् और वन्त् अन्त वाले मत्वर्थीय शब्द

४५२—इन दो प्रत्ययों से बने विशेषण के रूप समान ढंग से ही चलते हैं और बहुत कुछ **अन्त्** वाले कालवाची कृदन्तक्रियारूप-शब्दों की तरह। द्वितीय कोटि के शब्दों से इनका पार्थक्य केवल पुं० प्र० एक० में **अ** के दीर्घीकरण को लेकर होता है।

अ—(यथा उत्तरकालिक भाषा में, प्राचीनतम काल में प्राप्त के लिए दे० नीचे, ४५४ आ) संबोधन एक० कालवाचीकृदन्तक्रियारूप की तरह **अन्** अन्त वाला होता है। नपुं० प्र० आदि द्विवचन में केवल **अती** (या अ॑ती) आता है, और बहुवचन में **अन्ति** (या अ॑न्ति)।

आ—स्त्रीलिंग नियमतः दुर्बल प्रातिपदिक से बनता है—यथा **मती, वती** (या म॑ती, व॑ती)। **ई** के स्थान में **नी** के एक या दो प्रयोग मिलते हैं; जैसे—**अन्तर्व॑त्नी** (ब्रा० और उत्तरकाल), **पतिवत्नी** (श्रे० सं०)।

इ—किन्तु स्वरपात कभी भी (कालवाची कृदन्तक्रियारूप की तरह) आगे विभक्तिचिह्न या स्त्रीप्रत्यय पर नहीं होता है।

४५३—इस प्रकार के शब्दों के रूपविधान के उदाहरणस्वरूप **पशुम॑न्त्** पशु रखने वाला, और **भ॑गवन्त्** भाग्यवान्, धन्य के रूपों में से एक अंश को प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा। इस प्रकार :

एकवचन :

	पुं०	नपुं०	पुं०	नपुं०
प्र०	**पशुमा॑न्**	**पशुम॑त्**	**भ॑गवान्**	**भ॑गवत्**
द्विती०	**पशुम॑न्तम्**	**पशुम॑त्**	**भ॑गवन्तम्**	**भ॑गवत्**
तृ०	**पशुम॑ता**		**भ॑गवता**	
	इत्यादि		इत्यादि	
सं०	**प॑शुमन्**	**प॑शुमत्**	**भ॑गवन्**	**भ॑गवत्**

द्विवचन :

प्र० द्वि० सं०	**पशम॑न्तौ**	**पशुम॑ती**	**भ॑गवन्तौ**	**भ॑गवती**
	इत्यादि		इत्यादि	

बहुवचन :

प्र० सं०	**पशम॑न्तस्**	**पशम॑न्ति**	**भ॑गवन्तस्**	**भ॑गवन्ति**
द्विती०	**पशम॑तस्**	**पशम॑न्ति**	**भ॑गवतस्**	**भ॑गवन्ति**
तृ०	**पशुम॑द्भिस्**		**भ॑गवद्भिस्**	
	इत्यादि		इत्यादि	

४५४—**वैदिक अनियमितताएँ**। अ। पुं० प्र० आदि द्विवचन में (**औ** के लिए) **आ** अधिक व्यापक विभक्ति-चिह्न है।

आ—पुं० सं० एकवचन के लिए प्राचीनतम भाषा (ऋ० वे०) में विभक्ति-चिह्न प्रायः सर्वत्र (परोक्षकालिक कृदन्तक्रियारूप की तरह, नीचे ४६२ अ) **अन्**

के स्थान में **अस्** होता है : यथा—**अद्रिवस्, हरिवस्, भानुमस्, हविष्मस्** । ऋ० वे० में ऐसे संबोधन रूप एक सौ से भी अधिक बार आते हैं, किन्तु **अन्** अन्त वाला एक भी असंदिग्ध प्रयोग नहीं पाया जाता है । अन्य वैदिक ग्रन्थों में **अस** अन्तवाले संबोधन रूप अत्यधिक विरल हैं (किन्तु **भगवस्** और इसका आकुंचन **भगोस्** उत्तरकालिक भाषा में भी प्राप्त होते हैं); और ऋ० वे० पद्यों के उद्धरण में **अस्** साधारणतया **अन्** में परिवर्तित है । ऊपर (४२५ ए) निर्दिष्ट हो चुका है कि ऋ० वे० में स्पष्टतः कुछ **अन्** अन्त वाले शब्दों से भी संबोधन रूप **अस्** लगाकर बनता है ।

इ—ऋ० वे० में नपुं० प्र० आदि बहु० के लिए उपलब्धि केवल दो उदाहरणों में **आन्ति** की जगह **अन्ति** अन्त्य प्रत्यय आता है : यथा—**घृतवान्ति, पशमान्ति** । प्राचीनतर भाषा में कहीं अन्यत्र ऐसे रूप नहीं देखे गये हैं; सा० वे० तद्रूपी अवतरणों के अपने पाठरूप में **अन्ति** ग्रहण करता है, और उसी अन्त्य चिह्न के कुछ उदाहरण ब्राह्मणों से उद्धरणीय हैं । जैसे—**तावन्ति, एतावन्ति, यावन्ति, घृतवन्ति, प्रवन्ति, ऋतुमन्ति, युग्मन्ति** । तुलनीय ४४८, ४५१ ।

ई—अल्पाधिक संदिग्ध कुछ (आठ या दश) प्रयोगों में शब्दों के सबल और दुर्बल रूपों को लेकर उलझन होती है; ये पूर्णतः इतने विकीर्ण हैं कि विवरण अनपेक्षित हो जाता है । एक या दो स्थलों में भी ऐसी स्थिति है जहाँ स्त्रीलिंग संज्ञा के लिए पुंलिंग रूप प्रयुक्त देखा जाता है ।

४५५—**अर्वन्त्** दौड़ता हुआ घोड़ा, में प्र० एक० **अर्वा** **अर्वन्** से होता है; और प्राचीनतर भाषा में भी सं० **अर्वन्** और द्वितीο **अर्वाणम्** प्राप्त हैं ।

४५६—कालवाची कृदन्तक्रियारूप **भवन्त्** के अतिरिक्त अन्य शब्द **भवन्त्** है जो मध्यमपुरुष के सर्वनाम के लिए आदरयुक्त संज्ञापन में बहुधा प्रयुक्त होता है (किन्तु यह वस्तुतः अन्यपुरुष की क्रिया के साथ अन्वित है) । यह **वन्त्** प्रत्यय से बना है और इसके रूप उसी प्रकार चलते हैं; प्र० एक० के लिए **भवान्** होता है । प्राचीन विधि से बने इसके संबोधन **भवस्** का संकुचित रूप **भोस्** आप महोदय ! संबोधन का सामान्य भावसूचक बन गया है । इसकी उत्पत्ति की व्याख्या विभिन्न रूपों में की गयी है; किन्तु यह निस्संदेह **भगवन्त्** का संकोच है ।

४५७—**तावन्त्, एतावन्त्, यावन्त्** सार्वनामिक विशेषणों तथा वैदिक **ईवन्त्, मावन्त्, त्वावन्त्** प्रभृति के रूप संज्ञाओं के सामान्य सप्रत्यय शब्दों की तरह चलते हैं ।

६८। वांस् अन्त वाले परोक्ष कृदन्तक्रियारूप

४५८—परोक्ष काल-पद्धति के कर्तृवाच्य कृदन्तक्रियारूप अपने मूल के रूपान्तरणों के चलते सर्वथा विशिष्ट होते हैं। सबल विभक्ति रूपों में, नपुं० प्र० द्विती० सं० बहुवचन को लेकर, इनके प्रत्यय का रूप **वांस्** है तो नियमित विधि से (१५०) प्र० एक० में **वान्** हो जाता है और सं० एक० में लघूकृत होकर **उष्** बन जाता है। दुर्बलतम विभक्तियों में प्रत्यय संकुचित होकर **उष्** बन जाता है। नपुं० प्र० द्विती० सं० एकवचन के साथ मध्य-विभक्तियों में यह **वत्** में परिवर्तित होता है।

अ—**उष्** के पूर्व संयोजन स्वर इ; यदि सबल और मध्य विभक्तिरूपों में प्राप्त होता है, दुर्बलतम रूपों में लुप्त हो जाता है।

४५९—इस प्रकार के वर्णित रूप केवल पुं० और नपुं० होते हैं; तद्रूपी स्त्रीलिंग शब्द के दुर्बलतम रूप में ई जोड़कर बनाया जाता है, जिससे यह **उषी** अन्त वाला बन जाता है।

४६०—चाहे जैसा इसका रूप हो, स्वरपात नित्यरूप से प्रत्यय पर होता है।

४६१—**रूपविधान के उदाहरण**। इन कालवाची कृदन्तक्रियारूप शब्दों के रूपविधान के निदर्शन के लिए हम √(**विद्** से **विद्वांस्**) जानने वाला (जिसमें सामान्य द्वित्व का ३ और परोक्ष अर्थ का अनियमित लोप हो जाता है) **स्था** से **तस्थिवांस्** खड़ा हुआ—शब्दों को ले सकते हैं।

एकवचन :

	पुं०	नपुं०	पुं०	नपुं०
प्र०	विद्वान्	विद्वत्	तस्थिवान्	तस्थिवत्
द्विती०	विद्वांसम्	विद्वत्	तस्थिवांसम्	तस्थिवत्
तृ०	विदुषा		तस्थुषा	
च०	विदुषे		तस्थुषे	
पं० ष०	विदुषस्		तस्थुषस्	
स०	विदुषि		तस्थुषि	
सं०	विद्वन्	विद्वत्	तस्थिवन्	तस्थिवत्

द्विवचन :

प्र० द्विती० सं०	विद्वांसौ	विदुषी	तस्थिवांसौ	तस्थुषी
तृ० च० पं०	विद्वद्भ्याम्		तस्थिवद्भ्याम्	
ष० स०	विदुषोस्		तस्थुषोस्	

बहुवचन :

प्र० सं०	विद्वांसस्	विद्वांसि	तस्थिवांसस्	तस्थिवांसि
द्वि०	विदुषस्	विद्वांसि	तस्थुषस्	तस्थिवांसि
तृ०	विद्वद्भिस्		तस्थिवद्भिस्	
च० पं०	विद्वद्भ्यस्		तस्थिवद्भ्यस्	
ष०	विदुषाम्		तस्थुषाम्	
स०	विद्वत्सु		तस्थिवत्सु	

अ—इन दो कृदन्तक्रियारूपों के स्त्रीलिंग प्रातिपदिक **विदुषी** और **तस्थुषी** होते हैं।

आ—विभिन्न प्रातिपदिकों के अन्य उदाहरण हैं :

√(कृ) से—चकृवांस्, चकृवत्, चक्रुष्, चक्रुषी;
√(नी) से—निनीवांस्, निनीवत्, निन्युष्, निन्युषी;
√(भू) से—बभूवांस्, बभूवत्, बभूवुष्, बभूवुषी,
√(तन्) से—तेनिवांस्, तेनिवत्, तेनुषु, तेनुषी।

४६२—प्राचीनतम भाषा (ऋ० वे०) में पुं० संबोधन एकवचन के लिए (**वन्त्** और **मन्त्** वाले शब्दों की तरह, ऊपर ४५४ आ) वन् के स्थान में **वस्** अन्त्य प्रत्यय होता है। यथा—**चिकित्वस्** (अ० वे० के समान्तर स्थल में **वन्** में परिवर्तित) **तितिर्वस्, दीदिवस्, मीढ्वस्।**

आ—मध्य प्रातिपदिक से **वत्** अन्त वाले रूप पूर्वतर काल में अन्त्य असामान्य हैं; ऋ० वे० में केवल तीन (नपुं० एक० **ततन्वत्** और **ववृत्वत्** और तृ० बहु० **जागृवद्भिस्**) प्राप्त हैं और अ० वे० में एक भी नहीं। तथा वेद में दुर्बलतम प्रातिपदिक (मध्य वाला नहीं, जैसा कि उत्तरकाल में) तुलना और प्रत्यय विधान का मूल बनता है; यथा—**विदुष्टर, अदाशुष्टर, मीढुष्टम, मीढुष्मन्त्।**

इ—ऋ० वे० में सबल से नियमानुरूप बनीं विभक्तियों के लिए दुर्बल प्रातिपदिक-रूप के प्रयोग के एक या दो उदाहरण मिलते हैं। ये हैं : **चक्रुषम्** द्वितीया एकवचन; और **अबिभ्युषस्**, प्र० बहु०; **एमुषम्** अपने स्वरपात के चलते (यदि असंगत न हो) संभवतः प्रत्ययान्त मूल **एमुष** से निष्पन्न है; श० ब्रा० में **प्रौषुषम्** प्राप्त है। इस प्रकार के प्रयोग, विशेष रूप से **विद्वांस्** से, उत्तरकाल में भी यदा-कदा मिलते हैं (दे० बॉ० रॉ० **विद्वांस** के अन्तर्गत)।

ई—अ० वे० में एक बार **भक्तिवांसस्** आया है, जैसा कि संज्ञा से कृदन्त-क्रियारूप हो; किन्तु का० और तै० ब्रा० के तद्रूपी अवतरण में **भक्तिवानस** मिलता है; **चक्ष्वांसम्** (ऋ० वे०, एक बार) संदिग्ध प्रकृति का होता है; **ओकिवांसा** (ऋ० वे० एक बार) में **√(उच्)** के अन्त्य का प्रत्यावर्तन काव्यरूप में देखा जाता है, अन्यत्र अप्राप्त है।

७म यांस् या यस् अन्त वाले तरबर्थक शब्द

४६३—प्राथमिक रूपनिर्माण के तरबर्थक विशेषणों (नीचे, ४६७) में पुं० और नपुं० के लिए प्रातिपदिक के द्विक-स्वरूप प्राप्त होते हैं : सबलतर, जो सबल विभक्तियों में **यांस्** (सामान्यतया **ईयांस्**) अन्त्य प्रत्यय वाला होता है, और दुर्बलतर जो दुर्बल विभक्तियों में **यस्** (या **ईयस्**) अन्त में लगाता है (मध्य और दुर्बलतम का भेद यहाँ नहीं होता)। पुं० सं० एकवचन रूप **यन्** अन्त वाला होता है (किन्तु प्राचीनतर भाषा के लिए देखिए नीचे ४६५ अ)।

अ—पुं० नपुं० दुर्बल प्रातिपदिक में **ई** जोड़कर स्त्रीलिंग बनाया जाता है।

४६४—रूपविधान के आदर्शों के रूप में **श्रे॑यस्** शोभनतर और **ग॑रीयस्** गुरुतर के रूपों के एक अंश को प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा। यथा :

एकवचन :

प्र०	श्रे॑यान्	श्रे॑यस्	ग॑रीयान्	ग॑रीयस्
द्विती०	श्रे॑यांसम्	श्रे॑यस	ग॑रीयांसम्	ग॑रीयस्
तृ०	श्रे॑यसा		ग॑रीयसा	
	इत्यादि		इत्यादि	
सं०	श्रे॑यन्	श्रे॑यस्	ग॑रीयन्	ग॑रीयस्

द्विवचन :

प्र० द्विती० सं०	श्रे॑यांसौ	श्रे॑यसी	ग॑रीयांसौ	ग॑रीयसी
	इत्यादि		इत्यादि	

बहुवचन :

प्र० सं०	श्रे॑यांसस्	श्रे॑यांसि	ग॑रीयांसस्	ग॑रीयांसि
द्विती०	श्रे॑यसस्	श्रे॑यांसि	ग॑रीयसस्	ग॑रीयांसि
तृ०	श्रे॑योभिस्		ग॑रीयोभिस्	
	इत्यादि		इत्यादि	

अ—इन विशेषणों के स्त्रीलिंग प्रातिपदिक श्रे॑यसी और ग॑रीयसी हैं।

४६५—अ—वैदिक पुं० सं० (जैसा कि पूर्ववर्ती दो विभागों में, ४५४ आ, ४६२ अ) **यन्** के स्थान में **यस्** से बनता है। यथा—**ओजीयस्, ज्यायस्** (ऋ० वे०, अन्यत्र कोई उदाहरण नहीं पाया जाता है।)

आ—ऋ० वे० में या अ० वे० में मध्य विभक्ति का कोई प्रयोग नहीं आता है।

इ—उत्तरकालीन भाषा में दुर्बलतर प्रातिपदिक-रूप से बनी सबल विभक्तियों के स्पष्ट उदाहरण बहुत कम प्राप्त होते हैं; यथा—**कनीयसम्** और **यवीयसम्** पुं० द्विती० **कनीयसौ** द्वि०, **यवीयसस्** प्र० बहु०।

तुलनार्थ

४६६—प्रत्ययान्त विशेषण-शब्द, जिनमें **तरप्** और **तमप्** अर्थ—अथवा बहुधा (और अपेक्षाकृत अधिक मौलिक रूप से) केवल आधिक्य तत्त्व—समाविष्ट हैं, या तो सीधे धातुओं से (कृत्-प्रत्ययविधान द्वारा) या अन्य सप्रत्यय अथवा संयुक्त शब्दों से (तद्धित-प्रत्ययविधान द्वारा) बनते हैं।

अ—तुलनार्थ का विषय अधिक संगत ढंग से प्रत्ययविधान के अध्याय में आता है; किन्तु यह रूपविधान से इतना निकट संबंध रखता है कि व्याकरणों के सामान्य प्रचलन के अनुरूप यहीं इसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना विशेष सुविधाजनक और समीचीन है।

४६७—कृत् प्रत्ययविधान के प्रत्यय दो की तुलना के लिए **ईयस्** (या **ईयांस्**) और अनेक की तुलना के लिए **इष्ठ** होते हैं। इनके पूर्व की धातु उदात्त होती है, और गुण भाव से—यदि इसकी प्राप्ति होती है—अथवा कुछ स्थलों में अनुनासिकीकरण या विस्तार से सामान्यतः सबलीकृत होती है। उत्तरकाल की अपेक्षा प्राचीनतम काल की भाषा में ये अपेक्षाकृत अधिक सामान्य और अधिक नैसर्गिक रूप से प्रयुक्त हैं; श्रेण्य संस्कृत में **ईयस्** और **इष्ठ** अन्त वाले शब्दों के कुछ ही प्रयोग में मान्य हैं; और अर्थ की दृष्टि से उसी धातु से निष्पन्न अन्य विशेषणों के साथ ये अधिकांशतः संबद्ध होते हैं, ये विशेषण इनके तद्रूपी शब्द होते हैं; किन्तु आंशिक रूप में इनका सम्बन्ध कृत्रिम रूप से अन्य शब्दों के साथ भी रहता है जो इनसे प्रत्ययविधान को लेकर असम्बद्ध हैं।

अ—इस प्रकार √(**क्षिप्**) फेंकना से **क्षेपीयस्** और **क्षेपिष्ठ** होते हैं जो अर्थ की दृष्टि से **क्षिप्र** शीघ्र से संबद्ध हैं; √(**वृ**) घेरना से **वरीयस्** और **वरिष्ठ** हैं जो **उरु** चौड़ा के होते हैं; दूसरी ओर, उदाहरणार्थ, **कनीयस्** और

कनिष्ठ को **युवन्** युवा से या **अल्प** छोटा से और **वर्षीयस्** और **वर्षिष्ठ** को **वृद्ध** बूढ़ा से वैयाकरण संबद्ध मानते हैं।

४६८—**ईयस्** और **इष्ठ** अन्त वाले ऐसे कृदन्तरूप निर्माण के एक सौ से बहुत अधिक उदाहरण (बहुत अवस्थाओं में युग्म का एक ही प्राप्त है) वेद और ब्राह्मण दोनों से उद्धृत किये जा सकते हैं।

अ—इनमें से आधे (ऋ० वे० में निश्चित रूप से बहुसंख्यक) अर्थ और आकृति दोनों दृष्टियों में विशेषण प्रयोगिता रखने वाली धातु-मात्र से संबद्ध हैं जैसा कि ये विशेष रूप से समासों के अन्त में प्रयुक्त हैं, किन्तु कभी-कभी स्वतंत्र रूप से भी आते हैं। यथा—√**(तप्)** जलना से **तपिष्ठ** अत्यधिक जलने वाला; √**(यज्)** बलि देना से **यजीयस्** और **यजिष्ठ** अधिक और सर्वाधिक (अथवा खूब अधिक) बलि करने वाला; √**(युध्)** लड़ना **योधीयस्** अधिक सुन्दर ढंग से लड़ने वाला;—कुछ स्थलों में धातु स्वतः तद्रूपी शब्द के रूप में भी प्रयुक्त मिलती है; यथा—**जवीयस्** और **जविष्ठ** के साथ **जू** शीघ्र तेज।

आ—प्रयोगों के एक छोटे वर्ग (आठ) में धातु से पूर्व उपसर्ग जुड़ता है जो परिणामस्वरूप उदात्त हो जाता है। यथा—**आगमिष्ठ** विशेष रूप से यहाँ आनेवाला; **विचयिष्ठ** सर्वाधिक सुन्दर ढंग से साफ करने वाला—युग्म प्रयोगों में (**अश्रमिष्ठ, अपरावपिष्ठ, अस्थेय**) निषेध निपात पीछे लगता है;—एक शब्द (**शंम्भविष्ठ**) में अन्य प्रकार का अंश प्राप्त है।

इ—इस रूपनिर्माण के शब्दों में कभी-कभी द्वितीया विभक्ति वाला कर्म आता है (दे० २७१ उ)।

ई—किन्तु प्राचीनतम भाषा में भी अधिक समय यौगिक विशेषण में अर्थ की वही प्रतीति देखने में आती है (जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट है) जो उत्तर काल की भाषा में सामान्य है।

उ—इन उदाहरणों के, जो उत्तरकाल में भी व्यवहृत हैं, अतिरिक्त **वरिष्ठ** वरेण्यतम (**वर** वरण), **बंहिष्ठ** महत्तम (**बृहन्त्** महान्) **ओषिष्ठ** शीघ्रतम (**ओषम्** शीघ्र) प्रभृति जैसे अन्य उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। संभवतः इनके सादृश्य के आधार पर कुछ स्थलों में इस प्रकार के रूपनिर्माण शब्दों के उन स्पष्ट धातुमूलक अक्षरों से होते हैं जिनकी अनुसरणरूप-धातु भाषा में अन्यथा अनुपलब्ध है। यथा—**कृधु** से **क्रधीयस्** और **क्रधिष्ठ** (काठक०), **स्थूर** से **स्थवीयस्** और **स्थविष्ठ, शश्वन्त्** से **शशीयस्** (ऋ० वे०), **अणु** से **अणीयस्** (अ० वे०) और **अणिष्ठ** (तै० सं०), इत्यादि। और पुनः कुछ

विशिष्ट अवस्थाओं में **ईयस** और **इष्ठ** प्रत्यय उन शब्दों में लगते हैं जो प्रत्यक्षत: यौगिक ही हैं: यथा—**आशु** से **आशिष्ठ** (ऋ० वे०, केवल प्रयोग), **तीक्ष्ण** से **तीक्ष्णीयस्** (अ० वे०), **ब्रह्मन्** से **ब्रह्मीयस्** और **ब्रह्मिष्ठ** (तै० सं० प्रभृति), **धर्मन्** से **धर्मिष्ठ** (तै० आ०), **दृढ** से **द्रढिष्ठ** (तै० आ०, **दर्हिष्ठ** के स्थान में) **रघु** से **रघीयस्** (तै० सं०)। ये असीमित प्रयोग लेकर रूप-निर्माण के विस्तार के आरम्भ ही हैं जो उत्तरकाल में प्रचलित नहीं हैं।

ऊ—**नव** नूतन से **नवीयस्** या **नव्यस्** और **नविष्ठ** में तथा **सन** पुरातन से **सन्यस्** (सब ऋ० वे०) में हमें ऐसे ही रूपनिर्माण उपलब्ध हैं जो क्रिया-रूप मूलों से असंबद्ध हैं।

४६९—**इष्ठ** अन्त वाले शब्दों के रूप अकारान्त सामान्य विशेषणों की तरह चलते हैं और इनका स्त्रीलिंग **आ** जोड़कर बनता है; **ईयस्** अन्त वालों का एक विशिष्ट शब्दरूप होता है जिसका वर्णन ऊपर (४६३ मु० वि०) हो चुका है।

४७०—रूपनिर्माण की विशिष्टताओं और अनियमितताओं के प्रसंग में निम्नलिखित द्रष्टव्य है :

अ—कुछ प्रयोगों में ईयस् प्रत्यय का संक्षिप्ततर रूप **यस्** मिलता है जो सामान्यत: इसका वैकल्पिक होता है। यथा—**तवीयस्** और **तव्यस्** ; **नवीयस्** और **नव्यस्** ; **वसीयस्** और **वस्यस्** ; **पनीयस्** और **पन्यस्** ; और इसी प्रकार **रभ्** और **सह्** से; **सन्यस्** मात्र मिलता है। **भू** से **भूयस्** और **भूयिष्ठ** होते हैं, जिनके अतिरिक्त **भवीयस्** ऋ० वे० में प्राप्त है।

आ—आ अन्तवाली धातुओं में प्रत्यय के आदि से मिलकर अन्त्य ए हो जाता है : यथा—**स्थेयस्** , **धेष्ठ, येष्ठ;** किन्तु इस प्रकार के रूप वेद में सामान्यत: विघटनीय होते हैं, जैसे—**धईष्ठ, यईष्ठ**। **ज्या** धातु से **ज्येष्ठ** बनता है, किन्तु (**भूयस्** की तरह) **ज्यायस्** भी।

इ—ई अन्तवाली **प्री** और **श्री** दो धातुओं से **प्रेयस्** और **प्रेष्ठ** तथा **श्रेयस्** और **श्रेष्ठ** बनते हैं।

ई—**ऋजु** धातु से सबलीकरण के बिना **ऋजीयस्** और **ऋजिष्ठ** होते हैं; किन्तु प्राचीनतर भाषा में अपेक्षाकृत अधिक नियमित रूप से **रजीयस्** और **रजिष्ठ** प्राप्त हैं।

४७१—तद्धित प्रत्यय विधान के प्रत्यय **तर** और **तम** होते हैं। ये प्राय: निर्बाध प्रयोगवाले हैं, सरल और सामासिक, प्रत्येक प्रकार के स्वरान्त अथवा व्यंजनान्त विशेषण-रूप में जुड़े होते हैं—और यह रूप भाषा के पूर्वतम काल से लेकर नवीनतम काल तक प्राप्त है। मूल-उदात्त (कुछ अपवादों को छोड़कर)

अपरिवर्तित बना रहता है; और शब्द का वही रूप, जो विभक्ति-चिह्न (दुर्बल या मध्य रूप) के आदि-व्यंजन से पूर्व आता है, गृहीत है।

अ—(प्राचीनतर तथा उत्तरकालिक प्रयोग के) उदाहरण होते हैं :— स्वरान्त शब्दों से **प्रियतर, वह्नितम्, रथीतर** और **रथीतम** (ऋ० वे०), **चारुत्तर, पोतृतम, संरक्तर**; व्यंजनान्त शब्दों से **शंतम, शश्वत्तम, मृडयत्तम, तवस्तर** और **तवस्तम, तुविष्टम, वपुष्टर, तपस्वितर, यशस्वितम, भगवत्तर, हिरण्यवाशीमत्तम,** सामासिकों से **रत्नधातम्, अभिभूतर, सुकृत्तर, पूर्भित्तम, भूयिष्ठभाक्तम, भूरिदावत्तर, शुचिव्रततम, स्त्रीकामतम** ।

आ—किन्तु वेद में शब्द का अन्त्य रूप से सुरक्षित है; यथा **मदिन्तर** और **मदिन्तम, वृषन्तम**; और कुछ शब्दों में तो नासिक्य जुड़ जाता है; यथा **सुरभिन्तर, रयिन्तम, मधुन्तम** । एक या दो स्थलों में वर्तमानकालिक कृदन्तक्रियारूप का सबल प्रातिपदिक गृहीत होता है; जैसे—**व्राधन्तम, संहन्तम**; तथा परोक्ष कृदन्तक्रियारूप का दुर्बलतम प्रातिपदिक; यथा—**विदुष्टर, मीढुष्टम** स्त्रीलिंग शब्द का अन्त्य **ई** ह्रस्व हो जाता है : यथा—**देवितमा** (ऋ० वे०), **तेजस्विनितमा** (काठक०) ।

इ— प्राचीनतर भाषा में इस रूपनिर्माण के शब्द अन्य शब्दों की अपेक्षा अधिक सामान्य नहीं हैं : यथा ऋ० वे० **तर** और **तम** अन्तवाले शब्दों तथा **ईयस्** और **इष्ठ** अन्त वाले शब्दों में अनुपात तीन और दो का है; अ० वे० में केवल ६ : और पाँच का । किन्तु उत्तरकाल में प्रथम कोटि की प्रबलता हो जाती है ।

४७२—इन **तरबन्त** और **तमबन्त** शब्दों के रूप अकारान्त सामान्य विशेषणों की तरह चलते हैं, इनके स्त्रीलिंग में आ लगता है ।

४७३—अ—संज्ञा-प्रयोगिता के और विशेषण प्रतियोगिता के बीच की विभाजक रेखा की अस्थिर प्रकृति के कारण ऐसा स्वाभाविक है कि कुछ शब्दों से (विशेष रूप से वेद में) जो विशेषण न होकर संज्ञाएँ हैं, तुलना के प्रत्ययान्त शब्द बनते हैं । यथा—**वीरतर, वीरतम, वह्नितम, मातृतम, नृतम, मरुत्तम,** प्रभृति हमें प्राप्त होते हैं ।

आ—**तर** और **तम** प्रत्यय सार्वनामिक मूलों से यथा **क, य, इ** (दे० नीचे ५२०) और उपसर्गों के कुछ से यथा **उद्** तुलनार्थक रूप बनाते हैं, और उपसर्ग से तरबन्त क्रिया-विशेषण द्वितीया-विभक्ति (प्राचीनतर नपुं० **तरम्**, उत्तरकाल में स्त्री—**तराम्**) उपसर्ग के अनुरूपी तरबन्त रूप के समान प्रयुक्त

होती है (नीचे १११९); दूसरी ओर **तराम्** और-**तमाम्** जुड़ने से कुछ विशेषणों में तुलनार्थक श्रेणियाँ बनती हैं; यथा **नतराम्** , **नतमाम्** , **कथंतराम्** , **कुतस्तराम्** , **अद्धातमाम्** , **नीचैस्तराम्** इत्यादि ।

इ—पूर्ण अस्वाभाविक संयोजन के चलते, जिसका कोई भी प्रमाण भाषा के पूर्वतर और सुनिश्चित प्रयोगों में नहीं मिलता है, तुलनार्थक प्रत्यय अपने क्रिया विशेषणीभूत स्त्रीलिंग रूप, **तराम्** और-**तमाम्** में क्रियाओं के पुरुषवाची रूपों के साथ उत्तरकालिक भाषा में युक्त किये जाते हैं । उदाहरणार्थ—**सीदतेतराम्** (रामा०, एकमात्र प्रयोग रामा०—महाभारत में प्राप्त) अधिक दुःखी होता है, **व्यथयतितराम्** अधिक अशान्त करता है, **अलभततराम्** अधिक मात्रा में प्राप्त किया, **हसिष्यतितराम्** अधिक हँसेगा ।—**तमाम्** के इस प्रयोग के उदाहरण उद्धरणीय नहीं हैं ।

ई—तुलनार्थक तद्धित प्रत्यय कृत्वालों के बाद अधिक समय जोड़े जाते हैं, जिससे तर और तम अर्थवाले द्विगुणित रूप बन जाते हैं । यथा—**गरीयस्तर**, **श्रेष्ठतर**, और **श्रेष्ठतम**, **पापीयस्तर**, **पापिष्ठतर** और-**तम**, **भूयस्तरम्** इत्यादि ।

उ—क्रम सूचक प्रत्यय के रूप में तम का प्रयोग नीचे (४८७) निर्दिष्ट है; इस अर्थ में स्वरपात इसके अन्त्य पर होता है और इसका स्त्रीलिंग ई लगाकर बनता है । जैसे—**शततम** पुं० नपुं०, **शततमी** स्त्री० सौवाँ ।

४७४—कुछ शब्दों से विशेषतः उपसर्गों से, तुलनार्थक श्रेणियाँ र और म संक्षिप्ततर प्रत्ययों द्वारा बनाई जाती हैं । यथा—**अधर** और **अधम**, **अपर** और **अपम**, **अवर** और **अवम**, **उपर** और **उपम**, **अन्तर**, **अन्तम**, **परम**, **मध्यम**, **चरम**, **अन्तिम**, **आदिम**, **पश्चिम** । पुनः **म** क्रमसूचक संख्याओं के निर्माण में भी प्रयुक्त होता है ।

अध्याय—९

संख्यावाची शब्द

४७५—अपने व्युत्पत्तिकों, दशकों, और दशमलव श्रेणी की कुछ उच्च संख्याओं के साथ प्रथम दश संख्याओं (जो सम्पूर्ण वर्ग का आधार हैं) के लिए शुद्ध गण-संख्याएँ इस प्रकार होती हैं :—

१—एक	१०	दश	१००		शत
२—द्व	२०	विंशति	१०००		सहस्र
३—त्रि	३०	त्रिंशत्	१०,०००		अयुत
४—चतुर्	४०	चत्वारिंशत्	१००,०००		लक्ष
५—पञ्च	५०	पञ्चाशत्	१,०००,०००		प्रयुत
६—षष्	६०	षष्टि	१०,०००,०००		कोटि
७—सप्त	७०	सप्तति	$१०^{८}$		अर्बुद
८—अष्ट	८०	अशीति	$१०^{९}$		महार्बुद
९—नव	९०	नवति	$१०^{१०}$		खर्व
१०—दश	१००	शत	$१०^{११}$		निखर्व

अ—**सप्त** और **अष्ट** का स्वरपात सभी स्वर चिह्नित ग्रन्थों में प्राप्त शब्दों के अनुरूप है, वैयाकरणों के अनुसार ये **सप्त** और **अष्ट** श्रेण्य भाषा में होते हैं। दे० नीचे ४८३।

आ—दशमलव संख्याओं की श्रेणियाँ और आगे लायी जा सकती हैं, किन्तु विभिन्न ग्रन्थों में इनके नामों को लेकर बड़ी विभिन्नताएँ हैं; और **अयुत** से ऊपर अल्पाधिक मात्रा में विसंगतियाँ भी हैं।

इ—इस प्रकार तै० सं० और मै० सं० में हम **अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, परार्द्ध** पाते हैं; काठक० **नियुत** और **प्रयुत** के क्रम को प्रत्यावर्तित कर देता है और **न्यर्बुद** (**न्यर्बुध पाठ**) के बाद **बद्व** को रखता है—संभवतः ये प्राचीनतम प्राप्त श्रेणियाँ हैं।

ई—आधुनिक काल में सहस्र से ऊपर की संख्याएँ व्यावहारिक प्रयोग में केवल **लक्ष** (लाख) और **कोटि** (करोड़) हैं; और भारतीय राशि की गणना

इस प्रकार अपेक्षित है—१२३, ४५, ६७, ८९० को कहा जाता है—१२३ करोड़ ४५ लाख ६७ हजार आठ सौ नब्बे।

उ—**पञ्चन्** आदि तथाकथित शब्द-स्वरूपों के लिए दे० नीचे ४८४। **षष्** की जगह **षक्ष्** रूप के लिए द्रष्टव्य ऊपर १४६ आ। द्वा शब्द पदरचना और प्रत्यय विधान में **द्वा** और **द्वि** जैसा-भी मिलता है; चतुर् पद-रचना में चतुर् जैसा उदात्तित होता है। **अष्ट** का प्राचीनतर रूप **अष्टा** है, देखिए नीचे ४८३। दशकों के लिए **शत्** और **शति** वाले रूप यदा-कदा विनियमित हैं; यथा—**विंशत्** (महा०, रामा०), **त्रिंशति** (ऐ० ब्रा०) **पंचाशति** (राजतं०)।

ऊ—उपर्युक्तों के विभिन्न वाक्य-संयोजन और पद-संयोग द्वारा अन्य संख्याएँ बनाई जाती हैं। यथा :

४७६—सम दशकों के बीच उस दशक से पूर्व (उदात्त) ईकाई लगाकर, जिससे कि इसका मानयुक्त करना है, विषम संख्याएँ बनाई जाती हैं। किन्तु इसकी अनेक अनियमितताएँ होती हैं। यथा :

अ—११ में **एक एका** हो जाता है, अन्यत्र यह अपरिवर्तित बना रहता है।

आ— **द्व** सर्वत्र **द्वा** होता है; किन्तु ४२-७२ में और ९२ में **द्वि** के साथ यह विनिमेय है; और ८२ में **द्वि** नित्य होता है।

इ—**त्रि** के लिए इसका पुं० प्र० बहु० रूप **त्रयस्** का आदेश होता है; किन्तु ४३-७३ में और ९३ में **त्रि** भी वैकल्पिक माना गया है; और ८३ में केवल **त्रि** प्रयुक्त है।

ई—१६ में **षष् षो** हो जाता है और दश का आदि **द** मूर्धन्य बन जाता है (१९९ ई०); अन्यत्र इसके अन्त्य का नियमित परिणमन **ट्** या **ड्** या **ण्** में होता है (१९८ आ); और ९६ में **नवति** का **न्** इसके सम हो जाता है (१९९ इ)।

उ—१८—३८ में **अष्ट अष्टा** (४८३) हो जाता है, तथा अनुवर्ती संयोगों में विकल्प से दोनों रूप संभव हैं।

ऊ—इस प्रकार :

११—**एकादश**	३१ **एकत्रिंशत्**	६१ **एकषष्टि**	८१ **एकाशीति**
१२—**द्वादश**	३२ **द्वात्रिंशत्**	६२ **द्वाषष्टि** **द्विषष्टि**	८२ **द्व्यशीति**
१३—**त्रयोदश**	३३ **त्रयस्त्रिंशत्**	६३ **त्रयःषष्टि** **त्रिषष्टि**	८३ **त्र्यशीति**

१४–चतुर्दश	३४ चतुस्त्रिंशत्	६४ चतुःषष्टि	८४ चतुरशीति
१५–पञ्चदश	३५ पञ्चत्रिंशत्	६५ पञ्चषष्टि	८५ पञ्चाशीति
१६–षोडश	३६ षट्त्रिंशत्	६६ षट्षष्टि	८६ षडशीति
१७–सप्तदश	३७ सप्तत्रिंशत्	६७ सप्तषष्टि	८७ सप्ताशीति
१८–अष्टादश	३८ अष्टात्रिंशत्	६८ अष्टषष्टि अष्टाषष्टि	८८ अष्टाशीति
१९–नवदश	३९ नवत्रिंशत्	६९ नवषष्टि	८९ नवाशीति

ए—२१-२९ संख्याएँ ३१-३९ संख्याओं की तरह बनायी जाती हैं, ४१-४९, ५१-५९, ७१-७९ और ९१-९९ की संख्याएँ ६१-६९ की तरह।

ऐ—**द्वा** और **त्रयस्** से बने रूप **द्वि** और **त्रि**-वालों की अपेक्षा अधिक सामान्य हैं, **द्वि** और **त्रि** वाले रूप बड़ी कठिनता से प्राचीनतर (वे० और ब्रा०) भाषा से उद्धृत किये जा सकते हैं। (**अष्ट** की जगह) अष्टा के बने रूप ही प्राचीनतर भाषा में (४८३) प्राप्त हैं, और आगे चलकर ये सामान्य हो जाते हैं।

४७७—विषम संख्याओं के लिए उपर्युक्त सामान्य विवेचन होते हैं। किन्तु उनके अनुरूपी आदेश विभिन्न रूपों से भी बनते हैं। यथा :

अ—अपेक्षाकृत अधिक अल्पमान वाली संख्याओं के साथ, जो युक्त या वियुक्त होती हैं **उन** कम और **अधिक** विशेष विशेषणों के प्रयोग से, और ऐसा या तो स्वतन्त्र रूप से विशेषण बनकर हो सकता है अथवा (अधिक सामान्य ढंग से) बड़ी संख्याओं के साथ समस्त होकर, जो कि इनसे बढ़ती या घटती हैं; यथा—**त्र्यूनषष्टि** साठ से तीन कम (अर्थात् ५७); **अष्टाधिकनवतिः** नब्बे से आठ अधिक (अर्थात् ९८); **एकाधिकं शतम्** सौ से एक अधिक (अर्थात् १०१); **पंचोनं शतम्** १०० से ५ कम (अर्थात् ९५)। नवकों के लिए, विशेषरूप से, **एकोनविंशतिः** २० से १ कम, या १९ जैसे आदेश असामान्य नहीं हैं; और आगे चलकर एक १ छोड़ दिया जाता है, और **ऊनविंशति** प्रभृति समानार्थक हो जाते हैं।

आ—लघुतर संख्याओं का विभक्ति रूप सामान्यतः **एक** १ **न** नहीं बड़ी संख्या से युक्त होता है जिससे इसको घटाया जाता है। यथा—**एकया न त्रिंशत्** (श० ब्रा०, पं० ब्रा०) (कौ ब्रा०) एक के बिना तीस (२९); **द्वाभ्यां नाऽशीतिम्** (श० ब्रा०) अस्सी में दो नहीं (७८); **पंचभिर्न चत्वारि शतानि** (श० ब्रा०) पाँच बिना चार सौ (३९५); **एकस्मात् न पञ्चाशत्** (क्रम संख्या के रूप में) ४९ (तै० सं०) **एकस्यै** (स्त्री० पं०, ३०७ ह) **न पञ्चाशत्** ४९ (तै० सं०); अत्यधिक समय, **एकान्** (अर्थात् **एकात्**,

एकस्मात् के लिए अनियमित पं० रूप) न विंशतिः १९; एकान् न शतम् ९९। यह अन्तिम रूप उत्तरकालिक भाषा में भी मान्य है; अन्य ब्राह्मणों में पाये जाते हैं।

इ—उपसृष्टि संख्या द्वारा गुणन के प्रयोग यदा-कदा उपलब्ध होते हैं।जैसे—**त्रिसप्त** सात का तीन गुना; **त्रिणव** नौ का तीन गुना; **त्रिदश** दस का तीन गुना।

ई—वस्तुतः, जिन संख्याओं का संयोग एक साथ अपेक्षित है, वे स्वतन्त्र शब्दों द्वारा, संयोजक **च** के साथ व्यक्त हो सकती हैं। यथा—**नव च नवतिश्च,** अथवा **नव नवतिश्च** नब्बे और नौ; **द्वौ च विंशतिश्च** दो और बीस। किन्तु संयोजक अधिक समय (कम-से-कम प्राचीनतर भाषा में) लुप्त भी रहता है: जैसे—**नवतिं नव** ९९; **त्रिंशतं त्रीन्** ३३, **अशीतिरष्टौ** ८८।

४७८—सौ से ऊपर विषम संख्याओं के बनाने में इसी प्रकार की विधियाँ विभिन्न रूप से प्रयुक्त होती हैं। यथा :

अ—युक्त संख्या दूसरी के पूर्व आती है, और उदात्त होती है। उदाहरणार्थ—**एकशतम्** १०१, **अष्टाशतम्** १०८; **त्रिंशच्छतम्** १३०; **अष्टाविंशतिशतम्** १२८, **चतुःसहस्रम्** (ऋ० त्रै०, अन्यथा उदात्त असंगत हो) १००४; **अशीतिसहस्रम्** १०८०।

आ—अथवा, युक्त होने वाली संख्या **अधिक** विशेष के साथ समस्त होती है और समास या तो दूसरी संख्या का विशेषण रूप हो जाता है या पुनः उसके साथ इसका समास हो जाता है। यथा—**पञ्चाधिकं शतम्** अथवा **पञ्चाधिक-शतम्** १०५। वास्तव में **ऊन** कम (यथा **ऊन** या **अधिक** के पर्यायवाची शब्द भी) इसी प्रकार प्रयुक्त हो सकता है। जैसे—**पञ्चोनं शतम्** ९५; **षष्टिः पञ्चवर्जिता** ५५; **शतम् अभ्यधिकं षष्टितः** १६०।

इ—तात्विक संयोजन भी सुविधानुसार किये जाते हैं। उदाहरणार्थ **दश शतं च** ११०, **शतम् एकं च** १०१।

४७९—सौ से ऊपर की विषम संख्याओं के निर्माण की दूसरी सामान्य विधि (ब्राह्मणों में आरम्भ होने वाली) न्यूनतर संख्या से व्युत्पन्न अथवा संक्षिप्ततर संख्येय के अनुरूप (नीचे ४८७) विशेषण द्वारा बृहत्तर संख्या का गुण बोध कराने की है। यथा—**द्वादशं शतम्** ११२ (शाब्दिक अर्थ, १२ प्रकार का सौ, या १२ द्वारा निर्धारित); **चतुश्चत्वारिंशं शतम्** १४४; **षट्षष्टं शतम्** १६६।

४८०—बृहत्तर अथवा लघुतर मान वाली संख्याओं में एक संख्या को दूसरी संख्या से गुणित करने के लिए सर्वाधिक सरल और न्यूनतम संदिग्ध

प्रणाली गुण्य संख्या को द्विवचन या बहुवचन में रखना और उसे दूसरी संख्या के सामान्य संज्ञा की तरह विशेषण बना देना है; और यह विधि भाषा के सभी कालों में प्रचलित है। उदाहरणस्वरूप, **पञ्च पञ्चाशतस्** पाँच पचास (२५०); **नव नवतयस् नौ**, नब्बे (८१०); **अशीतिभिस् तिसृभिस्** तीन अस्सियों से (२४०), **पञ्च शतानि** पाँच सौ; **त्रीणि सहस्राणि** तीन हजार; **षष्टि सहस्राणि** ६०,०००; **दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि** १०,८००; और योग के साथ, **त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिशतं च** ३३३; **सहस्रे द्वे पञ्चोनं शतमेव च** २०९५।

अ—एक या दो विशिष्ट अवस्थाओं में संख्येय रूप ही इस प्रकार के संयोजन में गुण्यक बनकर संख्याशब्द का स्थान ग्रहण करते हैं : यथा—**षट्त्रिशांश्च चतुरः** (ऋ० वे०) ३६ × ४ (शाब्दिक अर्थ, ३६ प्रकार का चौगुना); **त्रीँरेकादशान्** (ऋ० वे०) अथवा **त्रय एकादशासः** (शां० श्रौ० सू० ८-२१-१) ११ × ३।

आ—एक विशिष्ट और सर्वथा तर्क-विरुद्ध रचना लेकर **त्रीणि षष्टिशतानि** जैसा संयोजन, जिससे ४८० (३ × १०० + ६०) का बोध अपेक्षित है, ब्राह्मणों में ३६० (३ × १०० + ६०) के अर्थ में ही बार-बार प्रयुक्त है। इसी प्रकार **द्वे चतुस्त्रिंशे शते** २३४ (२६८ नहीं); **द्वाषष्टानि त्रीणि शतानि** ३६२; जैसे अन्य प्रयोग होते हैं। तथा रामा० में भी **त्रयः शतशतार्धाः** ३५० प्राप्त है।

४८१—किन्तु गुणक और गुण्य, दो गुणन खण्ड भी (अन्त्योदात्त वाले) समास में, और विशेष रूप से उत्तरकालिक प्रयोगों में, एक साथ युक्त हो जाते हैं; तथा ऐसी स्थिति में यह अंकित संज्ञा का गुणबोधक विशेषण है अथवा इसका नपुं० या स्त्री० (ईकारान्त) एकवचन संज्ञा के समान प्रयुक्त होता है। यथा—**दशशतास** १०००; **षट्शतैः पदातिभिः** (महाभा०) ६०० पैदल सिपाहियों के साथ; **त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः** (अ० वे०) ६३३३; **द्विशतम्** या **द्विशती** २००; **अष्टादशशती** १८००।

अ—स्वरपात की सामान्य अप्राप्ति में ऐसा प्रश्न सहज उठता है कि सामासिक संख्या का ग्रहण किस प्रकार हो। उदाहरणस्वरूप **अष्टशतम् अष्टशतम्** १०८ है या **अष्टशतम्** ८००, इत्यादि।

४८२—**रूपविधान**। गण संख्यावाची शब्दों का रूपविधान बहु अंशों में अनियमित है। केवल प्रथम चार में ही लिंगभेद होता है।

अ—**एक** १ के रूप सार्वनामिक विशेषण (यथा **सर्व,** नीचे ५२४) के ढंग से चलते हैं, इसका बहुवचन रूप **अल्प** कोई के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसका द्विवचन रूप नहीं मिलता है।

आ—सामान्य शब्द रूप के प्रासंगिक प्रयोग प्राप्त होते हैं; यथा—**एके** (स० एक०) **एकात्** (४७७ आ)।

इ—उत्तरकालिक साहित्य में **एक** कोई के अर्थ में अथवा कभी-कभी **इनदिफनी आर्टिकल ए** के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा—**एको व्याघ्रः** (हितो०) कोई बाघ, **एकस्मिन् दिवसे** किसी दिन, **हस्ते दण्डमेकमादाय** (हितो०) हाथ में एक दण्ड लेकर।

ई—**द्व** दो केवल द्विवचन होता है और इसका रूप पूर्णतः नियमित है। यथा प्र० द्विती० सं० **द्वौ** (द्वा, वेद); नपुं० स्त्री० **द्वे**; तृ० च० पं० **द्वाभ्याम्**; ष० स० **द्वयोस्**।

उ—**त्रि** तीन के रूप पुं० और नपुं० में साधारण इकारान्त शब्द की तरह प्रायः नियमित है; किन्तु षष्ठी रूप जैसा कि **त्रय** से (केवल उत्तरकालिक भाषा में, ऋ० वे० में एक नियमित **त्रीणाम्** एक बार प्राप्त है) होता है। स्त्रीलिंग के लिए इसमें विशिष्ट शब्द **तिसृ** होता है जिसके रूप सामान्यतः ऋकारान्त शब्द की तरह चलते हैं, किन्तु प्र० और द्विती० रूप समान होते हैं और इनमें ऋ० का सबलीकरण नहीं देखा जाता है, और षष्ठी का ऋ (वेद को छोड़कर) दीर्घित नहीं होता है। इस प्रकार :

	पुं०	नपुं०	स्त्री०
प्र०	**त्रयस्**	**त्रीणि**	**तिस्रस्**
द्वि०	**त्रीन्**	**त्रीणि**	**तिस्रस्**
तृ०	**त्रिभिस्**		**तिसृभिस्**
च० पं०	**त्रिभ्यस्**		**तिसृभ्यस्**
ष०	**त्रयाणाम्**		**तिसृणाम्**
स०	**त्रिषु**		**तिसृषु**

ऊ—वेद में नपुं० प्र० और द्विती० संक्षिप्त रूप **त्री** प्राप्त है। **तिसृभिस्, तिसृभ्यस्, तिसृणाम्** और **तिसृषु** जैसा स्वरपात भी उत्तरकालिक भाषा में विदित है। **तिसृ** प्रातिपदिक **तिसृधन्व** तीन तीरों वाला धनुष (ब्रा०) पदरचना में आता है :

ए—सबल विभक्तियों में **चतुर्** चार का **चत्वार्** (अधिक मौलिक रूप) होता है; और स्त्री० में, **तिसृ** के स्पष्टतः अनुरूप, **चतसृ** शब्द का आदेश

होता है और उसके तुल्य ही रूप चलते हैं (किन्तु उच्चतर संख्याओं के समान यहाँ स्वर में अनियमित परिवर्तन प्राप्त है, दे० नीचे ४८३) । इस प्रकार :

	पुं०	नपुं०	स्त्री०
प्र०	**चत्वारस्**	चत्वारि	**चतस्रस्**
द्विती०	चतुरस्	चत्वारि	**चतस्रस्**
तृ०	**चतुर्भिस्**		**चतसृभिस्**
च० पं०	**चतुर्भ्यस्**		**चतसृभ्यस्**
ष०	**चतुर्णाम्**		**चतसृणाम्**
स०	**चतुर्षु**		**चतसृषु**

ऐ—शब्द के अन्त्य व्यंजन (यथा **षष्** में नीचे ४८३) के बाद पुं० और नपुं० ष० के **आम्** से पूर्व **न्** का प्रयोग एक विचित्र अनियमितता है । अपेक्षाकृत अधिक नियमित स्त्री० षष्ठी रूप **चतसृणाम्** भी कभी-कभी प्राप्त होता है । उत्तरकालिक भाषा में उपधा के स्थान में अन्त्य अक्षर का स्वरपात तृ० च० पं० और स० में विहित माना गया है ।

४८३—५ से १९ तक की संख्याओं में लिंग का भेद नहीं मिलता है और न किसी प्रकार का जातीय लक्षण विद्यमान है । बहुवचन—जैसे इनके रूप बहुत कुछ अनियमित ढंग से चलते हैं, अपवाद रूप प्र० द्विती० है जहाँ इनका वास्तविक बहुवचन रूप अनुपलब्ध है, किन्तु मात्र प्रातिपदिक के प्रयोग देखे जाते हैं । (**चतुर्** की तरह) षष् में षष्ठी विभक्ति-चिह्न शब्दान्त्य और प्रत्ययादि के पारस्परिक समीकरण के चलते **नाम्** है । **अष्ट** (जैसा कि प्राचीनतर भाषा में स्वर-युक्त है) का वैकल्पिक पूर्णतर रूप **अष्टा** है जो कि प्राचीनतर (वे० और ब्रा०) साहित्य में नित्यरूप से रूप-विधान और पद-रचना दोनों में व्यवहृत है (किन्तु **अष्ट** के साथ कुछ समास अ० वे० जैसे पूर्वकाल में भी उपलब्ध है), इसका प्र० द्विती० रूप **अष्ट** (उत्तरकाल में सामान्य; ऋ० वे० में एक बार और अ० वे० में प्राप्त) या **अष्टा** (ऋ० वे०) या **अष्टौ** (ऋ० वे० में सर्वाधिक सामान्य; साथ ही अ० वे०, ब्रा० और उत्तरकाल में) है ।

अ—स्वरपात बहुत अंशों में विशिष्ट होता है । सभी स्वर चिह्नित ग्रन्थों में अकारान्त शब्दों से स्वराघात **भिस्, भ्यस्** और **सु** विभक्ति-चिह्नों के पूर्व उपधा पर ही होता है, शब्द का जैसा स्वर हो । यथा—**पञ्च** से **पञ्चभिस्**, **नव** से **नवभ्यस्**, **दश** से **दशसु**, **नवदश** से **नवदशभिस्**, **एकादश** से **एकादशभ्यस्**, **द्वादश** से **द्वादशसु** (वैयाकरणों के अनुसार उत्तरकालिक

भाषा में स्वरपात इन रूपों में या तो उपधा पर या अन्त्य पर होता है)। ष० बहु० में स्वरपात (**इ, उ** और **ऋ** अन्तवाले शब्दों की तरह) विभक्ति-चिह्न पर है। यथा—**पञ्चदशानाम्**, **सप्तदशानाम्**। **षष्** के विभक्तिरूपों और **अष्टा** प्रातिपदिकस्वरूप से बनने वाले विभक्तिरूपों में स्वरपात सर्वत्र विभक्ति-चिह्न पर पड़ता है।

आ—इन शब्दों के रूपविधान के उदाहरण यों होते हैं :

प्र० द्विती०	**पञ्च**	**षट्**	**अष्टौ**	**अष्ट**
तृ०	**पञ्चभिस्**	**षड्भिस्**	**अष्टाभिस्**	**अष्टभिस्**
च० पं०	**पञ्चभ्यस्**	**षड्भ्यस्**	**अष्टाभ्यस्**	**अष्टभ्यस्**
ष०	**पञ्चानाम्**	**षण्णाम्**		**अष्टानाम्**
स०	**पञ्चसु**	**षट्सु**	**अष्टासु**	**अष्टसु**

इ—**सप्त** (उत्तरकालिक भाषा में **सप्त**, यथा **अष्ट** के लिए **अष्ट**) **नव, दश,** साथ ही **दश** वाले सामासिक (११-१९)—इन सबों के रूप पञ्च के समान चलते हैं और उसी प्रकार का स्वर-विचलन (अथवा विभक्ति-चिह्न पर वैकल्पिक अन्तरण के साथ जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट हो चुका है) होता है।

४८४—भारतीय वैयाकरण ५ और ७-१९ के शब्दों में अन्त्य **न्** रखते हैं, जैसे **पञ्चन्, सप्तन्, अष्टन्, नवन्, दशन्,** और **एकादशन्** प्रभृति। किन्तु ७, ९ और १० के प्रमाणभूत मूल अन्त्य नासिक्य (तुलनीय **सेप्तेम्, नोवेम्, देशेम्, सेवेन, नाइन, तेन**) के साथ इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है; यह केवल इसी तथ्य को लेकर है कि उस प्रकार के प्रातिपदिक को मानकर चलने से उनके रूपविधान में अपेक्षाकृत अधिक नियमित स्वरूप प्राप्त हो जाता है; प्र० द्विती० रूप **अन्** अन्त वाले नपुं० एकवचन के समान हैं, और तृ० च० पं० और स० वाले **अन्** अन्त वाले नपुं० या पु० बहुवचन जैसे :—तुलनीय **नामभिस्**, **नामभिस्**, **नामभ्यस्**, **नामसु**—केवल ष० तो अकारान्त शब्द के तुल्य होता है। **इन्द्राणाम्** और **नाम्नाम्** या **आत्मनाम्** के साथ **दशानाम्** की तुलना कीजिये। भाषा में कहीं भी इन शब्दों से अन्त्य न् का अवशेष रूपविधान, व्युत्पत्ति या पदरचना में किसी तरह नहीं मिलता है (यद्यपि श० ब्रा० में सामान्य **दशदशिन्** के लिए **दशंदशिन्** दो बार प्राप्त है)।

४८५—अ—**विंशति** और **त्रिंशत्** प्रभृति दशकों तथा इनके सामासिकों के रूप समानान्त स्त्री० शब्दों की तरह नियमित ढंग से चलते हैं और ये सभी वचनों में होते हैं।

आ—**शत** और **सहस्र** के रूप समानान्त्य के नपुं० (या विरले उत्तर-कालिक भाषा में पुं०) शब्दों की तरह सभी वचनों में चलते हैं ।

इ—उच्चतर संख्याओं के साथ भी यही बात लागू होती है, जिनमें वस्तुतः वास्तविक संख्या-लक्षण प्राप्त नहीं है, किन्तु जो साधारण संज्ञाएँ बन गयी हैं ।

४८६—**प्रयोग ।** इनसे निर्दिष्ट संज्ञाओं के साथ इनके प्रयोग के प्रसंग में :

अ—१ से १९ के शब्द मुख्यतः संज्ञाओं के साथ विशेषण के तुल्य प्रयुक्त होते हैं, इनकी विभक्तियाँ और लिंग भेद रहने से इनके लिंग भी विशेष्य के होते हैं । यथा—**दशभिर्वीरैः** दश वीरों के साथ; **ये देवा दिव्येकादश स्थ** (अ० वे०) तुममें से जो ग्यारह देव स्वर्ग में हैं; **पञ्चसु जनेषु** पाँच जनों में; **चतसृभिर्गीर्भिः** चार स्तुतियों से । **दश कलशानाम्** (ऋ० वे०) दश कलश; **ऋतूनां षट्** (रामा०) छः ऋतुएँ जैसे संयोजन भी विरल भाव से प्राप्त होते हैं ।

आ—१९ से ऊपर की संख्याएँ साधारणतया संज्ञाओं के तुल्य प्रयुक्त होती हैं; इनके साथ संख्यित संज्ञा गुणीभूत-षष्ठी के रूप में व्यवहृत होती है या इनका एकवचन रूप इसका समानाधिकरण बना रहता है । यथा—**शतं दासीः** या **शतं दासीनाम्** एक सौ दासियाँ या दासियों में से एक सौ; **विंशत्या हरिभिः** बीस कुम्मैद घोड़े; **षष्ट्यां शरत्सु** ६० शरदों में; **शतेन पाशैः** सौ बन्धनों द्वारा; **शतं सहस्रम् अयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनाम्** (अ० वे०) बलवान् (इन्द्र) ने सौ हजार, अयुत, न्यर्बुद दानवों को मारा । ये कभी-कभी बहुवचन में रखे जाते हैं, जैसे कि ये विशेषरूप से विशेषण की तरह प्रयुक्त हुए हों । यथा—**पञ्चाशद्भिर्बाणैः** पचास तीरों से ।

इ—प्राचीनतर भाषा में ५ और उससे ऊपर वाली संख्याएँ प्र० द्विती० रूप में (अथवा निर्विभक्तिक जैसी) अन्य विभक्तियों के लिए कभी-कभी प्रयुक्त होती हैं : यथा—**पञ्च कृष्टिषु** पाँच जातियों में; **सप्तर्षीणाम्** सात ऋषियों का; **सहस्रम् ऋषिभिः** हजार ब्रह्मर्षियों के साथ, **शतम् पूर्भिः** सौ दुर्गों से । इस प्रकार के कादाचित्क प्रयोग उत्तरकाल में भी उपलब्ध होते हैं ।

४८७—**क्रम संख्याएँ ।** मूल अथवा गणवाची संख्याओं से आने वाली व्युत्पन्न शब्दों के वर्गों के क्रम संख्याएँ ही सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं; और इनके रूप-निर्माण की विधि का विवेचन यहाँ प्रस्तुत करना समीचीन होगा ।

प्रथम क्रम संख्याओं में से कुछ अनियमित रूप से बनायी जाती हैं । यथा :

अ—**एक** १ से कोई क्रमसंख्या नहीं बनती है; इसके स्थान में **प्रथम**

(अर्थात् **प्रतम** सबसे आगे) प्रयुक्त है; **आद्य** (**आदि** आरम्भ से) सर्वप्रथम सूत्रों में व्यवहृत है और **आदिम** बहुत बाद ।

अ—**द्वि** २ और **त्रि** ३ से **द्वितीय** और **तृतीय** (तद्धित प्रत्यय लगाकर द्वित और संक्षेपीकृत त्रित में) होते हैं ।

इ—**चतुर्** ४, **षष्** छः और **सप्त** ७ से थ प्रत्यय जुड़ता है : यथा—**चतुर्थ**, **षष्ठ**, **सप्तथ**; किन्तु चतुर्थ के लिए **तुरीय** और **तुर्य** भी प्रयुक्त होते हैं, और **सप्तथ** केवल प्राचीनतर भाषा में आता है; पाँचवें के लिए **पञ्चथ** अत्यधिक विरल है ।

ई—५ और ७ संख्यावाची शब्दों में सामान्यतया और ८, ९, १० संख्या-शब्दों में **म** प्रत्यय लगने से **पञ्चम**, **सप्तम**, **अष्टम**, **नवम**, **दशम** बनते हैं ।

उ—ग्यारहवें से उन्नीसवें के लिए **एकादश**, **द्वादश** प्रभृति रूप होते हैं (गण-संख्याओं के समान ही, केवल स्वरपात में परिवर्तन है); किन्तु **एकादशम** प्रभृति भी यदा-कदा प्राप्त होते हैं ।

ऊ—दशकों और २० से ऊपर वाली मध्यग विषम संख्याओं के संख्येय शब्द के दो रूप मिलते हैं—एक गण संख्या में पूर्ण (तमार्थक) **तम** प्रत्यय लगाने से; यथा **विंशतितम**, **त्रिंशत्तम**, **अशीतितम** प्रभृति, द्वितीय गण-संख्या के संक्षेपण के साथ अ-अन्त वाला लघुतर रूप; यथा—**विंश** २०वाँ; **त्रिंश** ३०वाँ, **चत्वारिंश** ४०वाँ, **पञ्चाश** ५०वाँ, **षष्ट** ६०वाँ; **सप्तत** ७०वाँ; **अशीत** ८०वाँ; **नवत** ९०वाँ; और इसी प्रकार **एकविंश** २१वाँ; **चतुस्त्रिंश** ३४वाँ; **अष्टाचत्वारिंश** ४८वाँ; **द्वापञ्चाश** ५२वाँ; **एकषष्ट** ६१वाँ, तथा **एकान्नविंश** और **ऊनविंश** और **एकोनविंश** १९वाँ, इत्यादि । इन दो रूपों में से द्वितीय और लघुतर रूप ही अधिक प्रचलित है, प्रथम वेद से उद्धरणीय नहीं है और ब्राह्मणों से अत्यधिक विरले ही उद्धरणीय है । ५०वें से ऊपर दशकों और ईकाइयों से बनी विषम संख्याओं में ही लघुतर रूप वैयाकरणों द्वारा मान्य है; किन्तु यह, उत्तरकाल की भाषा में भी, सरल दशक के साथ कभी-कभी पाया जाता है ।

ए—उच्चतर संख्याओं में **शत** और **सहस्र** से **शततम** और **सहस्रतम** रूप बनते हैं; किन्तु इनके सामासिकों में सरलतर रूप भी प्राप्त है । यथा—**एकशत** या **एकशततम** १०१वाँ ।

ऐ—क्रम संख्याओं में **प्रथम** (और **आद्य**), **द्वितीय**, **तृतीय** और **तुरीय** (**तुर्य** के साथ) में **आ** प्रत्यय के जुड़ने से स्त्रीलिंग बनता है; अन्य सबों में यह **ई** प्रत्यय के जुड़ने से प्राप्त है ।

४८८—क्रम संख्याएँ अन्य भाषाओं की तरह संख्येय-तत्त्व के अतिरिक्त अन्य तत्त्व का बोध करती हैं; और विशेष रूप से संस्कृत में ये गण संख्याओं के सामान्य विशेषण बनकर अत्यधिक विभिन्न अर्थ द्योतित करती हैं; यथा भिन्न अङ्कवाली, विभिन्न अंशों; वलनों वाली अथवा इतने प्रकारों वाली अथवा (जैसे कि ऊपर देखा गया है, ४७९) इतने युक्त ।

अ—आंशिक अर्थ में वैयाकरण इनके प्रथम अक्षर पर स्वरनिक्षेप का विधान करते हैं; यथा—**द्वितीय** आधा, **तृतीय** तीसरा अंश, और **चतुर्थ** चौथाई, इत्यादि । किन्तु स्वर-चिह्नित ग्रन्थ में केवल **तृतीय** तीसरा, और **चतुर्थ** (श० ब्रा०) और **तुरीय** चतुर्थांश इस प्रकार प्राप्त होते हैं; आधा के लिए केवल **अर्धं** मिलता है; और **चतुर्थं** (मै० सं०, प्रभृति) **पञ्चमं** प्रभृति में स्वरपात अपनी क्रम संख्याओं के अनुरूप होता है ।

४८९—अन्य संख्यावाची प्रत्ययान्त रूप होते हैं । इस प्रकार :

अ—गुणनात्मक क्रियाविशेषण; जैसे—**द्विस्** दो बारा, **त्रिस्** तीन बार, **चतुस्** चार बार;

आ—**धा** (११०४) और **शस्** (११०६) प्रत्ययों के साथ क्रियाविशेषण, उदाहरणार्थ, **एकधा** एक प्रकार से, **शतधा** सौ प्रकारों से; **एकशस्** एक-एक करके, **शतशस** सौ-सौ करके;

इ—समूहवाची, यथा **द्वितय** या **द्वयं** युग्म, **दशतय** या **दशत्** दश का समूह;

ई—**द्विक** दो से बना; **पञ्चक** पाँच से बना या पाँच-पाँच जैसे विशेषण, इत्यादि; किन्तु इनका विवेचन शब्दकोश अथवा प्रत्ययविधान के अध्याय का विषय ही होता है ।

अध्याय—७

सर्वनाम

४९०—सर्वनाम संज्ञाओं और विशेषणों के बृहत् वर्ग से मुख्यतः इसके चलते भिन्न होते हैं कि ये मूलों, तथाकथित सार्वनामिक या सांकेतिक मूलों की अन्य और अत्यन्त सीमित श्रेणी से निष्पन्न हैं । साथ ही, इनमें रूपविधान की अनेक और महत्त्वपूर्ण विशिष्टताएँ प्राप्त होती हैं—उनमें से कुछ तो कुछ विशेषणों से साम्य रखती हैं; और इस प्रकार के विशेषण फलतः इस अध्याय के अन्त में वर्णित होंगे ।

पुरुषबोधक सर्वनाम

४९१—उत्तमपुरुष और मध्यमपुरुष के सर्वनाम सर्वाधिक अनियमित और सबों से विशिष्ट होते हैं; इनके अंश विभिन्न मूलों और मूलों के संयोजनों से बने हैं। इनमें लिंगभेद नहीं होता है।

अ—उत्तरकालिक भाषा में इनका रूपविधान यों हैं :

एकवचन :

	उत्तमपुरुष	मध्यमपुरुष
प्र०	अहम्	त्वम्
द्वितो०	माम्, मा	त्वाम्, त्वा
तृ०	मया	त्वया
च०	मह्यम्, मे	तुभ्यम्, ते
पं०	मत्	त्वत्
ष०	मम, मे	तव, ते
स०	मयि	त्वयि

द्विवचन :

प्र० द्विती०	आवाम्	युवाम्
तृ० च० पं०	आवाभ्याम्	युवाभ्याम्
ष० स०	आवयोस्	युवयोस्
तथा द्विती० च० ष०	नौ	वाम्

बहुवचन :

प्र०	वयम्	यूयम्
द्विती०	अस्मान्, नस्	युष्मान्, वस्
तृ०	अस्माभिस्	युष्माभिस्
च०	अस्मभ्यम्, नस्	युष्मभ्यम्, वस्
पं०	अस्मत्	युष्मत्
ष०	अस्माकम्, नस्	युष्माकम्
स०	अस्मासु	युष्मासु

आ०—द्विती०, च०, और ष० के वैकल्पिक संक्षिप्ततर रूप सभी वचनों में उदात्तस्वर-रहित होते हैं; और फलतः वाक्य के आदि में अथवा अन्यत्र जहाँ किसी प्रकार का प्राबल्य द्योतित करना होता है, इनका स्थान विहित नहीं है।

इ—किन्तु विशेषणों जैसे गुणबोधक सोदात्त शब्दों द्वारा इनकी विशेषता बतलायी जा सकती है : यथा **ते जयत:** जयी रूप में तेरा; **वो वृताभ्यस्** तुम्हारे लिए जो बन्द कर लिये गये हों; **नस् त्रिभ्य:** हम तीनों को (सबके सब ऋ० वे०)।

ई—अ० वे० के एक या दो स्थलों में पं० **मत्** उदात्तस्वररहित है।

४९२—**प्राचीनतर भाषा के रूप**। ऊपर दिये गये सभी रूप प्राचीनतर भाषा में भी प्राप्त हैं, किन्तु वहाँ कुछ और भी हैं जो आगे चलकर प्रयोग में नहीं आते हैं।

अ—इस प्रकार हम कभी-कभी तृ० एक० रूप **त्वा** (केवल ऋ० वे० में, **मनीषया** के स्थान में **मनीषा** की तरह) पाते हैं; उसी प्रकार स० या च० एकवचन **मे** (केवल वा० सं०) और **त्वे** और च० या स० बहुव० **अस्मे** (जो कि इन ए-रूपों में तो सर्वाधिक व्यवहृत है) और **युष्मे**; इनके अन्त्य **ए** की सन्धि नहीं (या **प्रगृह्य**, १३८ आ) होती है। वा० सं० में स्त्री द्विती० बहु० **युष्मास्** दो बार आया है (जैसा कि **युष्मान्** स्पष्टत: पुंलिंग रूप हो)। बहुत-से स्थलों में चतुर्थी रूप **भ्यम्** में लिखित हैं, और साथ ही अनेक स्थलों में इनका पाठ अन्त्य नासिक्य के लोप के साथ **भ्य** में पाठ्य जैसा अपेक्षित है; पुन: एक या दो असाधारण स्थलों में ष० बहुवचन के लिए **अस्माक** और **युष्माक** इसी प्रकार हमें प्राप्त हैं। अन्त:स्थ के सामान्य विघटन स्वर में किये जाते हैं, और मध्यमपुरुष के रूपों में (**त्वम्** के लिए **तुअम्** इत्यादि) ये विशेष रूप से अधिक मिलते हैं।

आ—किन्तु पूर्वतर काल में द्विवचन रूपों की अत्यन्त भिन्न प्रकृति सर्वोपरि परिलक्षित होती है। वेद तथा ब्राह्मण और सूत्र में प्रथमा विभक्तिरूप (कुछ प्रासंगिक अपवादों के साथ) **आवम्** और **युवम्** है; और द्वितीया विभक्तिरूप ही **आवाम्** और **युवाम्** (किन्तु ऋ० वे० में उत्तमपुरुष के द्विवचन रूपों के आने का अवसर नहीं हुआ है, अपवादस्वरूप **आवम्** के लिए एक बार **वाम्** [?] प्राप्त है); ऋ० वे० में तृ० रूप या तो **युवभ्याम्** (एक बार आ० श्रौ० सू० में आता है) है या **युवाभ्याम्**; पं० विभक्तिरूप **युवत्** एक बार ऋ० वे० में प्राप्त है और **आवत्** दो बार तै० सं० में; ऋ० वे० में ष० स० के लिए **युवयोस्** के स्थान में (केवल) **युवोस्** है। इस प्रकार यहाँ पाँच विभिन्न द्विवचन विभक्तिरूपों का भेद (अन्यत्र अप्राप्त) अन्य दो वचनों के अंशत: अनुरूप वाले विभक्ति-चिह्नों के चलते हमें मिलता है।

४९३—**विशिष्ट विभक्ति-चिह्न ।** इन सर्वनामों के प्र० एक० और बहु० (और वैदिक द्विवचन) में आने वाला विभक्ति-चिह्न **अम्** अन्य सर्वनामों में, यद्यपि केवल एकवचन में, बहुधा प्राप्त होगा। च० एकवचन और बहुवचन का **भ्यम्** (या **ह्यम्**) केवल यहीं मिलता है; सामान्य शब्दरूप के **भ्याम्, भ्यस्, भिस्** के साथ इसका संबन्ध स्पष्ट है। पं० का **त्** (या **द्**) यद्यपि यहाँ ह्रस्व स्वर इसका पूर्ववर्ती होता है, वस्तुतः संज्ञाओं और विशेषणों के **अ**-शब्द रूप के तुल्य ही है। प्र०, च० और पं० विभक्ति-चिह्न एकवचन और बहुवचन दोनों में (और आंशिक रूप से पूर्वतर काल के द्विवचन में भी) एकरूप हों, केवल प्रातिपदिक जिनके साथ में जोड़े जाते हैं, भिन्न हों, भाषा में अन्यत्र कहीं ऐसा उपलब्ध नहीं है। बहुवचन रूपों में आने वाला **स्म** अंश अन्य सार्वनामिक शब्दों के एकवचन के रूपविधान में बहुधा प्राप्त होगा, वस्तुतः सामासिक प्रातिपदिक **अस्म,** जिसमें **अहम्** का बहुवचन समाविष्ट है, वही प्रतीत होता है जो **अयम्** (५०१) के, एकवचन रूपों के एक भाग को बनाता है, और इसका 'हम' वाला अर्थ इन व्यक्तियों के अर्थ का विशेषीकरण-सा लगता है। **मम और तव** एकवचन रूप अन्यत्र कहीं सादृश्य नहीं रखते हैं, इनसे **मामक** और **तावक** विशेषणों का निर्माण (नीचे ५१६ अ) इनके स्वतः रूढ़ प्रातिपदिक बनने की संभावना का संकेत करता है। **अस्माकम्** और **युष्माकम्** ष० बहु० निश्चित रूप से इसी स्वरूप के होते हैं; यथा **अस्माक** और **युष्माक**-विशेषण-प्रातिपदिकों के नपुं० एकवचन विभक्तिरूप, जिनके अन्य विभक्तिरूप वेद में प्राप्त हैं।

४९४—**प्रातिपदिक रूप ।** भारतीय वैयाकरणों के अनुसार पुरुषबोधक सर्वनामों के प्रातिपदिक **मद्** और **अस्मद,** तथा **त्वद्** और **युष्मद्** हैं, क्योंकि प्रत्ययविधान और समास-प्रक्रिया में ये ही रूप (**तद् कद्** प्रभृति की तरह, दे० नीचे अन्य सर्वनामों के विवरण में) कुछ अंशों में प्रयुक्त हैं और अनियत रूप से इनके प्रयुक्त होने का विधान है। इस प्रकार इनके शब्द प्राचीनतर भाषा में भी बनते हैं; यथा—**मत्कृत** और **मत्सखि** तथा **अस्मत्सखि** (ऋ० वे०), **त्वद्योनि** और **मत्तस्** (अ० वे०), **त्वत्पितृ** और **त्वद्विवाचन** (तै० सं०), **त्वत्प्रसूत** और **त्वद्देवत्य युवद्देवत्य** तथा **युष्मद्देवत्य** (श० ब्रा०) तथा **अस्मद्देवत्य** (पं० ब्रा०); किन्तु अपेक्षाकृत अधिक संख्यक वे हैं जिनसे अकारान्त अथवा **अ** के दीर्घीकृत **आ** अन्त वाला स्वतंत्र शब्द देखा जाता है; यथा—**मावन्त्, अस्मत्रा, अस्मद्रुह्** इत्यादि; **त्वयत, त्वावन्त्, त्वादत्त, त्वानिद्, त्वावसु, त्वाहत,** इत्यादि; **युष्मादत्त, युष्मेषित** इत्यादि;

वन्त्, युवाकु, युवधित, युवादत्त, युवानीत, इत्यादि। पुनः उत्तरकालिक भाषा में भी इस विधि से बने कुछ शब्द प्राप्त हैं; यथा **मादृश्**।

अ—वेदों में कुछ अधिक अनियमित संयोजन पूर्ण रूपों के साथ देखे जाते हैं; यथा—**त्वाँकाम, त्वामाहुति, माम्पश्य, ममसत्य, अस्मेहिति, अहम्पूर्व, अहमुत्तर, अहंयु, अहंसन**।

आ—वैयाकरणों द्वारा दिये गये प्रातिपदिकों से **मदीय, त्वदीय, अस्मदीय, युष्मदीय** प्रत्ययान्त विशेषण भी आते हैं जिनमें संबन्ध तत्त्व प्राप्त है; देखिए नीचे ५१६।

इ—**स्व** और **स्वयम्** के लिए दे० नीचे ५१३।

संकेतबोधक सर्वनाम

४९५—सरलतम संकेतबोधक **त**, जिसका प्रयोग अन्य पुरुष के पुरुषबोधक सर्वनाम के लिए भी होता है, बहुत से सर्वनामों और सार्वनामिक विशेषणों के प्रचलित शब्दरूप की विधि के आदर्शस्वरूप रखा जा सकता है जिससे इसे सामान्य सार्वनामिक शब्दरूप सहज माना जा सकता है।

अ—किन्तु इस प्रातिपदिक की विशिष्ट अनियमितता भी होती है कि पुं० स्त्री० प्र० एकवचन में इससे **तस्** और **ता** के स्थान में **सस्** (जिसके विशिष्ट श्रुति-विकास के लिए दे० १७६ अ, आ) और **सा** हैं (तुलनीय ग्रीक **हो, हे, तो,** और गॉथिक **स, सो, दात**) यथा—

एकवचन :

	पुं०		नपुं०	स्त्री०
प्र०	सस्		तत्	सा
द्विती०	तम्		तत्	ताम्
तृ०		तेन		तया
च०		तस्मै		तस्यै
पं०		तस्मात्		तस्यास्
ष०		तस्य		तस्यास्
स०		तस्मिन्		तस्याम्

द्विवचन :

	पुं०		नपुं०	स्त्री०
प्र० द्विती० सं० (?)	तौ		ते	ते
तृ० च० पं०		ताभ्याम्		ताभ्याम्
ष० स०		तयोस्		तयोस्

बहुवचन :

प्र०	तॆ	तानि	तास्
द्वि०	तान्	तानि	तास्
तृ०	तैस्		ताभिस्
चं० पं०	तेभ्यस्		ताभ्यस्
ष०	तेषाम्		तासाम्
स०	तेषु		तासु

आ—अ और आ अन्त वाले सभी शब्दों में प्राप्त अनियमितताओं को छोड़कर अन्य अनियमितताएँ वेदों में नहीं देखी जाती हैं। यथा—यदा-कदा तेना; साधारणतया द्विव० तौ के स्थान में ता; बहुधा नपुं० बहु० तानि के लिए ता; सामान्यतया तृ० बहु० तैस् के लिए तेभिस्; और सामान्य विघटन प्राप्त हैं। ऋ० वे० में प्रातिपदिक स से एक और विभक्तिरूप मिलता है, यथा—सस्मिन् (तस्मिन् के प्रयोगों के लगभग आधे); और छान्दो० उप० में एक बार सस्मात् प्राप्त है।

४९६—यह द्रष्टव्य है कि सामान्य सार्वनामिक शब्दरूप की विशिष्टताएँ ये होती है :—

अ—एकवचन में नपुं० प्र० द्विती० के विभक्ति-चिह्न जैसा त् (वस्तुतः द्) का प्रयोग; पुं० और नपुं० च०, पं० और स० विभक्तियों में प्रातिपदिक के साथ विशिष्ट अंश स्म का और स्त्री० च० पं० ष० और स० विभक्तियों में स्य का संयोग; और पुं० तथा नपुं० स० विभक्तिचिह्न इन्, जो कि इस शब्दरूप (ऋ० वे० एक बार प्रयुक्त अनियमित यार्द्दश्मिन् को छोड़कर) में सीमित है। ब्राह्मणों में स्त्री विभक्ति-चिह्न आस् (३०७ ए) के लिए ऐ का आदेश ३६५ ई में निर्दिष्ट हो चुका है।

आ—द्विवचन वस्तुतः अ और आ अन्त वाले संज्ञा शब्दों के जैसा होता है।

इ—बहुवचन में पुं० प्र० के तास् के लिए ते में ही अनियमितताएँ होती हैं; और ष० के आम् से पूर्व न् के स्थान में स् का आगम, इसके पूर्व का शब्दान्त्य उसी प्रकार गृहीत है जैसा कि स० के सु के पूर्व का।

४९७—इस सर्वनाम के प्रातिपदिक को वैयाकरणों ने तद् माना है; और वस्तुतः इसी रूप से तत्त्व, तद्वत्, तन्मय के साथ, तदीय तद्धितान्त विशेषण, और तच्छील, तज्ज्ञ, तत्कर, तदनन्तर, तन्मात्र प्रभृति अनेक सामासिक बने हैं। वेद में भी ये सामासिक पद विरल नहीं हैं; इसी प्रकार तदन्न, तद्विद् तद्वश इत्यादि। किन्तु यथार्थ प्रातिपदिक त से निष्पन्न प्रत्ययान्त शब्द

भी अनेक हैं,, विशेष रूप से **तंतस्**, **तंत्र**, **तंथा**, **तदा** जैसे अव्यय; **तांवन्त्** और **तंति** विशेषण; और **तादृश्** प्रभृति सामासिक।

४९८—यद्यपि संकेतबोधक प्रातिपदिक **त** व्यापक रूप से अन्यपुरुष के लिए है, तथापि यह पूर्वतर और उत्तर दोनों कालों की भाषा में उत्तमपुरुष और मध्यम पुरुष के सर्वनामों के विशेषणों जैसा भी यह निर्बाध प्रयुक्त होता है, जहाँ इनमें प्राबल्य द्योतित किया जाता है। यथा—**सोऽहम्** यह मैं; या मैं यहाँ; **सं** या **सां त्वंम्** तू वहाँ; **ते वयम्** हम यहाँ, **तस्य मम** यहाँ मेरा, **तंस्मिंस्त्वयि** वहाँ तुझमें, इत्यादि।

४९९—दो अन्य संकेतबोधक प्रातिपदिकों में **त** अंश-जैसा सन्निविष्ट देखा जाता है; और दोनों के पुं० स्त्री० प्र० एक० में सरल **त** की तरह **स** का आदेश होता है।

अ—एक **त्य** ऋ० वे० में प्रायः साधारण (यद्यपि इसके संभाव्य रूपों की एक तिहाई ही प्रयुक्त है) है, किन्तु अ० वे० में विरल है और उत्तरकाल में प्रायः अज्ञात है। इसका प्र० एकवचन रूप तीनों लिंगों में **स्यंस्**, **स्यां**, **त्यंत्** है और इसके द्विती० विभक्तिरूप **त्यंम्**, **त्यांम्**, **त्यंत्** बनते हैं, और अवशिष्ट विभक्तियों में इसी ढंग से **त** के तुल्य इसके रूप चलते हैं। ऋ० वे० में इसका स्त्री० तृ० रूप **त्यां** (**त्यंया** के लिए) है। स्त्री० प्र० एकवचन के लिए **स्या** के स्थान में **त्या** भी प्राप्त है।

आ—यहाँ यह, निकटतर स्थान वाला अन्य सामान्य संकेतबोधक होता है और यह भाषा के सभी कालों में अधिक प्रयुक्त है। इसमें सरल प्रातिपदिक के पूर्व में **ए** जुड़ता है, जिससे प्र० विभक्तिरूप **एषंस्**, **एषां**, **एतंत्** बनते हैं—और सम्पूर्ण रूपविधान में ऐसे ही रूप प्राप्त हैं।

इ—**त्य** प्रातिपदिक के न तो सामासिक मिलते हैं और न तद्धितान्त शब्द ही। किन्तु एत से दोनों ही बनते हैं, उसी विधि से जैसा कि मूल **त** से, केवल ये संख्या में अपेक्षाकृत कम हैं। यथा, तथाकथित **एतत्** शब्द से **एतद्दां** (श० ब्रा०), **एतदर्थ** इत्यादि, और **एत** से **एतादृश्** और **एतांवन्त्**। पुनः **एष** उत्तमपुरुष और मध्यमपुरुष के सर्वनामों के विशेषण रूप में **स** की तरह (४९८) प्रयुक्त होता है: यथा—**एषाऽहम्**, **एते वयम्**।

५००—एक अपूर्ण सार्वनामिक प्रातिपदिक **एन** होता है जो उदात्तस्वरहीन है और फलतः उन्हीं स्थानों में प्रयुक्त होता है जहाँ इसपर प्राबल्य नहीं होता है। द्वितीया के सभी वचनों, तृ० एक० और ष०-स० द्विव० को छोड़कर अन्यत्र कहीं यह व्यवहृत नहीं है। इस प्रकार:

	पुं०	नपुं०	स्त्री०
एकव० द्वितो०	**एनम्**	**एनत्**	**एनाम्**
तृ०	**एनेन**		**एनया**
द्विव० द्विती०	**एनौ**	**एने**	**एने**
ष० स०	**एनयोस्**		**एनयोस्**
बहुव० द्विती०	**एनान्**	**एनानि**	**एनास्**

अ—ऋ० वे० में **एनयोस्** की जगह **एनोस्** है, और एक या दो प्रयोगों में रूप उदात्तयुक्त होता है; यथा—**एनाम्**, **एनास्** (?)। ऐ० ब्रा० में नपुं० प्र० **एनत्** भी प्रयुक्त होता है।

आ—चूँकि **एन** सर्वदा विशेष्य रूप में प्रयुक्त है, इसमें अन्यपुरुष सर्वनाम की प्राबल्यहीन प्रयोगिता **त** की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ होती है। इसके विशेषण रूप प्रयोग के प्रत्यक्ष उदाहरण, जो यदा-कदा पाये जाते हैं, निस्संदेह **एत** के साथ संभ्रान्ति के परिणाम स्वरूप (४९९ आ) हैं।

इ—इस प्रातिपदिक से न तद्धितान्त शब्द बनते हैं और न सामासिक।

५०१—दो अन्य संकेतबोधक सर्वनामों का शब्दरूप इतने अनियमित ढंग से चलता है कि उन्हें पूर्ण रूप में प्रस्तुत करना अपेक्षित है। प्रथम **अयम्** प्रभृति अपेक्षाकृत अधिक अनिश्चयात्मक संकेतबोधक, यह या वह, की तरह प्रयुक्त होता है; द्वितीय **असौ** प्रभृति विशेषतः अधिक दूरस्थ स्थिति, सामने का, दृष्टिगोचर वाले अर्थ को द्योतित करता है।

अ—ये इस प्रकार होते हैं :

एकवचन :

	पुं०	नपुं०	स्त्री०	पुं०	नपुं०	स्त्री०
प्र०	अयम्	इदम्	इयम्	असौ	अदस्	असौ
द्विती०	इमम्	इदम्	इमाम्	अमुम्	अदस्	अमूम्
तृ०	अनेन		अनया	अमुना		अमुया
च०	अस्मै		अस्यै	अमुष्मै		अमुष्यै
पं०	अस्मात्		अस्यास्	अमुष्मात्		अमुष्यास्
ष०	अस्य		अस्यास्	अमुष्य		अमुष्यास्
स०	अस्मिन्		अस्याम्	अमुष्मिन्		अमुष्याम्

द्विवचन :

प्र० द्विती० इमौ इमे इमे अमू

तृ० च० पं० आभ्याम् अमूभ्याम्

ष० स० अनयोस् अमुयोस्

बहुवचन :

प्र० इमे इमानि इमास् अमी अमूनि अमूस्

द्विती० इमान् इमानि इमास् अमून् अमूनि अमूस्

तृ० एभिस् आभिस् अमीभिस् अमूभिस्

च० पं० एभ्यस् आभ्यस् अमीभ्यस् अमूभ्यस्

ष० एषाम् आसाम् अमीषाम् अमूषाम्

स० एषु आसु अमीषु अमूषु

आ—प्राचीनतर भाषा में ये रूप ही बिना किसी परिवर्तन से प्रयुक्त होते हैं। अपवाद हैं : (सामान्यतया) **इमौ** और **इमानि** के लिए **इमा** आता है, और **अमूनि** के लिए **अमू** ; **अमुया** क्रियाविशेषण की तरह प्रयुक्त होने पर अन्तोदात्त **अमुया** हो जाता है; **असौ** (निस्संदेह प्रथमाक्षर उदात्त है **असौ**; अथवा उदात्तस्वरहीन **असौ**, ३१४) संबोधन की तरह भी प्रयुक्त होता है; **अमी** भी संबोधन जैसा व्यवहृत है।

५०२—इन दो सर्वनामों में से प्रथम, **अयम्** प्रभृति, स्पष्टतः अनेक अपूर्ण शब्दों से मिश्रित दृष्टिगोचर होता है। रूपों के बहुसंख्यक प्रातिपदिक **अ** से बनते हैं जहाँ साधारण सार्वनामिक शब्दरूप की तरह **स्म** (स्त्री० **स्य**) एकवचन में युक्त होता है। **अ** से बने इन सभी रूपों का यह वैशिष्ट्य होता है कि ये अपने विशेष्य प्रयोग में या तो उदात्तित होते हैं जैसा कि तालिका में निर्दिष्ट है, या उदात्तस्वरहीन (**एन** तथा **अहम्** और **त्वम्** से द्वितीय रूपों की तरह)। अवशिष्ट रूप नित्य उदात्त होते हैं। **अन** से पूर्ण नियमितता के साथ **अनेन**, **अनया**, **अनयोस्** रूप आते हैं। द्विवचन और बहुवचन में, तथा आंशिक रूप से एकवचन में, सबल विभक्तियाँ नियमतः **इम** प्रातिपदिक से बनती हैं। तथा **अयम्** , **इयम्** , **इदम्** स्पष्टतः सरल प्रातिपदिक **इ** से सम्बद्ध है (**इदम्** , प्रत्यक्षतः द्विगुणित रूप होता है—**तद्** प्रभृति की तरह **इद्** और विभक्ति चिह्न **अम्**)।

आ—वेद में प्रातिपदिक **अ** से तृतीया रूप **एना** और **अया** (सामान्यतः क्रिया-विशेषण की तरह प्रयुक्त) तथा ष० स० द्विवचन रूप **अयोस्** प्राप्त हैं; **इम** से **इमस्य** ऋ० वे० में एक बार व्यवहृत है। ऐ० आ० से **इमस्मै** और

उत्तर काल में **इमैस्** और **इमैषु** प्राप्त है। ऋ० वे० में अनियमित स्वरपात **अ॑स्मै, अ॑स्य, आ॑भिस्** है।

इ—वैयाकरण अन्य सर्वनामों के सादृश्य पर **इद॑म्** को इस सर्वनाम-शब्द-रूप का प्रतिनिधि प्रातिपदिक मानते हैं; और अत्यन्त सीमित संख्यावाले सामासिक पदों में इसकी प्रक्रिया इस रूप में वस्तुतः प्राप्त है (**इदम्म॑य** और **इद॑रूप** ब्राह्मणकाल के होते हैं)। वास्तविक प्रातिपदिकों को लेकर **अन** से विशेष कुछ नहीं मिलता है; **इम** से इससे केवल **इम॑था** क्रियाविशेषण (ऋ० वे० एक बार) आता है; किन्तु **अ** और **इ** से कतिपय प्रत्ययान्त शब्द, विशेषरूप से क्रिया-विशेषणात्मक, प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के उदाहरण होते हैं : **अत॑स्** , **अ॑त्र**, **अ॑थ अद्-धा॑** (?) **इत॑स्** , **इ॑द्** (वैदिक निपात) **इदा॑**, **इह॑**, **इत॑रे**, **ईम्** (वैदिक निपात), **ई॑दृश्** , संभवतः **एव॑** और **एव॑म्** , इत्यादि।

५०३—**असौ॑** प्रभृति, दूसरे सर्वनाम का मुख्य प्रातिपदिक **अमु॑** है जो **अ**-शब्दों की तरह एकवचन-रूपों में **स्म** (स्त्री० **स्य्**) अंश को युक्त करता है, और पुं० तथा नपुं० बहु० के कुछ रूपों में जो **अमी** में अन्तरित हो जाता है। पुनः स्त्रीलिंग में इसके अन्त्य का दीर्घभाव उकारान्त विशेषण की तरह आंशिक रूप में होता है। भाषा में ष० एक० **अमु॑ष्य** एकमात्र उदाहरण है जहाँ विभक्ति-चिह्न **स्य** अ-शब्द को छोड़कर अन्यत्र युक्त है। प्र० बहुवचन **अमी॑** रूप की दृष्टि से विशिष्ट होता है; इसका **ई** (द्विवचन वाले की तरह) **प्रगृह्य** है अर्थात् परवर्ती स्वर के साथ इसकी सन्धि का निषेध (१३८ आ) है। **असौ॑** और **अ॑दस्** भी अपने विभक्ति-चिह्नों को लेकर सादृश्य नहीं रखते हैं।

अ—सामान्य रूप से वैयाकरण **अद॑स्** को शब्द-रूप का प्रतिनिधि प्रातिपदिक मानते हैं, और इस स्वरूप में यह बहुत कम शब्दों में प्राप्त है। यथा—**अदोमूल; अदोमय** ब्राह्मण-काल का है। श० ब्रा० में **असौना॑मन्** भी मिलता है। परन्तु बहुत-से प्रत्ययान्त शब्द-विभक्ति रूपों की तरह **अमु** से बने हैं, जैसे—**अमु॑तः, अमु॑त्र, अमु॑धा, अमुदा, अमु॑हि, अमु॑वत्** , **अमुक**।

आ—प्राचीनतर भाषा में **त्व** प्रातिपदिक (उदात्तस्वरहीन) आता है, जिसका अर्थ एक, बहुत में एक है। यह बहुधा आवृत्ति के साथ एक और अन्य जैसे प्राप्त हैं। इसके रूप साधारण सार्वनामिक शब्दरूप की तरह चलते हैं। इससे **त्वदानीम्** (मै० सं०) अव्यय (उदात्तस्वरहीन भी) बनता है।

इ—एक या दो अन्य संकेतबोधक प्रातिपदिकों के अंश मिलते हैं; यथा—**अ॑मस्** वह अ० वे० की एक विधि में और ब्राह्मण प्रभृति में आता है; निपात **उ** से प्रातिपदिक **उ** का निर्देश होता है।

प्रश्नबोधक सर्वनाम

५०४—प्रश्नबोधक सर्वनाम प्रातिपदिक का लाक्षणिक अंश **क** है; इसके तीन रूप **क, कि, कु** होते हैं। परन्तु सम्पूर्ण शब्दरूप की प्रक्रिया **क** से होती है, केवल नपुं० प्र० द्वितीं० एक में यह **कि** से हैं और इसका अव्यवस्थित रूप **किम्** होता है (अन्यत्र कहीं भी भाषा में नपुं० इकारान्त शब्द से प्राप्त नहीं है)। अतएव प्र० और द्वितीं० एकवचन रूप इस प्रकार होते हैं :

	पुं०	नपुं०	स्त्री०
प्र०	कस्	किम्	का
द्वि०	कम्	किम्	काम्

शेष शब्दरूप बिलकुल **त** के सदृश होता है (ऊपर ४९५)।

अ—वेद की अपनी सामान्य विभिन्नताएँ होती हैं, **कानि** और **कैस** के लिए **का** और **कैभिस्**। इसमें नियमित सर्वनामात्मक नपुं० रूप **कद्** भी **किम्** के साथ-साथ प्राप्त है, और **कम्** (या **कम्**) अति व्यवहृत निपात हैं। **किम्** का अनुरूपी पुं० **किस्, नकिस्** और **माकिस्** यौगिकों में अपरिवर्तित रूप की तरह मिलता है।

५०५—वैयाकरण **किम्** को प्रश्नबोधक सर्वनाम का प्रतिनिधि प्रातिपदिक मानते हैं; और यह वस्तुतः नातिसंख्यक शब्दों में ऐसा प्रयुक्त है जिनमें से कुछ **किम्मय, किंकर, किंकाम्या, किंदेवत, किंशील** और एक विशिष्ट शब्द **किंयु** वेद और ब्राह्मण तक में देखे जाते हैं। अन्य सर्वनामों के घनिष्ठतर सादृश्य पर **कद** रूप दो बार वेद में (**कत्पय, कदर्थ**) और अनेक बार उत्तरकाल में सामासिक शब्दों के पूर्वपद-जैसा प्राप्त है। अतएव **क, कि, कु** वास्तविक प्रातिपदिकों से अनेक प्रत्ययान्त शब्द और कि तथा **कु** से, विशेषतः द्वितीय से, कतिपय सामासिक बनते हैं। उदाहरणार्थ **कति; कथा, कथम्, कदा, कतर, कतम, कर्हि; कियन्त्, कीदृश; कुतस्, कुत्र, कुह, क्व, कुचर, कुकर्मन्, कुमन्त्रिन्**, इत्यादि।

५०६—इस सर्वनाम के विभिन्न रूप, यथा **कद्, किम्** और **कु** (और कदाचित् **को**) समासों के आरम्भ में प्रश्नात्मक अर्थ से भावोद्गारात्मक होते हुए असामान्य गुणबोधक पूर्वप्रत्ययों के अर्थ में समाविष्ट हो गये हैं, अथवा प्रशंसार्थ या बहुधा निन्दार्थ में। यह प्रयोग वेद में आरम्भ होता है, किन्तु उत्तरकाल में अपेक्षाकृत अधिक सामान्य है।

५०७—अन्य भाषाओं की तरह यहाँ प्रश्नबोधक सर्वनाम अपने स्वतंत्र प्रयोग में सहज भावोद्गारात्मक अर्थ का भी ग्रहण करता है। पुनः विभिन्नता युक्त निपातों

के चलते यह अनिश्चयार्थ में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार **च, चन, चिद्, अपि, वा** या तो स्वतः या पूर्व में जुड़े संबन्धबोधक य (नीचे ५११) के साथ : उदाहरणस्वरूप **कश्चन** कोई एक; **न कोऽपि** कोई नहीं; **यानि कानि च** जो कुछ भी, **यतमत् कतमच्च** जो भी। यदा-कदा प्रश्नबोधक स्वतः इस प्रकार के अर्थ का ग्रहण करता है।

संबन्धबोधक सर्वनाम

५०८—संबन्धबोधक सर्वनाम का प्रातिपदिक **य** है, जिसमें संकेतार्थ, जो (निश्चित रूप से) मूलतः इसमें विद्यमान था, के सभी अवशेष भाषा के पूर्वतम काल से लुप्त हो गये हैं और जो केवल संबन्धबोधक के रूप में प्रयुक्त है।

५०९—इसके रूप सामान्य सर्वनाम–शब्दरूप के सदृश पूर्ण नियमितता से चलते हैं। यथा :

	एकवचन			द्विवचन			बहुवचन		
	पुं०	नपुं०	स्त्री०	पुं०	नपुं०	स्त्री०	पुं०	नपुं०	स्त्री०
प्र०	यस्	यत्	या	यौ	ये	ये	ये	यानि	यास्
द्वि०	यम्	यत्	याम्				यान्	यानि	यास्
तृ०	येन		यया	याभ्याम्			यैस्		याभिस्
च०	यस्मै		यस्यै				येभ्यस्		याभ्यस्
	इत्यादि		इत्यादि	इत्यादि			इत्यादि		इत्यादि

अ—वेद में इन रूपों को लेकर उसकी सामान्य विशिष्टताएँ देखी जाती हैं : **यौ** के लिए और **यानि** के लिए **या** और **यैस्** के लिए **येभिस्** ; **ययोस्** के लिए **योस्** भी एक बार मिलता है; दीर्घीकृत अन्त्य के साथ **येना** ऋ० वे० में **येन** के दुगुने-जैसा सामान्य है। **याभिअस्** , और **येषअम्** और **यासअम्** में विघटन प्राप्त होते हैं। संयोजक **यात्** सामान्य शब्दरूप के अनुसार पंचमी विभक्तिरूप है।

५१०—प्रतिनिधि प्रातिपदिक जैसा **यत्** का प्रयोग बहुत पूर्वकाल से शुरू हो जाता है। वेद में हमें **यत्काम** मिलता है, और ब्राह्मण में **यत्कारिन्** और **यद्देवत्ये**; उत्तरकाल में यह अपेक्षाकृत अधिक व्यापक हो जाता है। यथार्थ प्रातिपदिक से प्रत्ययान्त शब्दों की अनेक कोटियाँ भी मिलती हैं—**यतस्** , **यति, यत्र, यथा, यदा, यदि, यर्हि, यावन्त्** , **यतर, यतम**; और सामासिक **यादृश्** ।

५११—अनिश्चयबोधक सर्वनाम बनाने के लिए **क** के साथ **य** का संयोग ऊपर (५०७) निर्दिष्ट हो चुका है। इसकी अपनी आवृत्ति—यथा **यद्-यत्** कभी-कभी उसी प्रकार का अर्थ इसमें लाती है जो कि विभाजक द्वारा प्राप्त है।

५१२—सम्बन्धबोधक सर्वनाम के संस्कृत प्रयोग की एक या दो महत्त्वपूर्ण विशिष्टताएँ संक्षेप में यहाँ द्रष्टव्य हैं :

अ—सम्बन्धबोधक उपवाक्य को विशेष्य वाक्य से पूर्व रखने की अति-प्रबल प्रवृत्ति उदाहरणार्थ, **यः सुन्वतः सखा तस्मा इन्द्राय गायत** (ऋ० वे०) जो सोमसवन करने वाले का मित्र है, उस इन्द्र की स्तुति करो; **यं यज्ञम् परिभूरसि स इद् देवेषु गच्छति** (ऋ० वे०) जिस यज्ञ की रक्षा तुम करते हो, वस्तुतः वही देवों के पास पहुँचता है; **ये त्रिषप्ताः परियन्ति बला तेषां दधातु मे** (अ० वे०) जो तीन-सात बार प्रदक्षिणा करते हैं उनकी शक्ति मुझमें ला दो; **असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः** (अ० वे०) यहाँ नीचे जो घर है वहाँ डाइनें रहें; **सह यन मे अस्ति तेन** (तै० ब्रा०) जो मेरा है, उसके साथ; **हंसानां वचनं यत् तु तन्मां दहति** (महाभा०) किन्तु हंसों का जो भी कूजन हो, मुझे जलाया करता है; **सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः** (हितो०) जिसके पास शास्त्र, जो सबों का लोचन है, नहीं है, वही अन्धा होता है। अन्य प्रकार का विन्यास, यद्यपि खूब प्रचलित है, मुख्य रूप से कम सामान्य होता है।

आ—विशेष्य उपवाक्य में जुड़े सम्बन्धबोधक के चलते क्रिया के कर्म या कर्ता का व्यापक परिवर्तन : उदाहरणार्थ, **मेऽमम् प्राऽऽपत् पौरुषेयो वधो यः** (अ० वे०) मानवीय मारक शास्त्र वहाँ उसके पास नहीं पहुँचे (शाब्दिक अर्थ से, जो ऐसा शस्त्र है), **परि णो पाहि यद् धनम्** (अ० वे०) हमारी रक्षा करो जो धन (वहाँ हो); **अपामार्गोऽपमार्ष्टु क्षेत्रियं शपथश्च यः** (अ० वे०) शोधक वनस्पति रोग और शाप को दूर कर दे; **पुष्करेण हृतं राज्यं यच्चाऽन्यद् वसु किंचन** (महाभारत) राज्य और जो कुछ अन्य धन (वहाँ था) पुष्कर द्वारा हरा गया।

अन्य सर्वनाम—निजबोधक अनिश्चयबोधक

५१३—अ—**स्वयम्** (प्रातिपदिक **स्व** से) विकीर्ण और अरूपायित सर्वनाम शब्द **स्व** स्वात्म अर्थ को द्योतित करता है। अपनी आकृति से यह प्र० एक० का रूप प्रतीत होता है और अधिक समय यह प्रथमाविभक्ति—जैसा

प्रयुक्त है, किन्तु प्रयोग सभी पुरुषों और सभी वचनों के शब्दों के साथ होता है; और बहुधा यह अन्य विभक्तियों का प्रतिनिधित्व भी करता है।

आ—समास रूप में **स्वयम्** प्रातिपदिक—जैसा भी प्रयुक्त होता है। यथा—**स्वयंजा, स्वयम्भू**। किन्तु **स्व** स्वतः (सामान्यतया विशेषण, नीचे ५१६ उ) इस प्रकार के अर्थ को समास में प्रकट करता है; और इसके विभक्ति-प्राप्त रूप भी (प्राचीनतर भाषा में बड़ी कठिनता से) निजबोधक सर्वनाम की तरह आते हैं।

इ—केवल ऋ० वे० में **सम** (उदात्तरहित) कोई, प्रत्येक और **सिम** प्रत्येक, सब—दो अनिश्चयबोधक सर्वनामों के कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं।

सर्वनाम के तुल्य प्रयुक्त संज्ञाएँ

५१४—अ—एकवचन में (अत्यधिक विरल भाव से अन्य वचनों में) **आत्मन्** आत्मा संज्ञा सभी पुरुषों के स्वबोधक सर्वनाम—जैसा व्यापक रूप से व्यवहृत है।

आ—वेद में **तनू** शरीर संज्ञा भी इसी ढंग से (किन्तु सभी वचनों में) प्रयुक्त है।

इ—**भवन्त्** स्त्री० **भवती** विशेषण का प्रयोग (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ४५६) आदरार्थ में मध्यम पुरुष सर्वनाम के प्रतिस्थापक के रूप में होता है। क्रिया के साथ उसकी रचना इसके यथार्थ लक्षण के अनुरूप होती है, जो अन्यपुरुष शब्द के सदृश है।

सार्वनामिक प्रत्ययान्त शब्द

५१५—सार्वनामिक मूलों और शब्दों से, साथ ही मूलों के एक वृहत्तर वर्ग से और संज्ञा शब्दों से, विशेषण निर्माण के साधारण प्रत्ययों वा जोड़कर कुछ शब्द और शब्दों के वर्ग बनाये जाते हैं जिनमें फलतः सार्वनामिक विशेषणों का लक्षण आ जाता है।

इनमें से कुछ जो अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध हैं, यहाँ संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

५१६—स्वामित्व बोधक : अ–**मद्** प्रभृति प्रतिनिधिक प्रातिपदिकों से **मदीय, अस्मदीय, त्वदीय, युष्मदीय, तदीय** और **एतदीय** विशेषण बनाये जाते हैं जो मुझसे संबंधित, मेरा प्रभृति संबन्धार्थ में प्रयुक्त हैं।

आ—अन्य संबन्धबोधक **मम** और **तव** षष्ठी रूपों से **मामक** (**ममक** भी, ऋ० वे०) और **तावक** होते हैं। एकबार ऋ० वे० में **माकीन** प्राप्त है।

इ—**अमु'ष्य** षष्ठी से अनुरूप प्रत्ययान्त शब्द **आमुष्यायर्ण** (अ० वे० प्रभृति) अमुक की सन्तान है ।

ई—ऊपर (४९३) यह निर्दिष्ट हो चुका है कि **अस्माकम्** और **युष्माकम्** षष्ठियाँ वस्तुतः संबन्धार्थक विशेषणों के रूढ़ प्रयोग हैं ।

उ—**स्वयम्** (५१३) के अनुरूप सम्बन्धबोधक **स्व** होता है जिसका अर्थ अपना है और जो सभी पुरुषों और वचनों से संबद्ध है। ऋ० वे० में मध्यम-पुरुष का तद्रूपी सरल सम्बन्धबोधक, त्व' तेरा एक बार प्राप्त है ।

ऊ—निजबोधक सर्वनाम के रूप में **स्व** के प्रयोग के लिए देखिए ऊपर ५१३ आ ।

ए—इस प्रकार की प्रयोगिता वाले अन्य प्रत्ययान्त शब्दों का उल्लेख यहाँ अपेक्षित नहीं है। परन्तु (**स्व** को छोड़कर) सम्बन्धबोधक इतने कम व्यवहृत हैं कि इनका स्थान भाषा में नगण्य है, जहाँ सर्वनाम की षष्ठी विभक्ति से ही संबन्ध-भाव को निर्दिष्ट करने की सामान्य प्रवृत्ति प्राप्त है ।

५१७—सार्वनामिक प्रातिपदिकों में उनके अन्त्य स्वर के दीर्घीकरण के पश्चात् **वन्त्** प्रत्यय के योग से **मावन्त् त्वावन्त् युष्मावन्त्, युवावन्त्, तावन्त्, एतावन्त् यावन्त्**—जैसे विशेषण बनाये जाते हैं जिनके अर्थ मेरे-जैसे, मेरी तरह प्रभृति होते हैं। किन्तु इनमें से अन्तिम तीन ही उत्तर काल में प्रयुक्त होते हैं जिनके अर्थ इतना और जितना हैं। **वन्त्** अन्तवाले अन्य विशेषणों की तरह इनके रूप चलते हैं और इनसे स्त्रीलिंग **वती** लगाकर होता है (४५२ मु० वि०) ।

अ—**इ** और **कि** मूलों से समानार्थक शब्द **इ'यन्त्** और **कि'यन्त्** हैं जिनके रूप उसी ढंग से चलते हैं। देखिए ऊपर ४५१ ।

५१८—धातु **दृश्** देखना, दृष्टिपात करना और इसके प्रत्ययान्त–**दृश्** और (खूब कम) **दृक्ष** के साथ सार्वनामिक मूलों में स्वर का समान दीर्घभाव देखा जाता है। यथा—**मादृश्–दृश; त्वादृश्,–दृश; युष्मादृश्,–दृश; ता'दृश्,–दृश,–दृक्ष; एता'दृश्,-दृश-दृक्ष; या'दृश,-दृ'श,-ई'दृ'श्,-दृ'श,-दृ'क्ष,–की'दृश्–दृश, दृक्ष।** इनके अर्थ मेरी तरह, मेरे तुल्य या मेरे अनुरूप प्रभृति होते हैं, तथा **तादृश्** और परवर्ती शब्द वैसा और जैसा—**तालीस्** और **कालीस्**—के अर्थ में असामान्य नहीं हैं। **दृश्** अन्त वाले रूप लिंग लेकर अपरिवर्तित होते हैं; **दृश** (और **दृक्ष**) वाले स्त्रीलिंग में ईकारान्त हो जाते हैं ।

५१९—**त, क, य** से **तति,** इतना, **कति** कितना ? **यति** जितना मिलते हैं। इनमें अर्ध-संख्यात्मक लक्षण प्राप्त होता है, और इनके रूप (संख्यावाची

पञ्च पाँच प्रभृति की तरह, ऊपर ४८३) केवल बहुवचन में चलते हैं, और ये प्र० और द्विती० विभक्तियों में प्रातिपदिक-मात्र होते हैं। यथा—प्र० द्विती० त॑ति, तृ० प्रभृति त॑तिभिस्, त॑तिभ्यस्, त॑तीनाम्, त॑तिषु।

५२०—य (वे० और ब्रा० में) और क से यतर॑ और यतम॑ तथा कतर॑ और कतम॑ तरबन्त और तमबन्त शब्द होते हैं, और इ से तरबन्त इ॑तर। इनके रूपविधान के लिए दे० नीचे ५२३।

५२१—कभी-कभी लघुत्व अथवा निन्दा अर्थ द्योतित करने वाले क— प्रत्ययान्त शब्द सार्वनामिक मूलों और शब्दों के कुछ से (तथा वैयाकरणों के अनुसार इन सबों से) बनाये जाते हैं। इस प्रकार त तक॑म्, त॑कत्, तका॑स्; स से सका॑; य से यक॑स्, यका॑, यके॑; असौ॑ से असकौ॑; अमु से अमुक।

अ—सार्वनामिक प्रातिपदिकों से बने अनेक और अतिप्रयुक्त अव्ययों के लिए दे० क्रियाविशेषणों को (नीचे १०९७ मु० वि०)।

सर्वनाम की तरह रूपायित विशेषण

५२२—अनेक विशेषणों के रूप सम्पूर्णतः अथवा अंशतः सार्वनामिक शब्द-रूप की तरह (त के समान, ४९५) चलते हैं और इनके स्त्रीलिंग शब्द आकारान्त होते हैं—इन विशेषणों में से कुछ तो सार्वनामिक मूलों से निष्पन्न हैं, अन्य अल्पाधिक मात्रा में प्रयोग की दृष्टि से सर्वनामों के अनुरूप। इस प्रकार :

५२३—सार्वनामिक प्रातिपदिकों से तरबन्त और तमबन्त शब्दों— उदाहरणस्वरूप कतर॑ और कतम॑, यतर॑ और यतम॑, तथा इ॑तर; साथ ही अन्य॑ दूसरा और इसका तरबन्त अन्यतर॑—के रूप बिलकुल त की तरह चलते हैं।

अ—किन्तु इन शब्दों से भी विशेषण शब्दरूप के तुल्य बने रूप यदा-कदा उपलब्ध होते हैं (उदाहरणार्थ इतरायाम् काठक०)।

आ—समास में अन्य का अन्यत् रूप कभी-कभी हो जाता है; यथा अन्यत्काम, अन्यत्स्थान।

५२४—दूसरे शब्दों के रूप नपुं० प्र०-द्विती०-सं० को छोड़कर जहाँ सार्वनामिक अत् के स्थान में अम् वाला साधारण विशेषणरूप प्राप्त होता है अन्यत्र इसी प्रकार चलते हैं। स॑र्व सब, वि॑श्व सब, प्रत्येक ए॑क एक इस वर्ग के होते हैं।

अ—ये भी निरपवाद नहीं हैं, कम-से-कम पूर्वतर काल की भाषा में (यथा वि॑श्वाय; वि॑श्वात्, विश्वे ऋ० वे०; ए॑के स० एक०, अ० वे०)।

इ—**अमुष्य** षष्ठी से अनुरूप प्रत्ययान्त शब्द **आमुष्यायण** (अ० वे० प्रभृति) अमुक की सन्तान है।

ई—ऊपर (४९३) यह निर्दिष्ट हो चुका है कि **अस्माकम्** और **युष्माकम्** षष्ठियाँ वस्तुतः संबन्धार्थक विशेषणों के रूढ़ प्रयोग हैं।

उ—**स्वयम्** (५१३) के अनुरूप सम्बन्धबोधक **स्व** होता है जिसका अर्थ अपना है और जो सभी पुरुषों और वचनों से संबद्ध है। ऋ० वे० में मध्यम-पुरुष का तद्रूपी सरल सम्बन्धबोधक, त्वं तेरा एक बार प्राप्त है।

ऊ—निजबोधक सर्वनाम के रूप में **स्व** के प्रयोग के लिए देखिए ऊपर ५१३ आ।

ए—इस प्रकार की प्रयोगिता वाले अन्य प्रत्ययान्त शब्दों का उल्लेख यहाँ अपेक्षित नहीं है। परन्तु (**स्व** को छोड़कर) सम्बन्धबोधक इतने कम व्यवहृत हैं कि इनका स्थान भाषा में नगण्य है, जहाँ सर्वनाम की षष्ठी विभक्ति से ही संबन्ध-भाव को निर्दिष्ट करने की सामान्य प्रवृत्ति प्राप्त है।

५१७—सार्वनामिक प्रातिपदिकों में उनके अन्त्य स्वर के दीर्घीकरण के पश्चात् **वन्त्** प्रत्यय के योग से **मावन्त् त्वावन्त् युष्मावन्त्, युवावन्त्, तावन्त्, एतावन्त् यावन्त्**—जैसे विशेषण बनाये जाते हैं जिनके अर्थ मेरे-जैसे, मेरी तरह प्रभृति होते हैं। किन्तु इनमें से अन्तिम तीन ही उत्तर काल में प्रयुक्त होते हैं जिनके अर्थ इतना और जितना हैं। **वन्त्** अन्तवाले अन्य विशेषणों की तरह इनके रूप चलते हैं और इनसे स्त्रीलिंग **वती** लगाकर होता है (४५२ मु० वि०)।

अ—**इ** और **कि** मूलों से समानार्थक शब्द **इयन्त्** और **कियन्त्** हैं जिनके रूप उसी ढंग से चलते हैं। देखिए ऊपर ४५१।

५१८—धातु **दृश्** देखना, दृष्टिपात करना और इसके प्रत्ययान्त–**दृश्** और (खूब कम) **दृक्ष** के साथ सार्वनामिक मूलों में स्वर का समान दीर्घभाव देखा जाता है। यथा—**मादृश्–दृश; त्वादृश्,–दृश; युष्मादृश्,–दृश; तादृश्,–दृश,–दृक्ष; एतादृश्,–दृश–दृक्ष; यादृश्,–दृश,–ईदृश्,–दृश,–दृक्ष,–कीदृश्–दृश, दृक्ष।** इनके अर्थ मेरी तरह, मेरे तुल्य या मेरे अनुरूप प्रभृति होते हैं, तथा **तादृश्** और परवर्ती शब्द वैसा और जैसा—**तालीस्** और **कालीस्**—के अर्थ में असामान्य नहीं हैं। **दृश्** अन्त वाले रूप लिंग लेकर अपरिवर्तित होते हैं; **दृश** (और **दृक्ष**) वाले स्त्रीलिंग में ईकारान्त हो जाते हैं।

५१९—**त, क, य** से **तति,** इतना, **कति** कितना? **यति** जितना मिलते हैं। इनमें अर्ध-संख्यात्मक लक्षण प्राप्त होता है, और इनके रूप (संख्यावाची

पञ्च पाँच प्रभृति की तरह, ऊपर ४८३) केवल बहुवचन में चलते हैं, और ये प्र० और द्विती० विभक्तियों में प्रातिपदिक-मात्र होते हैं। यथा—प्र० द्विती० **त॑ति**, तृ० प्रभृति **त॑तिभिस्** , **त॑तिभ्यस्** , **त॑तीनाम्** , **त॑तिषु** ।

५२०—**य** (वे० और ब्रा० में) और **क** से **यत॑र** और **यत॑म** तथा **कत॑र** और **कत॑म** तरबन्त और तमबन्त शब्द होते हैं, और **इ** से तरबन्त **इ॑तर** । इनके रूपविधान के लिए दे० नीचे ५२३ ।

५२१—कभी-कभी लघुत्व अथवा निन्दा अर्थ द्योतित करने वाले **क**— प्रत्ययान्त शब्द सार्वनामिक मूलों और शब्दों के कुछ से (तथा वैयाकरणों के अनुसार इन सबों से) बनाये जाते हैं। इस प्रकार **त तक॑म्** , **त॑कत्** , **तका॑स्** ; **स** से **सका॑**; **य** से **यक॑स्** , **यका॑**, **यके॑**; **असौ॑** से **असकौ॑**; **अमु** से **अमुक** ।

अ—सार्वनामिक प्रातिपदिकों से बने अनेक और अतिप्रयुक्त अव्ययों के लिए दे० क्रियाविशेषणों को (नीचे १०९७ मु० वि०) ।

सर्वनाम की तरह रूपायित विशेषण

५२२—अनेक विशेषणों के रूप सम्पूर्णतः अथवा अंशतः सार्वनामिक शब्द-रूप की तरह (**त** के समान, ४९५) चलते हैं और इनके स्त्रीलिंग शब्द आकारान्त होते हैं—इन विशेषणों में से कुछ तो सार्वनामिक मूलों से निष्पन्न हैं, अन्य अल्पाधिक मात्रा में प्रयोग की दृष्टि से सर्वनामों के अनुरूप। इस प्रकार :

५२३—सार्वनामिक प्रातिपदिकों से तरबन्त और तमबन्त शब्दों— उदाहरणस्वरूप **कत॑र** और **कत॑म**, **यत॑र** और **यत॑म**, तथा **इ॑तर**; साथ ही **अ॑न्य** दूसरा और इसका तरबन्त **अन्यत॑र**—के रूप बिलकुल **त** की तरह चलते हैं ।

अ—किन्तु इन शब्दों से भी विशेषण शब्दरूप के तुल्य बने रूप यदा-कदा उपलब्ध होते हैं (उदाहरणार्थ **इतरायाम्** काठक०) ।

आ—समास में **अन्य** का **अन्यत्** रूप कभी-कभी हो जाता है; यथा **अन्यत्काम, अन्यत्स्थान** ।

५२४—दूसरे शब्दों के रूप नपुं० प्र०-द्विती०-सं० को छोड़कर जहाँ सार्वनामिक **अत्** के स्थान में **अम्** वाला साधारण विशेषणरूप प्राप्त होता है अन्यत्र इसी प्रकार चलते हैं। **स॑र्व** सब, **वि॑श्व** सब, प्रत्येक **ए॑क** एक इस वर्ग के होते हैं ।

अ—ये भी निरपवाद नहीं हैं, कम-से-कम पूर्वतर काल की भाषा में (यथा **वि॑श्वाय**; **वि॑श्वात्** , **विश्वे** ऋ० वे०; **ए॑के** स० एक०, अ० वे०) ।

५२५—और भी अन्य शब्दों में सामान्यतः इस प्रकार की विधि लागू होती है अथवा उनके कुछ अर्थों में अथवा वैकल्पिक भाव से; किन्तु अन्य अर्थों में या ज्ञात नियम के बिना वे विशेषण रूपविधान में चले आते हैं।

अ—उपसर्गात्मक प्रातिपदिकों से बने तरबन्त और तमबन्त शब्द ऐसे ही होते हैं: **अ॑धर** और **अधम॑**, **अ॑न्तर** और **अ॑न्तम**, **अ॑पर** और **अपम॑**, **अ॑पर** और **अवम॑**, **उ॑त्तर** और **उत्तम॑**, **उ॑पर** और **उपम॑**। इनमें तमबन्तों की अपेक्षा तरबन्तों से सार्वनामिक रूप निश्चित रूप से अधिक होते हैं।

आ—पुनः, तमबन्त (अनुरूपी तरबन्तों के बिना) **परम॑**, **चरम॑**, **मध्य॑म**; और **अन्यतम** भी (जिसके सामान्य और तरबन्त शब्द प्रथम तिर्दिष्ट वर्ग के अन्तर्गत हैं; ५२३)।

इ—पुनः, शब्द **प॑र** दूर, दूसरा; **पू॑र्व** पहले, पूरब; **द॑क्षिण**, दाहिना, दक्खिन; **पश्चिम** पीछे, पच्छिम; **उभ॑य** (स्त्री० **उभ॑यी** या **उभयी॑**) दोनों प्रकारों या भागों का; **नेम** एक, आधा; और संबन्धबोधक **स्व॑**।

५२६—संख्याबोधक विशेषणों से सार्वनामिक शब्दरूप के कदाचित्क रूप उपलब्ध होते हैं; यथा—**प्रथम॑स्यास्**, **तृती॑यस्याम्**; तथा अनिश्चयात्मक संख्यालक्षण वाले अन्य शब्दों से : यथा—**अ॑ल्प** कुछ, **अर्ध॑** आधा; **के॑वल** सब; **द्वित॑य** दो प्रकारों का; **बा॑ह्य** बाहर प्रभृति। ऋ० वे० में **समान॑स्मात्** एक बार प्राप्त है।